4.4 V.H.P

विशिष्टाद्वैत-सम्मत प्रमेय मीमांसा

(दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

निर्देशक :
डॉ० वाचस्पति उपाध्याय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007

शोधकर्त्ता :
केदार प्रसाद परोहा

संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-110007
1993

विशिष्टाद्वैत-सम्मत प्रमेय मीमांसा

(दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

निर्देशक :
डॉ० वाचस्पति उपाध्याय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007

शोधकर्त्ता :
केदार प्रसाद परौहा

संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-110007
1993

विज्ञप्ति

'विशिष्टाद्वैत-सम्मत प्रमेय मीमांसा' शीर्षक शोध-प्रबन्ध प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, अध्यक्ष - संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय, दिल्ली के निर्देशन में लिखा गया है। शोधार्थी घोषित करता है कि यह शोध-प्रबन्ध उसका मौलिक प्रयास है और शोध-प्रबन्ध के रूप में इसका प्रस्तुतीकरण अथवा प्रकाशन, सम्पूर्णत: अथवा अंशत: कहीं नहीं हुआ है।

व० उपाध्याय
निर्देशक 30/11/93

केशव प्रसाद पोखरेल
शोधार्थी

व० उपाध्याय
विभागाध्यक्ष 30/11/93

कृतज्ञता-ज्ञापन

सौभाग्य से मुझे विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों के प्रति अगाध श्रद्धा और समर्पण-भाव सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण प्राप्त है। इस प्रस्थान के आचार्यों की महनीय परम्परा है जिसका भारतीय दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान माना गया है, इस परम्परा का विशेष रूप से अध्ययन एवं अध्यापन प्राय: दक्षिण देश तक ही सीमित रहा है। उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में इस परम्परा का उल्लेख प्राय: नगण्य है।

परन्तु दिल्ली विश्वविद्यालय की विभागीय शोध-परिषद् ने मुझे 'विशिष्टाद्वैत-सम्मत प्रमेय मीमांसा' पर शोध-कार्य करने की अनुमति देकर अनुगृहीत किया है। मैं परिषद् के सदस्यों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

शोध-प्रबन्ध लेखन के समय उत्तर अहोबिल मठाधीश श्री 1008 श्री स्वामी संकर्षण प्रपन्नाचार्य राजगुरु जी महाराज एवं श्री टाटम्बरी बाबा जी का आशीर्वाद प्राप्त होता रहा है। यह नित्यविभूति सम्पन्न श्रीमन्नारायण के चरणारविन्द की महान् कृपा का ही फल है।

अपने अपार स्नेह और वात्सल्य से निरन्तर संजीवनी का संचार करने वाले जनक जननी के चरणों में प्रणामाञ्जलि करने में अपना अहोभाग्य समझता हूं। शोध-प्रबन्ध के निर्देशक प्रात:स्मरणीय पूज्यपाद गुरुदेव, संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी, जिन्होंने इस दुरूह कार्य को पूर्ण करने में जो सुझाव व निर्देश दिये हैं, उनके प्रति नतमस्तक हूं।

अनुज कल्प चिरंजीव उदय शास्त्री का सहयोग मेरा सम्बल रहा है । परमपिता से उसके उज्ज्वल भविष्य की प्रार्थना करता हूं ।

विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के समस्त गुरुजनों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं । दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में कार्यरत श्री जंगबहादुर खन्ना जी का धन्यवाद करता हूं जिन्होंने ग्रन्थालय से समय-समय पर पुस्तकें देकर मेरी सहायता की है ।

अन्त में शोध-प्रबन्ध के टंकणकर्ता श्री जयकृष्ण पिपलानी के सहयोग के लिये आभारी हूं, जिन्होंने बड़ी निपुणता के साथ इसका टंकण कार्य सम्पन्न किया है ।

आशा करता हूं कि मेरा यह विनम्र प्रयास विशिष्टाद्वैत के दार्शनिक पक्ष को हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करने की दिशा में एक उपयोगी भूमिका निभायेगा ।

कार्तिक पूर्णिमा
वि० सं० 2050

-- केदार प्रसाद परोहा

प्राक्कथन

अनादि काल से अनवच्छिन्न रूप से प्रवहमान भारतीय चिन्तनधारा की चरम परिणति वेदान्त दर्शन में हुई परिलक्षित होती है । वेदान्त दर्शन के तीन प्रस्थान स्वीकार किए जाते हैं -- उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र । स्थूल रूप में हम इन्हें क्रमशः श्रुतिप्रधान, स्मृतिप्रधान एवं न्यायप्रधान प्रस्थान के रूप में स्वीकार कर सकते हैं । बादरायणकृत वेदान्तसूत्रों की अनेक आचार्यों ने व्याख्या कर अपने-अपने मतों का उपस्थापन किया है । इनमें पांच वाद सर्वाधिक प्रचलित हैं -- अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद ।

विशिष्टाद्वैतवाद, जिसके उद्भावक आचार्य होने का श्रेय श्री रामानुजाचार्य जी को है, वैष्णव सम्प्रदाय के मुख के रूप में स्वीकार किया जाता है 'विशिष्टं (सूक्ष्मचिद्विशिष्टं) च विशिष्टं (स्थूलं चिद्विशिष्टं) च इति विशिष्टे, विशिष्टायोः अद्वैतम् (एकस्मिन् ब्रह्मणि) इति विशिष्टाद्वैतम्' । अर्थात् चेतन और अचेतन विभाग विशिष्ट ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन विशिष्टाद्वैतवाद में किया गया है । इस मत का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि केवलाद्वैत में एक मात्र ब्रह्म को ही सत्य सिद्ध करने के लिए जगत् के मिथ्यात्व की स्थापना करनी पड़ी, विशिष्टाद्वैत के मत में ब्रह्म में तीन पदार्थों - जीव, जगत् और ईश्वर की समष्टि है । इस मत में शास्त्र-वाक्यों से निश्चित कर दिया गया है कि विश्व ब्रह्म में लीन है और ईश्वर विश्व में अन्तर्हित है, अतः बिना मिथ्या कल्पना के ही ब्रह्म का एकत्व प्रमाणित हो जाता है अर्थात् उपनिषदों में भिन्न शब्दों में

वर्णित यह जगत्कारण तत्व ईश्वर भिन्नता में न होकर एक ही है और वह एकमात्र तत्व नारायण है । वही इस सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र कारण है, जोकि अद्वैत वेदान्तियों के समान निर्गुण निर्विशेष न होकर सगुण है, क्योंकि सगुण ब्रह्म की उपासना से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । ईश्वर की प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती है । वह शास्त्रवेधक है अर्थात् शास्त्रों द्वारा जाना जाता है । ईश्वर या ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है ।

विशिष्टाद्वैतसम्मत प्रमेय मीमांसा शोध-प्रबन्ध का विषय है । विषय के स्पष्ट एवं विशद प्रतिपादन की दृष्टि से शोध-प्रबन्ध आठ अध्यायों में वर्गीकृत है । अध्यायों से पूर्व भूमिका प्रस्तुत की गई है जिसमें विशिष्टाद्वैत के प्रमुख आचार्यों एवं उनकी कृतियों का परिचय दिया गया है । वैष्णव-सम्प्रदायों में रामानुज के इस विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है । इस विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्राचीन पूर्ववर्ती विद्वान् मनीषी महर्षि है -- श्री बोधायन, आचार्य ब्रह्मनन्दी एवं श्री द्रमिडाचार्य जी महाराज । इनके ग्रन्थ क्रमशः शारीरक मीमांसाशास्त्रवृत्ति, वाक्य नामक छान्दोग्य व्याख्यान तथा वाक्य नामक छान्दोग्य व्याख्यानभाष्य । परवर्ती प्रमुख आचार्यों में क्रमशः नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, वेङ्कटनाथ (वेदान्तदेशिक), श्रीराम मिश्र, वरदाचार्य, श्रीनिवासाचार्य, लोकाचार्य, वेङ्कटाचार्य आदि हैं । इन महान् मूर्धन्य आचार्यों की प्रमुख कृतियां क्रमशः निम्नलिखित हैं -- न्यायतत्व - महापुरुष - निर्णय - संवित्सिद्धि - जीवसिद्धि, ईश्वरसिद्धि - आदि, श्रीभाष्य - गीताभाष्य - वेदार्थसंग्रह - वेदान्तसार आदि, तत्वटीका - शतदूषणी - तत्वमुक्ताकलाप - न्यायपरिशुद्धि - न्यायसिद्धाञ्जन आदि, षडर्थ संक्षेप - विवरणम् आदि, तत्वसार - यतीन्द्रमतदीपिका - अर्थपञ्चक - तत्वत्रय - वेदान्तकारिकावली ।

प्रथम अध्याय - में विशिष्टाद्वैत सम्मत प्रमेय तत्व का स्वरूप एवं परिगणन प्रस्तुत किया गया है । सामान्यत: प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के विषयों को प्रमेय कहते हैं, किन्तु दार्शनिक प्रकरण के अनुसार जिन प्रमा के विषयों के ज्ञान से निःश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति में सहायता प्राप्त होती है, उन प्रकृष्ट मेय = ज्ञेय को प्रमेय कहते हैं । सम्पूर्ण चिदचिद्रूपी विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म एक ही तत्व है । उसमें प्रकार-प्रकारी, विशेषण-विशेष्य तथा प्रकारों - विशेषणों में पारस्परिक अत्यन्त भेद रहने पर भी विशिष्ट एकत्व विवक्षित है । इसलिए विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में विशिष्टाद्वैत मात्र `प्रमेय` है । प्रमेय-तत्व के भेद के सम्बन्ध में अनेक मत उपलब्ध होते हैं । माध्वमत में भी पदार्थों की गणना इस प्रकार से की जाती है -- (1) द्रव्य, (2) गुण, (3) कर्म, (4) सामान्य, (5) विशेष, (6) शक्ति सादृश्य । इनके अतिरिक्त अंशी एवं विशिष्ट - ये दो नए पदार्थ माने हैं ।

`न्यायसिद्धाञ्जन` में आचार्य वेदान्त देशिक ने वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है, जो माध्वमतसम्मत विशिष्ट पदार्थ से अभिन्न प्रतीत होता है ।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में द्रव्यों की संख्या को छः प्रकार से विभक्त किया गया है -- (1) प्रकृति, (2) काल, (3) शुद्धसत्व = नित्यविभूति, धर्मभूत ज्ञान, (5) जीव और (6) ईश्वर ।

द्रव्य एवं अद्रव्य के अतिरिक्त पदार्थों का तीसरा प्रकार असंभावित है, इसीलिए सभी पदार्थ इन्हीं दो के अन्तर्गत हो जाते हैं । इस द्रव्य-अद्रव्य की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी स्वयमेव सिद्ध है । इसका किसी भी प्रकार से अपलाप नहीं हो सकता है । अतएव विशिष्टाद्वैत में `प्रमेय` के दो भेद - द्रव्य और अद्रव्य बताए गए हैं । जड़ और अजड़ भेद से द्रव्य भी दो प्रकार का होता है । प्रकृति और काल - ये जड़ द्रव्य हैं । अजड़

द्रव्य पराक् और प्रत्यक् भेद से दो प्रकार का है । नित्यविभूति और धर्मभूतज्ञान अजड़ पराक् द्रव्य हैं । जीव एवं ईश्वर - ये अजड़ प्रत्यक् तत्व हैं ।

अद्रव्य पदार्थ दस प्रकार के हैं -- (1) सत्व, (2) रज, (3) तम, (4) शब्द, (5) स्पर्श, (6) रूप, (7) रस, (8) गन्ध, (9) संयोग, (10) शक्ति ।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में अन्य मतावलम्बियों द्वारा उपस्थापित युक्तियों का प्रमाण पुरस्सर विवेचन करते हुए यथावसर खण्डन भी प्रस्तुत किया गया है ।

द्वितीय अध्याय - में प्रकृति-तत्व-निरूपण किया गया है, जिसमें प्रकृति लक्षण, एवं उसके भेद वर्णित हैं । सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति जगत् का मूल कारण है । यह महदादि तेईस (23) तत्वों की उत्पादिका है । इसकी सत्ता का अनुमान ही होता है क्योंकि यह इन्द्रियगोचर नहीं होती । अत: इसे अव्यक्त भी कहते हैं । सभी भौतिक तत्व इसमें निहित होते हैं, इसलिए इसे प्रधान भी कहते हैं । प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, जिसमें सत्व, रज एवं तम - तीनों गुण समभाव से अवस्थित होते हैं, गुणों की साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है । मन को सांख्य दर्शन में कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय - उभयात्मक माना गया है । इस मत का खण्डन करते हुए विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में मन को ज्ञानेन्द्रिय मात्र स्वीकार किया गया है तथा सांख्य सम्मत इन्द्रिय लक्षण में अप्राकृत इन्द्रियों का समावेश नहीं हो सकता अत: यहां इन्द्रियों का लक्षण सांख्य से विलक्षण है । इसके साथ ही तन्मात्रस्वरूप एवं तन्मात्रसृष्टि तथा पञ्चीकरण प्रक्रिया भी वर्णित है । इस प्रकार उपरिलिखित गुण-विषयक सिद्धान्त की मीमांसा तत्तत् सम्प्रदायों के अनुसार करते हुए विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की उपस्थापना की

गई है ।

तृतीय अध्याय - में जड़ द्रव्य काल का निरूपण किया गया है । इसमें काल का लक्षण, काल एवं अकाल सिद्धान्त का विवेचन, खण्डकाल एवं अखण्ड काल आदि का वर्णन किया गया है । अकाल तत्व का वैशिष्ट्य यह है कि काल नित्य है एवं अनादि है क्योंकि कोई भी प्रत्यय जिसमें काल की उत्पत्ति के विषय में विचार किया जाय, काल की पूर्व की कल्पना के बिना संभव नहीं है । कल्प के अन्त में भी काल रहता है । कुछ दार्शनिक काल को अनित्य मानते हैं । तृतीय अध्याय में काल के विषय में अन्य सम्प्रदायों की अवधारणाओं का भी प्रमाण पुरस्सर संक्षिप्त निरूपण इस उद्देश्य से किया गया है कि काल-संबंधी विशिष्टाद्वैत का वैशिष्ट्य एवं उसकी उपादेयता सुगम हो जाय ।

चतुर्थ अध्याय - में अजड़-द्रव्य नित्य विभूति का प्रतिपादन है । जो द्रव्य स्वयं प्रकाशित होने की क्षमता रखते हैं, वे अजड़ द्रव्य कहलाते हैं । अजड़ द्रव्य में प्रत्यक् और पराक् - दो भेद हैं । पराक् अजड़ द्रव्य में ही नित्य विभूति को अन्तर्निहित किया गया है । नित्यविभूति श्रीभगवान् के वैकुण्ठधाम को कहते हैं । नित्यविभूति को शुद्धसत्व भी कहा जाता है । प्रकृति के सत्व गुण से इसके विभेद का कारण यह है कि जहां प्रकृति का सत्वगुण रजोगुण एवं तमोगुण से मिश्रित है, वहीं नित्यविभूति के सत्वगुण में रज या तमोगुण का संस्पर्शमात्र भी नहीं है । नित्य विभूति के प्रतिपादन का प्रमुख उद्देश्य यही है कि इस तत्व को समझने वाला साधक अपने प्राप्तव्य तक सहज भाव से पहुंच सकता है ।

पञ्चम अध्याय - में धर्मभूत ज्ञान का स्वरूप, लक्षण एवं भेद, भक्ति व प्रपत्ति स्वरूप वर्णित । विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में बुद्धि अथवा ज्ञान को

धर्मभूत ज्ञान कहते हैं । चूंकि आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है अत: ज्ञान को आत्मा का धर्म होने के कारण धर्मभूत ज्ञान कहा जाता है । इस मत में ज्ञान के अवस्थाश्रयी होने के कारण इसे द्रव्य माना जाता है और यह अवस्थाश्रयत्व ही द्रव्य का असाधारण धर्म है । इसीलिए धर्मभूत ज्ञान गुणात्व एवं द्रव्यत्व दोनों धर्मों से सम्पृक्त है । सुखदु:खादि इसके अवस्था-विशेष हैं, नैयायिकाभिमत - आत्मा के गुण नहीं । धर्मभूतज्ञानविषयक चर्चा के प्रसंग में ज्ञान लक्षण, ज्ञान की द्रव्यत्व-सिद्धि, ज्ञान के संकोच एवं विकास का अभिप्राय, ज्ञान का संकोच ही नाश है - विकास ही उत्पत्ति है, ज्ञान का स्वयंप्रकाशत्व, ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य, नैयायिक, वैशेषिक तथा भाट्टमीमांसक-सम्मत ज्ञान के परप्रकाशत्व की स्थापना तथा उसका खण्डन, इनके ही अनुमेयवाद की स्थापना उसका खण्डन तथा विशिष्टाद्वैतसम्मत विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है ।

षष्ठ अध्याय - में जीव-स्वरूप पर विचार किया गया है । यह अजड़-द्रव्य के प्रत्यक् भाव से इसका संबंध है । वेदान्त-देशिक के अनुसार जीव अल्प परिमाण वाला ज्ञाता तथा शेष रूप है । वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं प्राण से भिन्न अनन्त, आनन्दरूप, नित्यज्ञानरूप तथा अहमर्थ प्रत्यय का वाच्य है । अर्थात् जीवात्मा अपने लिए सदैव अहमहम् इस रूप में प्रकाशित होता है । सांख्य एवं नैयायिकों के ही समान वेदान्त-देशिक ने भी जीव के अनेकत्व का प्रतिपादन किया है । विशिष्टाद्वैत मत में जीव परमात्मा का स्वभावत: शेष है, नियाम्य एवं धार्य होते हुए चेतन है । आत्मा ज्ञाता है, ज्ञान मात्र नहीं -- `ब्रह्मसूत्र` का `ज्ञोऽत एव`-- सूत्र भी इसकी पुष्टि करता है । यहां आत्मा में स्थिरता, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, स्वयंप्रकाशत्व, नित्यत्व, नानात्व एवं अणुत्व की सिद्धि की गई है । जीव व ब्रह्म के सम्बन्ध के अन्तर्गत विशिष्टाद्वैत के प्रमुख सिद्धान्त `शरीर-शरीरी` सम्बन्ध की उपयोगिता एवं शास्त्रसम्पन्नता दिखाते हुए जीव-ब्रह्मैक्यवाद

का खण्डन किया गया है ।

सप्तम अध्याय - में ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है । विशिष्टाद्वैत दर्शन में ईश्वर, नारायण, परब्रह्म, परमात्मा, श्रीभगवान् - समानार्थक स्वीकार किए जाते हैं । ये अर्थपञ्चक विज्ञान को मानते हैं । इस मत में ईश्वर के पांच रूप -- पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार -- स्वीकृत हैं । पररूप से श्रीभगवान् नित्य वैकुण्ठ में अपनी पत्नियों तथा परिजनों के साथ निवास करते हैं । सृष्टि के संचालनार्थ वे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध -- इन चतुर्व्यूहरूपों को धारण करते हैं । इसके अतिरिक्त इस अध्याय में ईश्वर उपादाननिमित्तादि का निरीक्षण किया गया है । पुन: प्रकृत संदर्भ में अद्वैत वेदान्त मत विचार, विशिष्टाद्वैतसम्मतनारायणस्वरूपविमर्श एवं सगुण-निर्गुण तत्व-निरूपण प्रस्तुत किए गए हैं ।

शोध-प्रबन्ध का अष्टम अध्याय - अद्रव्य-निरूपण को समर्पित है । संयोग-रहित पदार्थ अद्रव्य कहलाता है । इसके दस भेद हैं -- सत्व, रजस्, तमस्, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संयोग तथा शक्ति । इनमें से पांच अद्रव्य पदार्थ पञ्चमहाभूतों के शब्दादि गुण हैं, तीन सत्व, रजस् एवं तमस् -- अचित् अर्थात् प्रकृति में पाए जाते हैं । नैयायिकों एवं वैशेषिकों की दृष्टि से विशिष्टाद्वैतसम्मत अद्रव्य विभाग सर्वथा भिन्न है । प्रबल युक्ति एवं शास्त्र दृष्टान्तों के आधार पर यहां शक्ति की स्थापना की गई है । यहाँ नैयायिकों द्वारा स्वीकृत चौबीस गुणों का अन्तर्भाव संयोगादि में ही हो जाता है । विशिष्टाद्वैताभिमत पाकज प्रक्रिया जो न्याय-वैशेषिक प्रक्रिया से विलक्षण है, का निरूपण इसी अध्याय में हुआ है, जिसके अन्तर्गत यह प्रदर्शित किया गया है कि पाक के द्वारा पृथिवी में स्वाभाविक रूपों के अवान्तर भेदों की उत्पत्ति होती है । अर्थात् पाक के द्वारा अपने आश्रय

धर्मभूत ज्ञान कहते हैं। चूंकि आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है अत: ज्ञान को आत्मा का धर्म होने के कारण धर्मभूत ज्ञान कहा जाता है। इस मत में ज्ञान के अवस्थाश्रयी होने के कारण इसे द्रव्य माना जाता है और यह अवस्थाश्रयत्व 'ही द्रव्य का असाधारण धर्म है। इसीलिए धर्मभूत ज्ञान गुणात्व एवं द्रव्यत्व दोनों धर्मों से सम्पृक्त है। सुखदु:खादि इसके अवस्था-विशेष हैं, नैयायिकाभिमत - आत्मा के गुण नहीं। धर्मभूतज्ञानविषयक चर्चा के प्रसंग में ज्ञान लक्षण, ज्ञान की द्रव्यत्व-सिद्धि, ज्ञान के संकोच एवं विकास का अभिप्राय, ज्ञान का संकोच ही नाश है - विकास ही उत्पत्ति है, ज्ञान का स्वयंप्रकाशत्व, ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य, नैयायिक, वैशेषिक तथा भाट्टमीमांसक-सम्मत ज्ञान के परप्रकाशत्व की स्थापना तथा उसका खण्डन, इनके ही अनुमेयवाद की स्थापना उसका खण्डन तथा विशिष्टाद्वैतसम्मत विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

षष्ठ अध्याय - में जीव-स्वरूप पर विचार किया गया है। यह अजड़-द्रव्य के प्रत्यक् भाव से इसका संबंध है। वेदान्त-देशिक के अनुसार जीव अल्प परिमाण वाला ज्ञाता तथा शेष रूप है। वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं प्राण से भिन्न अनन्त, आनन्दरूप, नित्यज्ञानरूप तथा अहमर्थ प्रत्यय का वाच्य है। अर्थात् जीवात्मा अपने लिए सदैव अहमहम् इस रूप में प्रकाशित होता है। सांख्य एवं नैयायिकों के ही समान वेदान्त-देशिक ने भी जीव के अनेकत्व का प्रतिपादन किया है। विशिष्टाद्वैत मत में जीव परमात्मा का स्वभावत: शेष हैं, नियाम्य एवं धार्य होते हुए चेतन है। आत्मा ज्ञाता है, ज्ञान मात्र नहीं -- `ब्रह्मसूत्र` का `ज्ञोऽत एव`-- सूत्र भी इसकी पुष्टि करता है। यहां आत्मा में स्थिरता, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, स्वयंप्रकाशत्व, नित्यत्व, नानात्व एवं अणुत्व की सिद्धि की गई है। जीव व ब्रह्म के सम्बन्ध के अन्तर्गत विशिष्टाद्वैत के प्रमुख सिद्धान्त `शरीर-शरीरी` सम्बन्ध की उपयोगिता एवं शास्त्रसम्मतता दिखाते हुए जीव-ब्रह्मैक्यवाद

का खण्डन किया गया है ।

सप्तम अध्याय - में ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है । विशिष्टाद्वैत दर्शन में ईश्वर, नारायण, परब्रह्म, परमात्मा, श्रीभगवान् - समानार्थक स्वीकार किए जाते हैं । ये अर्थपञ्चक विज्ञान को मानते हैं । इस मत में ईश्वर के पांच रूप -- पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार -- स्वीकृत हैं । पररूप से श्रीभगवान् नित्य वैकुण्ठ में अपनी पत्नियों तथा परिजनों के साथ निवास करते हैं । सृष्टि के संचालनार्थ वे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध -- इन चतुर्व्यूहरूपों को धारण करते हैं । इसके अतिरिक्त इस अध्याय में ईश्वर उपादाननिमित्तादि का निरीक्षण किया गया है । पुनः प्रकृत संदर्भ में अद्वैत वेदान्त मत विचार, विशिष्टाद्वैतसम्मतनारायणस्वरूपविमर्श एवं सगुण-निर्गुण तत्व-निरूपण प्रस्तुत किए गए हैं ।

शोध-प्रबन्ध का अष्टम अध्याय - अद्रव्य-निरूपण को समर्पित है । संयोग-रहित पदार्थ अद्रव्य कहलाता है । इसके दस भेद हैं -- सत्व, रजस्, तमस्, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संयोग तथा शक्ति । इनमें से पांच अद्रव्य पदार्थ पञ्चमहाभूतों के शब्दादि गुण हैं, तीन सत्व, रजस् एवं तमस् -- अचित् अर्थात् प्रकृति में पाए जाते हैं । नैयायिकों एवं वैशेषिकों की दृष्टि से विशिष्टाद्वैतसम्मत अद्रव्य विभाग सर्वथा भिन्न है । प्रबल युक्ति एवं शास्त्र दृष्टान्तों के आधार पर यहां शक्ति की स्थापना की गई है । यहां नैयायिकों द्वारा स्वीकृत चौबीस गुणों का अन्तर्भाव संयोगादि में ही हो जाता है । विशिष्टाद्वैताभिमत पाकज प्रक्रिया जो न्याय-वैशेषिक प्रक्रिया से विलक्षण है, का निरूपण इसी अध्याय में हुआ है, जिसके अन्तर्गत यह प्रदर्शित किया गया है कि पाक के द्वारा पृथिवी में स्वाभाविक रूपों के अवान्तर भेदों की उत्पत्ति होती है । अर्थात् पाक के द्वारा अपने आश्रय

में ही गुणान्तर की उत्पत्ति होती है । इसी अध्याय में शक्ति-निरूपण भी किया गया है ।

अन्त में उपसंहार अंश में जिन ग्रन्थों के आश्रय से शोध-प्रबन्ध की पूर्णता संभव हुई है, उन सभी सिद्धान्त ग्रन्थों, प्रकरण ग्रन्थों, आलोचक एवं समालोचक ग्रन्थों की संदर्भ-सूची संलग्न की गई है ।

0

विषयानुक्रमणी

कृतज्ञता-ज्ञापन .. .. .. (अ)-(आ)

प्राक्कथन .. .. .. (इ)-(ई)

विषयानुक्रमणी .. .. .. (उं)-(ग)

भूमिका 1-52

(1) विशिष्टाद्वैतवाद के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय

(2) प्रमेय प्रतिपादित विशिष्टाद्वैतवाद के प्रमुख ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

1. प्रथम अध्याय : प्रमेय स्वरूप मीमांसा की पृष्ठभूमि .. 53-68

1.1 विशिष्टाद्वैतसम्मत प्रमेय निरूपण

1.2 प्रमेय लक्षण

1.3 द्रव्य लक्षण

1.4 द्रव्य का जड़ाजड़ विभाग

2. द्वितीय अध्याय : विशिष्टाद्वैत सम्मत प्रथम जड़ भेद - प्रकृति स्वरूप विश्लेषण .. 69-108

2.1 प्रकृति लक्षण अथवा असाधारण धर्म निर्वचन

2.2 प्रकृति भेद विचार

2.2.1 सांख्य दर्शन सम्मत महत्तत्व निदर्शन

2.2.2 अहंकार निरूपण

2.2.3 इन्द्रिय विभाग - तन्मात्र पञ्चक

2.2.4 तन्मात्र सृष्टि - पञ्चीकरण प्रक्रिया

2.3 प्रकृति स्वरूप विश्लेषण

3. तृतीय अध्याय : काल स्वरूप विचार का प्रसिद्ध दर्शन प्रस्थानों में उपलब्ध काल विषयक चिन्तन 69-151

3.1 काल लक्षण

3.2 काल एवं अकाल सिद्धान्त विवेचन

3.2.1 खण्ड काल

3.2.2 अखण्ड काल

3.2.3 काल एवं अकाल तत्व का वैशिष्ट्य

3.2.4 काल

3.2.5 अकाल

3.2.6 काल का प्रत्यक्षत्व

3.3 काल विभाजन प्रयोजन विचार

3.4 प्रलय के प्रकार एवं विशिष्टता

3.4.1 नित्य

3.4.2 नैमित्तिक

3.4.3 प्राकृत

4. चतुर्थ अध्याय : नित्य विभूति स्वरूप विशिष्टाद्वैत सम्मत 152-200

4.1 नित्यविभूति लक्षण

4.1.1 नित्यविभूति विषयक प्रमाण

4.1.2 नित्यविभूति के विभिन्न नाम

4.2 अवतारवाद रहस्य विचार

4.3 चतुर्व्यूह विचार

4.4 रामानुज सम्प्रदाय में वैकुण्ठधाम लीला वर्णन

5. पञ्चम अध्याय : विशिष्टाद्वैत सम्मत धर्मभूत ज्ञान विश्लेषण 201-240

5.1 धर्मभूत ज्ञान का लक्षण

5.2 ज्ञान की द्रव्यत्वसिद्धि

5.3 ज्ञान विषयक अवधारणा विमर्श

5.3.1 ज्ञान के संकोच और विकास का अभिप्राय

5.3.2 ज्ञान का संकोच ही नाश है विकास ही उत्पत्ति है

5.4 ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व

5.4.1 नैय्यायिक सम्मत ज्ञान

5.4.2 वैशेषिक सम्मत ज्ञान

5.4.3 भाट्टमीमांसक सम्मत ज्ञान

5.4.4 विशिष्टाद्वैत सम्मत ज्ञान

5.5 प्रपत्ति रहस्य चिन्तन

6. षष्ठ अध्याय : विशिष्टाद्वैत सम्मत - न्यायसिद्धाञ्जन- यतीन्द्रमतदीपिका - वेदान्तकारिकावली के परिप्रेक्ष्य में अजड़ के अन्तर्गत जीव का विचार .. 241-322

6.1 जीव लक्षण

6.2 आत्म विषयक विभिन्न मतवाद परीक्षण

6.2.1 देहात्मवाद

6.2.2 इन्द्रियात्मवाद

6.2.3 मन आत्मवाद

6.2.4 प्राणात्मवाद

6.2.5 ज्ञानात्मवाद

6.3 जीवात्मविषयक विभिन्न अवधारणायें विशिष्टाद्वैत के आलोक में

6.3.1 जीवात्म स्वयंप्रकाशत्व

6.3.2 नित्यत्व

6.3.3 अनेकत्व

6.3.4 अणुत्व

6.3.5 जीव का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व

6.4 विशिष्टाद्वैत सम्मत जीव ब्रह्मैक्यवाद-परमत खण्डन पुरस्सर सिद्धान्त पक्ष स्थापन

6.5 प्रमुख प्रस्थान सम्मत आत्मवाद निरूपण

6.5.1 न्याय दर्शन में आत्मा

6.5.2 वैशेषिक दर्शन में आत्मा

6.5.3 सांख्य दर्शन में आत्मा

6.5.4 अद्वैत वेदान्त में आत्मा

6.6 विशिष्टाद्वैतवाद स्थापन

7. सप्तम अध्याय : विशिष्टाद्वैतसम्मत ईश्वरवाद .. 323-379

7.1 प्रमुख प्रस्थान प्रदर्शित ईश्वर विषयक अवधारणाओं का निरूपण

7.1.1 ईश्वर लक्षण

7.2 ईश्वर उपादान निमित्तवादि का निरीक्षण

7.3 अद्वैत वेदान्त मत विचार

7.4 विशिष्टाद्वैत मत में नारायण स्वरूप विचार

7.5 सगुण निर्गुण तत्व निरूपण

8. अष्टम अध्याय : विशिष्टाद्वैत सम्मत अद्रव्य निरूपण .. 380-419

8.1 अद्रव्य लक्षण

8.1.1 अद्रव्य विभाग

8.2 गुणत्रय स्वरूप निरूपण

8.3 शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध सामान्य-परिचय

8.4 संयोग संज्ञक अद्रव्य निरूपण

8.5 शक्ति निरूपण

उपसंहार 420-436

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची 437-444

0

भूमिका

भारतीय दर्शन की चिन्तन परम्परा

भारतीय दर्शन का उद्भव ही वास्तविक तत्व के सर्वाङ्गपूर्ण उपपादन और क्रमबद्ध विवेचन के लिए हुआ है । भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता यह है कि चार्वाक को छोड़कर इसके सभी आस्तिक एवं नास्तिक सम्प्रदायों ने नि:श्रेयस को मानव जीवन का परम पुरुषार्थ माना है ।[1]

जहां तक भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का प्रश्न है, वैदिक प्रामाण्य को लेकर उसका आस्तिक एवं नास्तिक दो मुख्य धाराओं में विभाजन हुआ । न्याय, वैशेषिक सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ये षड्दर्शन आस्तिक माने गये,[2] चार्वाक, जैन, एवं बौद्ध, वैदिक प्रामाण्य को स्वीकार न करने के कारण नास्तिक दर्शन कहलाये । बौद्ध के माध्यमिक सौत्रान्तिक, योगाचार एवं वैभाषिक चार सम्प्रदायों को मिलाकर बहु-

----

1. (क) `परलोक: अस्तितियस्य मतिरस्ति स आस्तिक:
तद्विपरीतो नास्तिक: ।`
-- काशिका, पाणिनि, 4.4.60

(ख) `नास्तिको वेदनिन्दक: ।`
--मनुस्मृति, 2.11

2. `अक्षपाद: कणादश्च कपिलो जैमिनिस्तथा
व्यास: पतञ्जलिश्चैते वैदिका: सूत्रकारका: ।`
--सर्वदर्शनसंग्रह, उपो0, पृ0 23

नास्तिक दर्शन स्वीकार किये गये ।[1]

परतत्त्व के सम्यक् अनुशीलन के लिए सभी सम्प्रदायों का अध्ययन उपादेय है । इन सभी दर्शनों में वेदान्त दर्शन सर्वोपरि है । यह प्रस्थानत्रयी - उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्म सूत्र पर आधारित है । वस्तुत: वेदान्त में वेदों का अन्तिम लक्ष्य निहित है, क्योंकि वेद के मूलभूत सिद्धान्तों का उपनिषदों ने दार्शनिक शैली में, भगवद्-गीता ने नैतिक शैली में और ब्रह्म सूत्र ने तार्किक शैली में प्रतिपादन किया है । ब्रह्म सूत्रों में उपनिषदों के विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों को समन्वित एवं सुनियोजित रूप में प्रस्तुत किया गया है । पांच सौ पचपन सूत्रों में निबद्ध ब्रह्मसूत्र इतना सारगर्भित है कि इसके आधार पर विभिन्न वेदान्ताचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का निर्माण एवं पोषण किया है ।[2] अधोलिखित तालिका प्रदर्शित वेदान्त के सम्प्रदायों ने ब्रह्मसूत्र की सर्वोच्च प्रामाणिकता स्वीकार की है, और उन पर भाष्यों

----

1. ते च माध्यमिक योगाचार सौत्रान्तिक वैभाषिकसंज्ञाभि:
   प्रसिद्धा बौद्धा: ।

   -- सर्वदर्शनसंग्रह, पृ0 31

2. (क) `ब्रह्मसूच्यते यथायथं निरूप्यते येन तत् ब्रह्मसूत्रम् ।`

   --श्रीभाष्य, भूमिका, पृ0 2.

   (ख) हिन्दी विश्व कोष, खण्ड-22, पृ0 184.

   (ग) रामानुजं श्री: स्वीचक्रे मध्वाचार्यश्चतुर्मुख: ।
   श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुस्सन: ।।

   पृ0 रत्न0, पृ0 2

का प्रणयन कर अपने सिद्धान्तों को सुदृढ़ किया है ।[1]

वेदान्त

अद्वैत	द्वैत	विशिष्टाद्वैत	शुद्धाद्वैत	द्वैताद्वैत	अचिन्त्य भेदाभेदवाद
शंकर	मध्व	रामानुज	वल्लभ	निम्बार्क	बलदेव विद्याभूषण
शंकरभाष्य	पूर्णप्रज्ञभाष्य	श्रीभाष्य	अणुभाष्य	वेदान्त-पारिजात सौरभ	गोविन्द-भाष्य

इस प्रकार वेदान्त के इन विभिन्न सम्प्रदायों के विकास का आधार जीव और ब्रह्म का आपसी सम्बन्ध है ।

ब्रह्मसूत्र

अनन्त वेद राशि का ऋगादि चार वेदों में विभाजन करने वाले महर्षि व्यास ने ईसापूर्व तीसरी शताब्दि में सारगर्भित एवं विद्वत्तापूर्ण सूत्र शैली में वेदान्त दर्शन की व्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत की, जिसे ब्रह्मसूत्र

----

1. पदच्छेदः पदार्थोक्तिः विग्रहो वाक्य योजना ।
   आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पंच लक्षणम् ।।
   -- श्रीभाष्य, 1.1.1, पृ० 2

कहा जाता है ।[1] आचार्य रामानुज के अनुसार उपनिषद्रूप क्षीर समुद्र का मन्थन करके, व्यास जी ने ब्रह्मसूत्र या शारीरिक मीमांसा दर्शन रूप वाक्यसुधा प्रकट की ।[2] गूढ़ार्थ संक्षिप्त शैली में विरचित होने के कारण सूत्रों पर भाष्य लिखकर सभी वेदान्ताचार्यों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उनका सिद्धान्त ही ब्रह्मसूत्रकार का इष्ट सिद्धान्त है । इन भाष्यकारों में से शंकराचार्य एवं श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

आचार्य शंकर के अनुसार जीव और ब्रह्म में वस्तुत: अद्वैत है । जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष है, और नानात्मक जगत् असत्य है ।[3]

रामानुजाचार्य ने शास्त्रीय उद्धरणों एवं प्रबल युक्तियों से शंकराचार्य

----

1. (अ) 'विव्यास वेदान् यस्मात्स तस्माद् व्यास इति स्मृत: ।'
-- महाभारत, आदि पर्व, 63.88

(ब) 'अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्, अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदु: ।'
-- श्रीभाष्य, भूमिका, पृ० 2.

2. 'पाराशर्यवच: सुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योद्धृताम् ।।'
--श्रीभाष्य, भूमिका, पृ० 2.

3. 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर: ।'
-- ब्रह्मज्ञानावलीमाला, पृ० 1.

के निर्विशेष ब्रह्म, माया कल्पित ब्रह्माण्ड एवं जीव ब्रह्मैक्य का खण्डन किया है। उनके अनुसार ब्रह्म, चित्-जीव, अचित - प्रकृति विशिष्ट अद्वैत है। ब्रह्म समस्त कल्याणगुणाकर एवं प्राकृत हेय गुण रहित है।

जीव ब्रह्म का अंश है। जीव ब्रह्म में तारतम्य नहीं है अपितु अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है, जिसे विशिष्टाद्वैत में `शरीर-शरीरीभाव` सम्बन्ध की संज्ञा प्रदान की है।

विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैत विश्वविख्यात दर्शन है। यह विद्वत् समाज एवं जनसाधारण दोनों को प्रिय है, क्योंकि इसमें धर्म और तर्क दोनों सम्मिलित हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट शास्त्र सम्मत सिद्धांतों के कारण यह दर्शन वेदान्त में मूर्धन्य स्थान अधिकृत किये हुये है। विशिष्टाद्वैत के बिना वेदान्त अधूरा है। विशिष्टाद्वैत का निर्वचन दो प्रकार से किया जाता है --

1. विशिष्टस्य अद्वैतम् -- इसके अनुसार चित् `जीव` अचित् - `प्रकृति` से विशिष्ट ब्रह्म का एकत्व या अद्वैत अभिप्रेत है।

2. विशिष्टयो: अद्वैतम् -- सूक्ष्मचिद्विशिष्टं स्थूल चिद्विशिष्टं च इति विशिष्टयो: अद्वैतम्।

प्रथम परिभाषा के अनुसार ईश्वर चित् एवं अचित् इन दो तत्वों से विशिष्ट होता है, परन्तु ईश्वर प्रधान है तथा चित् एवं

अचित् दोनों ईश्वर के आधीन हैं।[1] ईश्वर नियामक है और जीव नियाम्य। ईश्वर शेषी है और जीव एवं जगत् गौण होने के कारण शेषी। ब्रह्म आधार है, जीव आधेय। जीव पूर्णतया ईश्वर पर आश्रित है तथा ईश्वर की शरण में गये बिना जीव का कल्याण नहीं।

द्वितीय परिभाषा के अनुसार जब प्रलयावस्था में जीव एवं जगत् सूक्ष्म रूपापन्न होते हैं तब ईश्वर इनकी सूक्ष्मावस्था अपने में धारण कर लेता है।[2] ऐसी अवस्था में ईश्वर सूक्ष्मचिद् चिद्विशिष्ट रहता है। इस स्थिति में इसे 'कारणावस्थब्रह्म' कहते हैं। इसी प्रकार सृष्टि काल में स्थूल रूप धारण करने पर 'स्थूलचिद्चिद्विशिष्ट' होकर ईश्वर कार्यावस्थ ब्रह्म कहलाता है।

----

1. 'अशेष चिद्चिद्प्रकारं ब्रह्मैकमेवतत्वम्। तत्र प्रकार प्रकारिणोः प्रकाराणां च मिथोऽत्यन्तभेदे पि विशिष्टैक्यादि विवक्षायैकत्व-व्यपदेशः।'

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, वाराणसी, पृ० 2

2. (अ) 'अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ह्येवकार्यं, कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकं ब्रह्मैवकारणमिति।'

-- श्रीभाष्य, श्रुतिप्रकाशिका, पृ० 213

(ब) 'उत्तरत्र कार्यावस्थः कारणावस्थश्च परमात्मा एक एवेति भाष्येणइदमेव वाक्यं कार्यकारणद्रव्यैक्यप्रतिपादन परमित्यादि व्याख्यतम्।।'

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, सुदर्शन टीका, पृ० 1317

विशिष्टाद्वैत नामकरण

आचार्य रामानुज द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का `विशिष्टाद्वैत` अभिधान न तो रामानुज ने स्वयं प्रयुक्त किया और न ही उनके परवर्ती वरदनारायण भट्टारक 1150 ई0 एवं वेदान्त देशिक 1268 ई0 ने प्रयोग किया। विशिष्टाद्वैत शब्द का प्रथम प्रयोग सुदर्शनसूरि 1300 ई0 ने श्रीभाष्य की व्याख्या `श्रुतिप्रकाशिका` और `वेदार्थसंग्रह` की व्याख्या `तात्पर्यदीपिका` में किया। सुदर्शन सूरि द्वारा प्रयुक्त विशिष्टाद्वैत शब्द से उसके परवर्ती विद्वान् अत्यन्त प्रभावित हुये, परन्तु फिर भी उनके परवर्ती मेघनादारि ने अपने दर्शन को `विशिष्टाद्वैत` नाम प्रदान नहीं किया। सोलहवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में भट्टाचार्य, श्रीनिवासदास और वुच्चि वेंकटाचार्य की कृतियों में रामानुज सिद्धान्त[1] का `विशिष्टाद्वैत` नामकरण संस्कार किया गया।

विशिष्टाद्वैत के प्रमुख सिद्धान्त

विशिष्टाद्वैत ने चित्, अचित् एवं ईश्वर इन तीन तत्वों को स्वीकार किया है। चित् का अभिप्राय भोक्ताजीव से, अचित्

----

1. (क) `श्रीमन्नारायण एवं चिदचिद्विशिष्टाद्वैततत्त्वम्।`
   --यतीन्द्रमतदीपिका, आनंदाश्रम, पृ0 2

   (ख) `तदेवं विशिष्टाद्वैतमिति पदस्यैषोऽर्थः पर्यवसन्नः विशिष्टस्य अशेषचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः अद्वैतमैक्यंविशिष्टाद्वैतमिति।`
   -- वेदान्तकारिकावली, उपोद्घात, पृ0 2

का भोग्य जगत् से तथा ईश्वर का अभिप्राय अन्तर्यामी परमेश्वर से है। चित् और अचित् ईश्वर का शरीर है और ईश्वर चित् अचित् की आत्मा है। ईश्वर एवं चित् - अचित् में `शरीर-शरीरीभावसम्बन्ध` है जो उपनिषदों पर आधारित है। चित् और अचित् की सत्ता स्वीकार करने पर भी ईश्वर के `एकत्व` एवं `अद्वयत्व` की हानि नहीं होती क्योंकि भेद की दृष्टि से तत्व तीन हैं परन्तु अभेद के विचार से तत्व एक ही है, वह है चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म।[1]

संक्षेपत: - विशिष्टाद्वैत के मूलभूत सिद्धान्तों को निम्न रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है --

1. जगत् का सत्यत्व, सत्योपादानकत्व।

2. सृष्टि के लिए किसी भी प्रकार की उपाधि, माया, अविद्या, अध्यास आदि का अस्वीकार।

3. ब्रह्म की पारमेश्वर्यशक्ति के रूप में माया का स्वीकार।

4. जीव का स्वाभाविक रूप से ज्ञान स्वरूपत्व, नित्यत्व, अणुत्व, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ब्रह्मवश्यत्व एवं संख्या में बहुत्व।

----

1. सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैव अवस्थितमिति, अभेद: समर्थित:, एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचिद्वस्तुप्रकार नानात्वेन अवस्थितं इति भेदाभेदौ, अचिद्वस्तुनश्च चिद्वस्तुनश्च, ईश्वरस्य च स्वरूप स्वभावैलक्षण्यात् असङ्कराच्च भेद: समर्थिता: ।।

--वेदार्थसंग्रह, पृ० ९०

5. ब्रह्म का परमार्थत: सविशेषत्व, निर्दोषत्व, सर्वकल्याण गुण सम्पन्नत्व, परमेश्वरत्व, जगत्कर्तृत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वान्तर्यामित्व, मोक्षप्रदत्व, उपास्यत्व, मुक्तिप्राप्यत्व एवं विशिष्ट-द्रव्यरूप सम्पन्नत्व ।

6. दिव्यलोक में भगवान् के नित्यकैंकर्य की प्राप्ति ही सर्वोत्तम मोक्ष ।

7. भक्ति या शरणागति ही उस मोक्ष का सर्वोत्तम उपाय ।

8. कर्म, ज्ञान और योग आदि भक्ति के अंग ।

इस तरह स्पष्ट है कि विशिष्टाद्वैत प्राचीनतम सिद्धान्त है । इसके सभी प्रमेय पूर्ण वैदिक हैं, जिनका महर्षि कण्व, बोधायन, आपस्तम्ब, व्यास, पराशर, मनु, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य, एवं गौतम ने विविध विधि-वर्णन किया है ।

आचार्य शंकर से पूर्व विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त भली-भांति प्रचलित एवं प्रसारित थे, इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि शंकराचार्य ने जीव को सत्य स्वीकार करने वाले सिद्धान्त का उल्लेख अपने ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के तीसरे पाद के पन्द्रहवें सूत्र के भाष्य में किया है । उन्होंने `अस्मदीय` शब्द द्वारा विशिष्टाद्वैत वेदान्त को आदरपूर्वक स्मरण किया है ।[1]

----

1. त्रय्यन्तै: एककण्ठै: तदनुगण मनुव्याससमुन्योक्तिभिश्च ।
श्रीमन्नारायणो न पतिरखिलतनु: मुक्तिद:मुक्तभोग्य: ।।
--रहस्यसार:, परदेवता, परमार्थ्याधिकार, पृ0 1.

पा चरात्र संहिताओं का विशिष्टाद्वैत चिन्तन पर प्रभाव

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के पूर्ववर्ती प्रमुख आचार्य यामुन मुनि ने पा चरात्र के प्रामाण्य की स्थापना करने का प्रयास करते हुए `आगमप्रामाण्य` नामक ग्रन्थ लिखकर पा चरात्र के महात्म्य की सिद्धि की है। श्रीरामानुजाचार्य ने भी श्रीभाष्य के पा चरात्राधिकरण की व्याख्या खण्डनपरक न करके मण्डनपरक ही की है। आचार्य शंकर के द्वारा भी पाञ्चरात्रआगम में उद्भावित दोषों का परिहार ही किया गया है। इसे महाभारत में महोपनिषद् कहा गया है।[1] इसके महात्म्यातिशय का हेतु है इसका नारायण भगवान् के मुखारविंद से निर्गमन।[2] वेंकटनाथ ने भी `पा चरात्ररक्षा` नामक ग्रन्थ लिखकर इस शास्त्र की महिमा को विस्तृत किया है।

इस प्रकार पाञ्चरात्र आगम विशिष्टाद्वैत के व्यूहवाद एवं शरणागति के सिद्धान्त को पल्लवित एवं पुष्पित करता है।

विशिष्टाद्वैत में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय

विशिष्टाद्वैत में पदार्थों का विभाजन प्रमाण एवं प्रमेय के रूप में किया गया है --

----

1. `इदंमहोपनिषदं सर्ववेद समन्वितम्।`
-- महाभारत, शांतिपर्व

2. `पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायण: स्वयम्।`
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 30

प्रमाण :

`प्र` उपसर्ग पूर्वक `मा` धातु से भाव और करण अर्थ में `ल्युट्` प्रत्यय करने से प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति होतीहै । किसी के अनुसार भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने से प्रमाण की व्युत्पत्ति होती है अर्थात् प्रमा ही प्रमाण है । अन्य के मत में करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रमाण की व्युत्पत्ति होती है । अर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं । वेदान्तकारिकावलीकार भी करण अर्थ में ल्युट प्रत्यय को ही स्वीकार करते हुये प्रमा के करण को प्रमाण मानते हैं ।[1] इस प्रकार प्रमाण वह है जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्रमा प्राप्त हो और उसी प्रमा करण को प्रमाण कहते हैं ।

भारतीय दर्शन में प्रमाणों की संख्या के विषय में अनेक प्रकार के मत पाये जाते हैं । विभिन्न मतों में `एक` से लेकर `आठ` तक प्रमाण के भेद स्वीकार किये गये हैं । परन्तु विशिष्टाद्वैत वेदान्त में त्रिविध प्रमाण ही माने गये हैं --

1. प्रत्यक्ष
2. अनुमान
3. शब्द

----

1. (अ) `प्रमाणशब्दस्य भावे करणे च व्युत्पत्तिः ।`
प्रमेय प्रमाणम् । प्रमाकरणं प्रमाणम् ।`
--न्यायपरिशुद्धि, पृ० 8.

(ब) `प्रमायाः करणं प्रमाणम् ।`
-- वेदान्तकारिकावली, पृ० 9

अत: त्रिविध प्रमाण के अन्तर्गत ही अन्य प्रमाणों के अन्तर्भाव को सिद्ध किया गया है --

1. प्रत्यक्ष :

भारतीय दर्शन में इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। प्रसंगानुसार विभिन्न व्युत्पत्तियों के अनुसार तीन प्रकार से जाना गया है -- जैसे --

1. जो शब्द इन्द्रियजन्य ज्ञान का बोधक होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि ज्ञानात्मक प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय विषय के प्रति गमन करती है।

2. द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के करण का बोध करता है। क्योंकि विषयसन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्यतया प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है।

3. तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार `प्रत्यक्ष` शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता है। क्योंकि जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है, अर्थात् जो अर्थ इन्द्रिय सन्निकृष्ट होता है। वही प्रत्यक्ष-प्रमा का विषय होता है।[1]

----

1. `प्रतिविषयं प्रतिगतं अक्षं इन्द्रियं यस्मैप्रयोजनामतत् प्रत्यक्षम्। प्रतिगतं विषयं सन्निकृष्टं अक्षं प्रत्यक्षम्। प्रतियं विषयं प्रतिगतं अक्षं स प्रत्यक्ष:।`

-- तर्कभाषा, पृ0 63-64.

प्रशस्तपादाचार्य ने कहा है कि चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।[1] महर्षि गौतम के अनुसार इन्द्रिय जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। किन्तु सभी इन्द्रिय जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होते। जो संशय, विपर्यय या भ्रमज्ञान से रहित हो, जिसे शब्दों द्वारा प्रकट न किया जा सके, ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।[2]

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तवादी बुच्चिवेंकटाचार्य 'प्रत्यक्षप्रमाण' का लक्षण करते हुये कहते हैं कि साक्षात्कार करने वाली प्रमा के हेतु को प्रत्यक्ष कहते हैं। साक्षात्कार करने वाली प्रमा वह है, जो इन्द्रियजन्य होती है। इस साक्षात्कार प्रमा के दो भेद होते हैं-- सविकल्पक और निर्विकल्पक।[3]

इस प्रकार गुण संस्थानादि-विशिष्ट प्रथम पिण्डग्रहण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। गुण-संस्थानादि-विशिष्ट द्वितीय पिण्डज्ञान को सविकल्पक कहते हैं। दोनों प्रत्यक्ष विशिष्ट-विषयक ही होते हैं। द्रव्य का

----

1. 'अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्।'
   --प्रशस्तपादभाष्य, पृ0 153
2. 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।'
   -- न्यायसूत्र, 1.1.4
3. साक्षात्कारप्रमाहेतुः प्रत्यक्षं मानमीरितम्।
   सविकल्पो निर्विकल्पः साक्षात्कारो द्विधा भवेत्।।
   -- वेदान्तकारिकावली, पृ0 10.

प्रत्यक्ष संयोग सम्बन्ध से होता है। द्रव्यगत रूपादि का प्रत्यक्ष संयुक्ताश्रयण, सम्बन्ध से होता है। यहां समवाय को सम्बन्ध नहीं मानते हैं। पुन: प्रत्यक्ष के दो भेद हैं -- अर्वाचीन और अनर्वाचीन।

अर्वाचीन के दो भेद हैं -- इन्द्रिय सापेक्ष और इन्द्रिय निरपेक्ष।

इन्द्रिय अनपेक्ष के दो भेद होते हैं -- स्वयंसिद्ध और दिव्य।

स्वयंसिद्ध प्रत्यक्ष योगजन्य होता है और दिव्य प्रत्यक्ष भगवत्कृपाजन्य।

अनर्वाचीन प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय निरपेक्ष होता है वह नित्य, मुक्त और ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है।

अनुमान

दो शब्दों - अनु और मान के योग से अनुमान शब्द निष्पन्न होता है। प्रथम का अर्थ है -- पश्चात् तथा द्वितीय का अर्थ है ज्ञान। अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। प्रथम में 'अनु' पूर्वक 'मा' धातु के आगे 'ल्युट्' प्रत्यय भाव अर्थ में किया गया है और द्वितीय में करण अर्थ में। इस प्रकार भाव अर्थ में अनुमान शब्द अनुमिति प्रमा तथा करण अर्थ में अनुमान प्रमाण का वाचक होता है। अनुमिति में प्रयुक्त अनु पर प्रतियोगी - साकाङ्क्ष है। जो मिति अर्थात् ज्ञान के पूर्व किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा रखता है। पूर्व ज्ञान से यहां व्याप्तियुक्त पक्षधर्मता रूप एक विशिष्ट ज्ञान अभिप्रेत है।

अत: इस विशिष्टज्ञान के पश्चात् होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है ।[1]

इस प्रकार अनुमान शब्द `अनु`- उपसर्ग पूर्वक `मा` धातु से निष्पन्न होता है ।

तात्पर्य यह है कि अनु और मान दोनों शब्दों के योग से अनुमान शब्द बना है । अनु शब्द पश्चात् अर्थ का बोधक है और पश्चात् शब्द नियमत: प्रतियोगी साकाङ्क्षा है, इस पश्चात् अर्थ में, लिंग और लिंगी का सम्बन्ध और लिंग ज्ञान ये दोनों ही प्रतियोगी के रूप में अनुमित होते हैं । मान शब्द ज्ञान का परिचायक है । लिंग और लिंगी का यह सम्बन्ध ही व्याप्ति या अविना भाव आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता है । अत: `लिंग लिंगी सम्बन्ध ज्ञान` से हेतु में रहने वाली साध्य की व्याप्ति का ज्ञान अभिप्रेत है । `लिंग ज्ञान` से पक्ष धर्मता ज्ञान गृहीत किया जाता है । इस दृष्टि-कोण से अनु शब्द से अर्थात् व्याप्ति ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान इन दोनों के पश्चात् जो मान अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अनुमान कहते हैं । साधारणत: दो ज्ञात सत्यों के द्वारा किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही `अनुमान-प्रमाण` है ।

विशिष्टाद्वैत में भी अनुमान के लक्षण को इस प्रकार से व्यक्त किया गया है कि अनुमिति रूप ज्ञान में विद्यमान करण अनुमान कहलाता

----

1. `अनुमिति अनुमानम् । अनुमीयते अनेन इति अनुमानम् ।`
-- भारतीय दर्शन में अनुमान, भूमिका, पृ० 1

है । अर्थात् लिंग के परामर्श को अनुमान कहते हैं, क्योंकि लिंग का प्रत्यक्ष होने के बाद चूंकि अनुमिति की प्रवृत्ति होती है, अत: अनुमान कहलाता है ।[1]

शब्द-प्रमाण

महर्षि गौतम के अनुसार आप्त पुरुष के वचन को `शब्द-प्रमाण` कहा जाता है[2]। यथार्थवक्ता को आप्त पुरुष कहते हैं । लेकिन यह एक सामान्य बात है कि केवल वचन या वाक्य, पदार्थों के ज्ञान के लिए स्वयं में पर्याप्त नहीं होता और न वाक्य के शब्दों का प्रत्यक्ष ही पदार्थों का ज्ञान कराता है । यह तभी संभव होता है जबकि कोई सर्वप्रथम शब्दों का प्रत्यक्ष करता है, तदुपरान्त उनके अर्थ को समझता है ।इस प्रकार जब शाब्द ज्ञान की प्रामाणिकता आप्त-वाक्य पर आवृत्त होती है, तो वह वाक्य के अर्थ को समझना ही `शाब्दज्ञान` है । उस शाब्द ज्ञान का करण शब्द है । तस्मात् शब्द ही `शब्द-प्रमाण` है ।[3]

----

1. `अनुमितिरूपे ज्ञाने करणमनुमानमित्यर्थ: ।`
   -- वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ0 17

2. (अ) `आप्तोपदेश: शब्द: ।` -- न्यायसूत्र, 1.1.7
   (ब) `आप्तवाक्यं शब्द: ।` -- तर्कसंग्रह, पृ0 101

3. (क) `आप्तस्तु यथार्थवक्ता ।`
   -- तर्कसंग्रह, काशी संस्करण, पृ0 101
   (ख) `वाक्यार्थ ज्ञानं शाब्दज्ञानं तत्करणं शब्द: ।`
   -- वही, पृ0 102

यदि `प्र` उपसर्ग पूर्वक `मा` धातु से भाव अर्थ में `ल्युट्` प्रत्यय करने से प्रमाण शब्द सिद्ध करें तो प्रमा रूप अथवा ज्ञान रूप ही प्रमाण होता है। इस प्रमाण शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार शाब्दबोध-प्रमाण अर्थात् - फल रूप ज्ञान ही होता है। तथा इस फल रूप ज्ञान अर्थात् `शाब्दबोध` का करण अर्थात् साधन परमाणु रूप शब्दों के अर्थ ज्ञान से - सहमत प्रत्येक शब्द का ज्ञान, जो कि श्रोता में ज्ञान को उत्पन्न करता है - होगा।[1]

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि शब्द प्रमाण में द्विपदी क्रम है। सर्वप्रथम शब्द प्रमाण में आप्त पुरुष के वाक्य में शब्दों का प्रत्यक्ष होता है। जब वे शब्द किसी के द्वारा बोले जाते हैं तो उनका `श्रोतज-प्रत्यक्ष` होता है, और जब वे शब्द लिखे जाते हैं तो उनका `चाक्षुष-प्रत्यक्ष` होता है। तदुपरान्त उन प्रत्यक्षीभूत शब्दों के अर्थ का बोध होता है। इस शाब्दबोध से ही पदार्थों का ज्ञान होता है। यह शाब्द बोध ही `शब्द-प्रमाण` का करण है। जोकि वाक्य-सम्बन्धी अर्थों के स्मरण रूप व्यापार से पदार्थों का ज्ञान कराता है।[2]

अत: `शब्द-प्रमाण` प्रत्यक्ष से भिन्न है, क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ संसर्ग से होता है।

इसी प्रकार शब्द `अनुमान` से भी भिन्न है, क्योंकि अनुमान

----

1. शाब्दबोध, तत्व परिषद् पत्रिका, पृ0 16.

2. `पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधी:।`
--न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ0 291

में व्याप्ति-ज्ञान रखता है । जबकि `शब्द -प्रमाण` वाक्यार्थ ज्ञान से सिद्ध होता है ।

अतः विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार अनाप्त के द्वारा अनुक्त वाक्य `शब्द-प्रमाण` कहलाता है ।[1] अतः यही कारण है कि आत्म-ख्याति - योगाचार, असत्ख्याति - माध्यमिक, अख्याति-मीमांसक, अन्यथाख्याति - नैयायिक तथा अनिर्वचनीय ख्याति - अद्वैती, इन सबका मत निर्मूल तथा निस्सार है ।

अनाप्त-अनुक्तशब्दजन्य अर्थ-विज्ञान को ही शब्द कहते हैं । वेद अपौरुषेय होने से अनाप्त - अनुक्त हैं, वेद सनातन हैं । प्रत्येक कल्प में समान पद-क्रम से उसकी आवृत्ति होती है । वेद को प्रमाणित करने के लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है । वे ब्रह्म, जीव, धर्मादि को प्रमाणित करते हुये अपने को भी प्रमाणित करते हैं । वेदों के प्रत्येक अक्षर और शब्द प्रमाण हैं । उनका ही अन्तिम भाग वेदान्त कहलाता है । जिसे उपनिषद् कहते हैं । उन्हीं वेदों तथा उपनिषदों द्वारा ब्रह्म की सत्ता प्रमाणित होती है, दूसरे किसी प्रमाण से ब्रह्म की सत्ता प्रमाणित नहीं होती ।

अतः ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों ने लिखा है कि ब्रह्म सत्ता में एक मात्र शास्त्र ही प्रमाण है ।[2] इस प्रकार `शब्द-प्रमाण` की सत्ता सर्वोपरि है ।

----

1. `अनाप्तानुक्तवाक्यं यत्तच्छाब्दकरण स्मृतम् ।`

-- वेदान्तकारिकावली, पृ0 22

2. `शास्त्रयोनित्वात् ।`

-- ब्रह्मसूत्र, 1.1.3

प्रमेय

प्रमा अर्थात् ज्ञान के विषयों को प्रमेय कहते हैं, किन्तु दार्शनिक प्रकरण के अनुसार जिन प्रमा के विषयों के ज्ञान से नि:श्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति में सहायता प्राप्त होती है, उन प्रकृष्ट मेय- ज्ञेय को प्रमेय कहते हैं । सम्पूर्ण चिद्चिद्रूपी विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म एक ही तत्व है । उसमें प्रकार-प्रकारी विशेषण-विशेष्य तथा प्रकारों विशेषणों में पारस्परिक अत्यन्त भेद रहने पर भी विशिष्ट एकत्व विवक्षित है । इसलिए विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में विशिष्टाद्वैत मात्र `प्रमेय` है । प्रमेय तत्व के भेद के सम्बन्ध में अनेक मत उपलब्ध होते हैं । किन्तु विशिष्टाद्वैत में प्रमेय तत्व को द्रव्य एवं अद्रव्य दो भेदों से स्वीकृत किया इस सिद्धान्त में पदार्थों का तीसरा प्रकार असंभावित है । इसलिए सभी पदार्थ इन्हीं दो के अन्तर्गत आ जाते हैं । इस द्रव्य-अद्रव्य की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी स्वयमेव सिद्ध है । इसका किसी भी प्रकार से अपलाप नहीं किया जा सकता ।

अतएव विशिष्टाद्वैत में `प्रमेय` के दो भेद द्रव्य और अद्रव्य बताये गये हैं । जिसमें द्रव्य भी दो भागों में विभक्त है -- जड़ और अजड़ ।

जो स्वयं प्रकाशमान् न हो, उसे जड़ कहते हैं । तथा जो स्वयं प्रकाशमान् पदार्थ हों उन्हें अजड़ कहते हैं । इस प्रकार जड़ पदार्थ के भी दो भेद हैं -- प्रकृति और काल । मिश्रसत्वाश्रय को प्रकृति कहते हैं । क्षण, लव, भूत, भविष्य, वर्तमान आदि व्यवहार के हेतु को काल कहते हैं । अजड़ पदार्थ के दो भेद हैं -- पराक् और प्रत्यक् ।

दूसरे के लिए प्रकाशमान् को पराक् कहते हैं । पराक् के दो भेद हैं-- नित्य विभूति और धर्मभूत ज्ञान ।

प्रकृति व्यतिरिक्त शुद्धसत्वाश्रय को नित्य विभूति कहते हैं । प्रकाशक को बुद्धि या ज्ञान कहते हैं ।

प्रत्यक् के दो भेद हैं -- जीव और ईश्वर । परतन्त्र चेतन को जीव कहते हैं । ईश्वर सर्वतन्त्र स्वतंत्र है । जीव के तीन भेद हैं-- बद्ध, मुक्त और नित्य । बद्धजीव के दो भेद -- बुभुक्षु और मुमुक्षु । बुभुक्षु जीव के दो भेद हैं -- अर्थकामनिष्ठ और धर्मनिष्ठ । धर्मनिष्ठ भी दो प्रकार का है -- देवतान्तरनिष्ठ और भगवन्निष्ठ ।

मुमुक्षु के दो भेद हैं -- कैवल्यपर, मोक्षपर । मोक्षनिष्ठ जीव के भी दो भेद हैं -- भक्त और प्रपन्न । प्रपन्न भी दो प्रकार के होते हैं -- एकान्ती, परमैकान्ती, परमैकान्ती के भी दो भेद हैं-- दृप्त और आर्त।

ईश्वर स्वरूप के पांच भेदों को निरूपित किया गया है -- पर, व्यूह, वैभव, अन्तर्यामी, और अर्चावतार । जिसमें पर स्वरूप एक ही है । व्यूह स्वरूप के चार भेद हैं -- वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ।

वैभव स्वरूप में -- मत्स्य, कूर्म, वामन आदि रूपों को वर्णित किया गया है । अन्तर्यामी स्वरूप प्रति शरीर में रहता है । अर्चावतार स्वरूपों में श्रीरङ्गम् , श्रीवेङ्कटाद्रि स्थलों में अर्चावतार स्वयं व्यक्त स्वरूप हैं ।

प्रमेय के दूसरे भेद अद्रव्य के दस भेद हैं -- सत्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति ।

प्रमेय प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत के प्रमुख ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

ग्रन्थ

श्रीभाष्य :

आचार्य श्री रामानुज विरचित श्रीभाष्य अत्यन्त विस्तृत एवं पाण्डित्य तर्कों के लिए विख्यात है। डा० थीवो के अनुसार श्रीभाष्य अपनी विद्वता एवं तर्कों के लिए विख्यात है और इनके शंकर के विरोध में दिये गये तर्क एवं युक्तियां तेजस्वी हैं।

वस्तुत: शंकरभाष्य के बाद होने के कारण रामानुजाचार्य ने शंकरभाष्य के अनेक सिद्धान्तों का खण्डन किया है। आचार्य रामानुज ने शंकराचार्य के निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म के सिद्धान्त का श्रुति, युक्ति एवं अनुभव के आधार पर, निरास करके, कल्याण गुण सम्पन्न, अप्राकृत, विग्रहवान्, चिदचिद्विशिष्टब्रह्म की स्थापना में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

रामानुज प्रणीत श्रीभाष्य की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें मूल सूत्रों में तीव्र दृष्टि रखते हुये एवं वेदान्त की प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुये विशिष्टाद्वैत का प्रणयन किया गया है। जबकि आचार्य शंकर ने केवलाद्वैत सिद्धान्त की स्थापना के लिए सूत्रों के मूल अर्थों को तोड़ मरोड़ करने में भी संकोच नहीं किया। 'हिन्दी-विश्वकोष'कार ने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया है।[1]

----

1. शंकराचार्य के भाष्य में उच्चतम अभिनव दार्शनिक सिद्धान्त स्थापन करने के लिए जिस प्रकार विपुल प्रयास देखा जाता है, वेदान्तसूत्र का प्रकृत तात्पर्य प्रकाश करने के लिए वैसी चेष्ठा नहीं देखी जाती है।

   -- हिन्दी विश्वकोष, खण्ड-22, पृ० 191

अत: सिद्ध है कि रामानुज का श्रीभाष्य - ब्रह्मसूत्र के निर्वचन एवं प्रस्थानत्रयी के सिद्धान्त की दृष्टि शाङ्करभाष्य से अधिक युक्तिसंगत है ।

डा0 एस0 आर0 भट्ट ने भी आचार्य रामानुज की निर्वचन प्रणाली एवं भाष्य को शंकराचार्य के भाष्य से अधिक उपयुक्त बताया है । अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत के मूलभूत सिद्धान्तों की दृष्टि से ब्रह्मसूत्र का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सूत्रकार को अद्वैत की अपेक्षा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त अधिक मान्य था । अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत के मुख्य सिद्धान्तों के सन्दर्भ में ब्रह्मसूत्रकार का मत यहां प्रस्तुत किया जा रहा है ।

ब्रह्म का सिद्धान्त :

ब्रह्मसूत्रकार परब्रह्म और अपर ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के सिद्धान्त का कतई समर्थन नहीं करते । ब्रह्मसूत्रकार ने शुद्ध, भेदरहित, निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार न करके जगत्जन्माधिकरण शास्त्र प्रतिपादित सगुण ब्रह्म के सिद्धान्त का समर्थन किया है ।[1]

जगत् का सिद्धान्त :

आचार्य शंकर ने जिस अर्थ में `माया` शब्द का प्रयोग किया है,

----

1. (अ) `जन्माद्यस्य यत: ।`

—ब्रह्मसूत्र, 1.1.2.

(ब) `शास्त्रयोनित्वात् ।`

-- वही, 1.1.3

वह सूत्रकार को अभिमत नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसूत्र में केवल एक बार माया शब्द का प्रयोग किया गया है, और उससे भी मायावाद को कोई समर्थन नहीं मिलता ।[1]

जीव का स्वरूप :

शंकराचार्य ने जीव को सर्वव्याप्त, क्रियाशून्य एवं अणु, कर्ता एवं बोधा माना है । शंकर ने ब्रह्मसूत्र के 2.3.19-53 सूत्रों के आधार पर जीव एवं जगत् को मिथ्या एवं अवास्तविक प्रतिपादित किया है, जिसकी बाद में स्वयं ही कड़ी आलोचना की है ।

ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध :

आचार्य शंकर ने ब्रह्म और जीव में अभेद माना है; परन्तु ब्रह्म सूत्र के अनेक सूत्र ब्रह्म और जीव में भेद का स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं ।[2] ब्रह्मसूत्रकार ने जीवितावस्था तो क्या, मुक्तावस्था में भी जीव और ब्रह्म में भेद की स्थापना की है । मुक्त पुरुष की स्थिति की विषय में ब्रह्मसूत्रकार का मत है कि जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार तथा चित्, अचित् का नियमन छोड़कर मुक्त पुरुष में ईश्वरता

---

1. 'मायामात्र तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।'
   -- ब्रह्मसूत्र, 3.2.3

2. ब्रह्मसूत्र - 1.1.16-17, 19, 21.
   ब्र0सू0 - 1.2.4-8, 11, 12, 20, 22.
   ब्रह्मसूत्र - 1.3.2, 5.7.19

जाती है ।[1] अतः जीव और ब्रह्म में अभेद भगवान् बादरायण को अभिप्रेत नहीं है ।

कार्य-कारण सिद्धान्त :

कार्यकारण के सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्रकार परिणामवाद के समर्थक हैं, न कि विवर्तवाद के, क्योंकि परिणाम शब्द का स्पष्ट प्रयोग - ब्रह्मसूत्र में किया गया है ।[2] चेतन ब्रह्म के जड़ जगत् के कारणवाद के विरुद्ध शंका का समाधान करते हुये महर्षि व्यास ने शुक्ति में रजत के अध्यास या अध्यारोप का न तो कहीं उल्लेख किया और न ही संकेत किया है । सूत्रकार ने उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य के विद्यमानता के सिद्धान्त का समर्थन किया है ।[3] जबकि विवर्तवाद इसका विरोध करता है ।

अन्त में स्पष्टता यह है कि ब्रह्मसूत्र शंकराचार्य के सिद्धान्तों का समर्थन नहीं करते । प्रो० घाटे ने कहा है कि शंकर दर्शन का चाहे कितना ही महत्व हो, पर वे ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता । डा० कीथ के अनुसार रामानुज का श्रीभाष्य गुणों एवं पूर्णता की दृष्टि से किसी भी पूर्व प्रयास से अधिक सफल एवं सराहनीय है । वस्तुतः

----

1. 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।'

-- ब्रह्मसूत्र - 4.4.17-18

2. 'न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।'

-- ब्रह्मसूत्र - 2.1.4

3. 'असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।'

-- ब्रह्मसूत्र - 2.1.7

ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के सिद्धान्त को ही प्रतिपादित करते हैं । खासकर छान्दोग्योपनिषद् और ब्रह्मसूत्र दोनों का उद्देश्य सगुण ब्रह्म की उपासना द्वारा मानव के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है । इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि छान्दोग्योपनिषद् का अन्तिम अध्याय और ब्रह्मसूत्र दोनों ब्रह्म जिज्ञासा से प्रारम्भ होते हैं ।[1] और दोनों का अवसान मोक्ष प्राप्ति या अपुनरावृत्ति में होता है । ब्रह्म सम्प्राप्ति और अपुनरावृत्ति निर्गुण ब्रह्मपरक कदापि नहीं हो सकती ।

न्यायसिद्धाञ्जनम् :

महामहोपाध्याय गङ्गानाथ झा ग्रन्थमालान्तर्गत द्वितीय पुस्तक के रूप में प्रकाशित एवं हिन्दी अनुवाद से संवलित श्री वेदान्तदेशिक विरचित `न्यायसिद्धाञ्जन` नामक यह ग्रन्थ श्रीवैष्णवदर्शन तत्व का प्रतिपादन करता है । इस ग्रन्थ के मूल लेखक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीमद्-वेदान्तदेशिक का नाम श्रीरामानुज दर्शन के इतिहास में अत्यधिक महत्वपूर्ण है । श्रीवैष्णवदर्शन की दो धाराएं हैं जिन्हें तमिल में `बड़कल` एवं `टेङ्कल` कहते हैं । दोनों के अठारह भेद होने पर भी मुख्य पार्थक्य प्रपत्ति.

----

1. (अ) `अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मदहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।`

-- छान्दोग्योपनिषद्, 8.1.1

(ब) `अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ।`

--ब्रह्मसूत्र, 1.1.1

को लेकर ही है । प्रपत्ति के विषय में निहितकर्म व्यक्ति का कोई उपयोग है अथवा नहीं -- इस सन्देह के होने पर `वडकल` मतानुयायियों का विचार है कि श्रीमन्नारायण के चरणारविन्दों की प्रपत्ति में कर्म का अतिशय महत्त्व है । `टेङ्कल` मतानुयायियों की मान्यता है कि प्रपत्ति का कर्म से कोई संबंध नहीं है ।

उन्होंने सैंकड़ों ग्रन्थ लिखे, जिनमें शतदूषणी, तत्वमुक्ताकलाप, न्यायपरिशुद्धि, न्यायसिद्धाञ्जन - ये चार ग्रन्थ दार्शनिक तत्वों के प्रतिपादन की दृष्टि से मूर्धन्य हैं ।

`न्यायसिद्धाञ्जन` का रचना-काल प्राय: प्रमाणों से निश्चित किया जा सकता है । वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी रचना-काल का निर्देश नहीं दिया है -- तथापि `संकल्पसूर्योदय` में उपलब्ध प्रस्तुत पद्य से उसके रचना-काल के विषय में थोड़ी-बहुत सूचना प्राप्त होती है । तात्पर्य यह है कि वेंकटनाथ ने बीस वर्ष की अवस्था में सारी विद्याएं अर्जित कर ली थीं । वस्तुत: गणना करने पर `न्यायसिद्धाञ्जन` की रचना `न्यायपरिशुद्धि` के साथ ही हुई प्रतीत होती है ।[1]

ग्रन्थकार ने स्पष्टत: कहा है --

1, विंशत्यब्दे विश्रुतनानाविधविद्य:,
त्रिंशद्वारं श्रावितशारीरकभाष्य: ।
श्रेय: श्रीमान् वेंकटनाथ: श्रुतिपथ्यं,
नाथप्रीत्यै नाटकमर्थ्यं व्यधितैतत् ।।

`न्यायपरिशुद्धि` में प्रमाण का ही विस्तृत विवरण प्राप्त होता है, प्रमेय-विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया गया है ।[1]

अत: इस ग्रन्थ `न्यायसिद्धाञ्जनम्` का उद्देश्य इसी अभाव की पूर्ति करना है । `तत्वमुक्ताकलाप` का `न्यायसिद्धाञ्जन` में उल्लेख इसे परवर्ती रचना सिद्ध करता है । इस प्रकार 1330-32 ई0 `न्यायसिद्धाञ्जन` का रचना काल सिद्ध होता है । उस समय आचार्यप्रवर की अवस्था पचास वर्षों की रही होगी ।

इस ग्रन्थ में छह परिच्छेद हैं --

- जडद्रव्यपरिच्छेद
- जीवपरिच्छेद
- ईश्वरपरिच्छेद
- नित्यविभूतिपरिच्छेद
- बुद्धिपरिच्छेद
- अद्रव्य परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने सत्व, रजस्, तमस्, शब्दादि पांच, संयोग, और शक्ति - इन दश वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत किया है । इसी प्रकार अद्रव्यों में गुरुत्व, द्रवत्व, सामान्य - सादृश्य - विशेष - समवाय, अभाव - वैशिष्ट्य आदि का यथासम्भव अन्तर्भाव

----

1. यन्न्यायपरिशुद्ध्यन्ते संग्रहेण प्रदर्शितम् ।
पुनस्तद्विस्तरेणात्र प्रमेयमभिदध्महे ।।

होता है - यह प्रदर्शित किया गया है। परन्तु अभाव का निरूपण प्राप्त नहीं होता जिससे यह अनुमान होता है कि उपलब्ध ग्रन्थ की यह त्रुटि है। ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद रामानुज वेदान्त के अध्यापक पण्डितप्रवर श्री नीलमेघाचार्य ने किया है।

तत्वमुक्ताकलाप :

विशिष्टाद्वैत दर्शन की सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा `श्रीमद्वेंकटनाथ-वेदान्तदेशिक` के ग्रन्थों में तत्वमुक्ताकलाप का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ आपकी चूडान्त रचना है। इसे पांच सरों में विभक्त किया गया है, तथा पांच सौ स्रग्धरा छन्दों में निबद्ध है। इसके छन्द विशुद्ध दार्शनिक हैं। जिनमें काव्यत्व के गुणों का पूर्ण निर्वाह है। इस ग्रन्थ के पांच सर इस प्रकार हैं -- जड़द्रव्यसर, जीवसर, नायकसर, धीसर, अद्रव्यसर। श्रीवेदान्तदेशिक ने इस ग्रन्थ की व्याख्या `सर्वार्थसिद्धि` का प्रणयन करके तत्वमुक्ताकलाप ग्रन्थ के भावों को समझने का द्वार उद्घाटित कर दिया है, अन्यथा इसके भावों को समझना अत्यन्त कठिन था। तत्वमुक्ताकलाप ग्रन्थ की श्रीमद्बाधूल श्रीनिवासाचार्य कृत सर्वार्थसिद्धिगूढार्थविवृत्ति, तथा - श्रीमत्सौम्य-वरदरामानुजाचार्यकृत सर्वार्थसिद्धिगूढ़ार्थप्रकाश नामक दो प्राचीन टीकायें हैं। इन दोनों टीकाओं के साथ अभिनवदेशिक श्रीवीरराघवाचार्यस्वामी ने अपनी आनन्दायिनी व्याख्या के साथ सर्वार्थसिद्धि समालंकृत तत्वमुक्ता-कलाप का प्रकाशन 1973 ईस्वी में मद्रास से किया। सम्प्रति ग्रन्थ का दौर्लभ्य हो गया है। इसी बीच सिद्ध सन्त योगीराज `श्रीदेवरहाबाबाजी` की अपरिमितवदान्यता के फलस्वरूप इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी - श्रीधराचार्य जी ने किया है । अतः प्रमेय प्रतिपादित यह ग्रन्थ `तत्वमुक्ताकलाप` अत्यन्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण कृति है ।

तत्वत्रय :

तत्वत्रय वैदिकों का सार रूप सैद्धान्तिक ग्रन्थ है । इसके प्रतिपादन में ही सभी वेद वाक्यों का तात्पर्य है -- यह वैदिकों की मान्यता है । तत्वत्रय शब्द से चित, अचित एवं ईश्वर का बोध होता है । चित् चेतन जीव प्रत्यक् आत्मा आदि शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं । अचेतन अचित्, पराक्, प्रकृति, प्रधान, क्षर, जड़ इत्यादि शब्द प्रकृति को ही कहते हैं । ईश्वर, परमात्मा परब्रह्म आदि शब्द ईश्वर का ही कथन करते हैं ।

श्रुतियों[1] एवं गीता के - `द्वाविमौ पुरुषौ` इत्यादि वाक्यों से तत्वत्रय के स्वरूप, भेद आदि सम्बन्धों का ही कथन करते हैं ।[2] तथा

----

1. (अ) `भोक्ताभोग्यं प्रेरितारञ्चभुत्वा ।`

--श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.12

(ब) `क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः

क्षरात्मानावीशते देव एकः ।`

-- वही, 1.9

2. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।

-- श्रीमद्भगवद्गीता, उद्धृत तत्वत्रय, भूमिका, पृ० 5

इसमें तीन प्रकरण इन्हीं तत्वों को प्रतिपादित करते हैं --

1. चित्प्रकरणम्, 2. अचित्प्रकरणम्, 3. ईश्वरप्रकरणम् ।

इन तीनों प्रकरणों के नाम से ही पिल्लैलोकाचार्य जी ने इस ग्रन्थ का नाम `तत्वत्रय` रखा । अपने विशिष्ट मत को सिद्ध करने के लिये, जैन, सांख्य, नैयायिक तथा अद्वैत मत का शोधन करते हुये - विशिष्टाद्वैतमत की स्थापना की गयी है । यह ग्रंथ मूल रूप से द्रविड भाषा में यह संस्कृत अनुवाद के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है । इसका अनुवाद विद्वानद्वय ने किया है -- 1. श्रीमान् काचीप्रतिवादिभयंकर मठाधीश स्वामी अनन्ताचार्य जी महाराज, 2. श्रीवृन्दावनधाम निवासी रसिक प्रवर स्वामी जी रङ्गाचार्य जी महाराज । तथा संस्कृत एवं हिन्दी अनुवाद आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी जी ने भी किया है । इस प्रकार यह `तत्वत्रय` नामक ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत के प्रमेय तत्वों के निरूपण में महत्वपूर्ण है ।

यतीन्द्रमतदीपिका :

यतीन्द्र श्रीरामानुजाचार्य के मत का प्रकाशन करने के कारण ही इस प्रकरण-ग्रन्थ का नाम यतीन्द्रमतदीपिका है ।[1]

----

1. यतीनामिन्द्रः यतीन्द्रः, श्रीरामानुजाचार्य इत्यर्थः, तस्य मतम् = सिद्धान्तं, दीपयति = प्रकाशयति या सा = `यतीन्द्रमतदीपिका` ।

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 11

यतिराज आचार्य रामानुज ने अपनी कृतियों के द्वारा जिस दर्शन का समर्थन किया उसे, विशिष्टाद्वैत के नाम से अभिहित किया जाता है। वेदान्त वेद्य परमात्म तत्व एक तथा चेतना चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् से विशिष्ट है। परमात्मा एवं जगत् में शरीर-शरीरीभाव सम्बन्ध है।

विशिष्टाद्वैत के प्रधान प्रतिपाद्य श्रीभगवान् के प्रधानरूप से दश अवतार स्वीकार किये जाते हैं। यतीन्द्रमतदीपिका में भी दश प्रकरण हैं जिन्हें दश अवतार के रूप में ग्रन्थकार श्री निवासाचार्य जी ने प्रतिपादित किया है। जिसमें भगवान् के अवतारों को दृष्टि में रखकर अध्यायों का वर्गीकरण किया गया है। जैसे -- सज्जनों की रक्षा, असज्जनों के विनाश, सज्ज्ञान धर्म का प्रवर्तन। उसी प्रकार इस ग्रंथ में - सत्पक्ष का संरक्षण, सत्पक्षप्रतिपक्षी का खण्डन, तत्व का प्रवर्तन। सम्पूर्ण यतीन्द्रमतदीपिका को दो भागों में विभक्त किया गया है -- (1) प्रमाण विचार, (2) प्रमेय विचार।

इस ग्रन्थ के प्रथम तीन अवतारों में प्रमाणों का विचार किया गया है तथा शेष सात अवतारों में प्रमेयों पर विचार किया है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये भगवान् मनु ने व्यक्त किया है कि तत्वतः धर्म के स्वरूप की कामना वाले मनुष्य को चाहिये कि वह प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अनेक आगमों से युक्त शास्त्र को अच्छी तरह से जाने।[1]

----

1. प्रत्यक्षं मनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मसिद्धिमभीप्सुना ॥
--मनुस्मृति, द्रष्टव्य, यतीन्द्रमतदीपिका, भूमिका, पृ० 12

इसी कथन की पुष्टि करते हुये यतीन्द्रमतदीपिका के प्रथम तीन अवतारों में क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण को निरूपित किया गया है, जो अन्य वादियों के मतों का खण्डन करते हुये अपने विशिष्ट मत की स्थापना की गयी है ।

द्वितीय सात अवतारों में अर्थात् चतुर्थ से लेकर दशम अवतार पर्यन्त प्रमेयों का विस्तृत विचार किया गया है जो क्रमशः इस प्रकार है -- सर्वप्रथम प्रमेय का द्रव्य, अद्रव्य रूप भेद द्रव्यान्तर्गत जड़ एवं अजड़ रूप का वर्णन करते हुये जड़ में प्रकृति एवं काल को निरूपित किया गया है । अजड़ में प्रत्यक्, पराक् भेद को प्रदर्शित करते हुये प्रथम पराक् में भी नित्यविभूति एवं धर्मभूत ज्ञान की चर्चा की गयी है । अजड़ द्रव्य के प्रत्यक् भाव से सम्बन्धित जीव तथा ईश्वर का सम्यक् रूप से विचार किया गया है । अन्त में दश अद्रव्यों का भी वर्णन किया गया है । यतीन्द्रमतदीपिका विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रवेश ग्रन्थ है । इसका आकार जितना छोटा है इसके भाव उतने ही विस्तृत हैं । इस प्रकरण ग्रन्थ की संस्कृत टीका श्रीविद्याभूषण तिरुनांगूर स्वामी अष्टाङ्गराचार्य ने की है जिसका नाम लघुवर्तिका है । इसी के आधार पर श्री शिवप्रसाद द्विवेदी जी ने हिन्दी टीका की है । इस प्रकार यह प्रकरण ग्रन्थ होते हुये प्रमेय निरूपण में अद्वितीय स्थान रखता है ।

वेदान्तकारिकावली :

इसका प्रणयन बुच्चिवेंकटाचार्य जी ने किया है । पहले इसका आन्ध्राक्षर एवं देवनागरी में समीचीन पाठ उपलब्ध नहीं होता था । यह ग्रन्थ 'यतीन्द्रमतदीपिका' का अनुसरण करता है, एवं शारीरिकशास्त्रतत्व

का बोध करवाता है। यह प्रमाण निरूपण एवं प्रमेय निरूपण दो भागों में विभक्त है। प्रथमत: प्रमाण निरूपण में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि तीन प्रकरण हैं। प्रमेय निरूपण में प्रकृति, काल, नित्य विभूति, धर्मभूतज्ञान, जीव, ईश्वर, अद्रव्य आदि सात प्रकरण हैं। इस प्रकार कुल दश प्रकरणों में ग्रन्थ निबद्ध है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के विषय निर्धारित किये गये हैं।

इस ग्रन्थ की कोई और टीकायें उपलब्ध नहीं हैं, केवल पं० वी० कृष्णमाचार्य की संस्कृत एवं अंग्रेज़ी टीका है।

अत: यह प्रकरण ग्रन्थ पूर्णरूप से पूर्व आचार्यों के पथ-प्रदर्शन में चलकर विशिष्टाद्वैत सम्मत प्रमेय निरूपण की अद्वितीय कृति है।

रामानुज :

रामानुज का जन्म 1017 ई० में मद्रास से 36 मील दूर दक्षिण में चिंगलपुट जनपद के श्रीपेरुम्बदूर में हुआ था।[1] स्कन्द पुराण के अनुसार उसे भूतपुरी के नाम से जाना जाता है।[2] यही भूतपुरी आजकल

----

1. (क) भारतीय दर्शन का इतिहास -- एस० एन० दासगुप्त, भाग-3, पृ० 94.

(ख) The Philosophy of Ramanuja by Dr.K.D. Bharadwaj, Introduction, p.2.

2. (क) यत्र भूतपुरं नाम नगरं पापनाशनम्।
तस्य दर्शन मात्रेण नर: पापै: प्रमुच्यते ॥

--स्कन्दपुराणान्तर्गत भूतपुरी माहात्म्यम्, 1.23

(क्रमश:...)

श्री पेरुम्बदूर है ।[1] रामानुज के कई प्रसिद्ध शिष्य हुए जैसे -- भक्त ग्रामपूर्ण मरुधग्रामपूर्ण, अनन्तार्थ, वरदाचार्य और यज्ञेश । उन्होंने सर्वप्रथम गद्यत्रय, वेदान्तदीप, वेदान्तसार और वेदार्थ संग्रह भी लिखा । सम्भवत: श्रीभाष्य रामानुज की, तिरक्को बलुर, तिरुपति, तिरुपुत्र कुली, कुम्भ कोनम्, अलगार कोइल, तिरुपल्लनी, आर्रवार, तिरुनगरी, तिरुकुरुन्तन्गुडी, तिरुवणपरिशारम्, तिरुवत्तर, तिरुवनदपुरम् तिरुवल्लकेण्णी, तिरुनिर्मले, मधुरान्तकम और तिरुवेकुण्डीपुरम की वृहत् यात्रा के बाद लिखा गया हो ।[2]

रामानुज के जीवन का विशद् वृत्तान्त जिन स्रोतों से संग्रह किया गया है वे इस प्रकार हैं -- (1) `दिव्य सूरी चरिते`, जो रामानुज के समकालीन गरुडवाह ने लिखा है । (2) `गुरुपरम्परा प्रबन्धम्`, पिम्बर्रजीय पेरुमाल नीयार ने मणि प्रवाल भाषा में 14वीं शताब्दी के पहले भाग में लिखा है । (3) `पिल्ले लोकम् जीयार` का `रामानुजार्य दिव्य चरिते` नामक तामिल ग्रन्थ, (4) वाम्बि लै कण्डा डैयप्पन् का आलवारों और अंगीयसों का संक्षिप्त परिचयात्मक तामिल ग्रंथ, जो `पेरिय तिरु मुडिड्यैव्य` नाम से जाना गया है । (5) `प्रपन्नामृत` अनन्ताचार्य कृत, जो शेल

(ख) अथ ते प्रीतमनस: सर्वभूतगणा: हरे:
उत्सवं कर्तुमीशस्य पुरीं चक्रुर्मनोहराम् ।।
यस्माद् भूतैरियं सृष्टा पुरी पुण्य विवर्द्धिनी ।
तस्माद भूतपुरी नाम्ना कीर्त्यते भुवनोदरे ।।

-- स्क० भूत० - 2.86-99

1. The Philosophy of Ramanuja by Dr.K. Bhardwaj, Introduction, p.2.

2. गोपीनाथ राउ के व्याख्यान, पृ0 34.

गुरु के शिष्य और अंध्रपूर्ण के अनुवंशज थे । (6) `तिरुवायमोरी` की टीकाएं जिनमें अरंगीयरों की व्यक्तिगत स्वगत स्मृतियों का उल्लेख है तथा अन्य शिलालेख आदि ।

ईश्वर का स्वरूप :

रामानुज के अनुसार ब्रह्म का कोई ऐसा स्वरूप नहीं है, जो किसी भी बन्धन की मर्यादा के परे हो, वह मर्यादा शक्ति इस जगत् के रूप में प्रकट होती है । ब्रह्म अपनी शक्ति से जो जगत् के रूप में स्थित है, हमेशा सम्बन्धित रहने के कारण जगत् की सभी कमियों का आवश्यक रूप में विषय बनता है । सारे परिवर्तन एवं परिणाम ईश्वर की देह में ही होते हैं । उसके स्वरूप में नहीं । ईश्वर, अपने स्वरूप से सर्वदा मल से रहित है और श्रेष्ठ गुण युक्त है जिससे जगत् का क्षोभ जो उसके शरीर से सम्बन्धित है, लेश मात्र भी स्पर्श नहीं करता ।

रामानुज मानते हैं कि ईश्वर अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता । उसे शास्त्रों के आधार पर ही मानना पड़ेगा ।[1] न्याय और योग ने तदुपरान्त ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही माना है, किन्तु रामानुज की दृष्टि में ईश्वर सर्व देश और काल में सर्व व्यापक है । ईश्वर के सर्व व्यापकत्व का यह अर्थ नहीं है कि उसकी सत्ता ही केवल सर्वत्र एक ही सत्ता है, या वह जगत् की सत्ता से एकरस है, अभिन्न है और अन्य सब कुछ मिथ्या है ।

----

1. रामानुज भाष्य, सू0 3.

जीव का विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त --

रामानुज 'वेदान्तदीप' ग्रंथ में जीव के अणु रूप होने से शरीर के एक भाग में रहते हुए भी ज्ञान की शरीर के भिन्न भागों में उत्पत्ति समझाने के लिए, दीपक की रश्मि की उपमा देते हैं। जीव देह के एक भाग में ही रहता है और अपना प्रकाश शरीर के सारे भागों पर फैलाता है जैसेकि एक दीपक। रामानुज कहते हैं कि ईश्वर जीवों को अपनी इच्छानुसार कर्म करने की अनुमति देता है। जीवों की इच्छा को ईश्वर की सम्मति बिना गति मिलना असम्भव है। ईश्वर हम सबमें अन्तर्यामी रूप से स्थित है। उस अन्तर्यामी रूप का प्रतिनिधि हमारा जीव है।[1] यह जीव अपनी इच्छा ज्ञान और प्रयत्नों में स्वतन्त्र है। यह ज्ञान, इच्छा इत्यादि की स्वतन्त्रता, ईश्वर ने हम सभी को दी है और वह इस भौतिक जगत् में क्रियाओं की इस तरह व्यवस्था करता है कि वह हमारी इच्छानुसार हो। रामानुज ने जीवों के केवल ईश्वर की देह माना है, किन्तु वरवर और लोकाचार्य इससे आगे ऐसा मानते हैं कि जिस प्रकार बाह्य पदार्थ जीव के लिए अस्तित्व रखते हैं। जिस प्रकार भोग्य पदार्थ जीव के लिए हैं उसी प्रकार ईश्वर और जीव में शेष और शेषी सम्बन्ध है। ईश्वर शेष है और जीव ईश्वर के नियन्त्रण तथा आधार का विषय शेषी है।

जीव यद्यपि स्वरूपत: निर्मल और शुद्ध है किन्तु अज्ञान से तथा अचित् के सम्पर्क से सांसारिक इच्छाओं से सम्बन्धित हो जाता है।

----

1. रामानुज भाष्य, 2:3:40,41.

जब वह अच्छे गुरु के पास से शास्त्रों का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर प्रतिदिन, आत्म-संयम, तप पवित्रता, क्षमा, सरलता, दान, अहिंसा आदि का अभ्यास करता है और नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का पालन करता है और निषेध कर्मों का त्याग करता है और तत्पश्चात् भगवान् में शरणागति लेता है, उसकी स्तुति करता है निरन्तर उनका ही चिन्तन करता है, उसकी पूजा करता है, नाम जप करता है, उनकी महानता और दयालुता का श्रवण करता है, उसके ही बारे में ही सोचता है, भक्ति करता है, तब रामानुज अपने वेदार्थ संग्रह में कहते हैं कि ईश्वर जीव को संसार से मुक्त कर देता है, उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है।

रामानुज के अनुसार भक्ति भगवान् का सतत चिन्तन है।[1] इसके बिना शुद्ध ज्ञान मुक्ति नहीं दिला सकता। भक्ति का विशेष लक्षण है कि इससे मनुष्य अपने प्रिय जन के लिए कर्म करने के अतिरिक्त अन्य सभी से विरक्त हो जाता है। अन्त में, रामानुज के अनुसार भक्ति भाव नहीं है किन्तु वह एक विशेष प्रकार का ज्ञान है, जो हमें सबसे प्रिय ईश्वर है, के लिए जो नहीं करना है उसे व्यक्त करता रहता है।

रामानुज का भ्रम विषय में मत --समस्त ज्ञान सत्य है --

रामानुज, भ्रम के अन्यथा-ख्यातिवाद की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि भ्रम के ज्ञान के अन्तर्गत, ज्ञान के बोध का या ऐसे ज्ञान से

----

1. वेदार्थसंग्रह, पृ0 146

सूचित व्यवहार की विफलता का कोई समझौता नहीं होगा, जब तक हम अन्ततोगत्वा यह न मानें कि मिथ्यात्व या मूल एक वस्तु का दूसरे रूप में दीखना है। वे ऐसा भी कहते हैं कि भ्रम के अन्य वादों को (सम्भवत: यथार्थ ख्याति को छोड़कर जैसाकि `श्रुतप्रकाशिका` की टीका से सूचित होता है - यथार्थ ख्याति व्यतिरिक्तपक्षेषु अन्यथा ख्याति-पक्ष: प्रबल: - मिथ्यात्व का विश्लेषण इसी प्रकार स्वीकारना होगा कि वह एक पदार्थ का भ्रम से दूसरा दीखना है (ख्यात्यन्तराणाम् तु सुदूरम् अपि गत्वा अन्यथावभास: आश्रयणीय: ।। रामानुज भाष्य)। रामानुज आगे भी यह बताते हैं कि अख्यातिवाद भी (अर्थात् सीप में `इदं` और `रजत` की स्मृति के भेद की अनुपलब्धि से उत्पन्न भ्रम) अन्यथाख्याति का ही एक प्रकार है क्योंकि यहां पर भी अन्त में यही मानना पड़ता है कि दो लक्षणों या विचारों के बीच भ्रम से तादात्म्य किया गया है।

रामानुज, अपने गुरुजनों द्वारा मान्य यथार्थ ख्याति से, जिसे वे `वेदविदामतम्` कहते हैं, पृथक् करते हुए, अपने मत को कई पदों द्वारा प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं कि वे श्रुतिके आधार पर ऐसा समझते हैं कि भौतिक जगत् अग्नि, जल और पृथ्वी इन तीन तत्वों के मिश्रण से बना है, इसलिए, प्रत्येक पदार्थ में उस तत्व के गुण अधिकांश रूप से प्रधान होते हैं और वह उन गुणों वाला कहा जाता है यद्यपि उसमें अन्य तत्वों के गुण रहते हैं। जैसे -- सीप में तेज या रजत के गुण हैं इसलिए यह रजत से एक दृष्टि से मिलता जुलता भी कहा जा सकता है।

रामानुज स्वप्न को, ईश्वर की रचना कहकर समझाते हैं जिसका

आश्रय स्वप्न देखने वालों के चित्त में वैसा ही अनुभव उत्पन्न करने का है। कामला रोग से पीड़ित व्यक्ति को सीप पीली दीखती है, उसे इस प्रकार समझाते हैं कि पीला रंग आंखों में पित्त से उत्पन्न होकर, आंखों की रश्मि द्वारा सीप पर छा जाता है जो सफेद सीप को पीला कर देता है। जब सीप पीला दीखता है तब वह सचमुच पीला बन जाता है, जो कामला के रोगी का नेत्र देखता है, यद्यपि यह उसी व्यक्ति को दीखता है और को नहीं क्योंकि पीलापन उसकी आंखों के निकट है।[1]

रामानुज ब्रह्म को जीव और जड़ जगत् से अभिन्न मानते हैं किन्तु ब्रह्म को जीव और जड़ जगत् से अलग भी कहते हैं। किन्तु वे इसी अर्थ में अभिन्नता को मानते हैं जिस अर्थ में द्रव्य अपने अंश या गुण से एक साथ अभिन्न भी और भिन्न भी है या एक पूर्ण वस्तु अपने अंश से अभिन्न और भिन्न है। व्यक्तिगत जीव और जड़ जगत्, अपने आप स्वतन्त्रता से सत्ता नहीं रख सकते, केवल ब्रह्म के अंश रूप से ही रख सकते हैं।

सत्ता ज्ञान :

अद्भुत रचना युक्त, यह सारा जगत्, जो अद्भुत नियम और विधि द्वारा नियन्त्रित किया जा रहा है वह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, उसी के द्वारा उसकी सत्ता पोषण की जा रही है और अन्त में वह

----

1. भाष्य और श्रुति प्रकाशिका, पृ0 187-188.

इसी में मिल जायेगा । ब्रह्म की महानता की कोई मर्यादा नहीं है । यद्यपि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार तीन प्रकार के गुण के अर्थ में व्यवहृत हैं किन्तु वे तीन द्रव्यों को लक्षित नहीं करते, केवल एक ही द्रव्य को लक्ष्य करते हैं जिसमें वे रहे हुए हैं । उसका सच्चा स्वरूप तो उसकी अपरिणाम सत्ता और नित्य सर्वज्ञता और देश, काल और लक्षणों में अमर्यादित रही है । शंकर के इस सूत्र (1-1-2) के विवरण का उल्लेख करते हुए रामानुज कहते हैं कि जो ब्रह्मन् को निर्विशेष मानते हैं वे ब्रह्म सूत्र के इस पाठ (1-1-2) में कहे हुए ब्रह्म के गुण को ठीक नहीं समझा सकते, क्योंकि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है ऐसा कहने के बजाय उन्हें यों कहना चाहिए कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का भ्रम ब्रह्म से है । किन्तु ऐसा कहने से भी ब्रह्म की निर्विशेषता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि भ्रम अज्ञानवश होगा और ब्रह्म सारे अज्ञान को प्रकट करने वाला हो जायेगा । वह स्वप्रकाश-स्वरूप होने के कारण ऐसा कर सकता है और अगर उसमें यह भेद है तोवह न तो निर्विशेष ही हो सकता है और न भेद-रहित ही ।[1]

रामानुज, अपने 'वेदार्थ संग्रह' और 'वेदान्त दीप' में यह बताने की कोशिश करते हैं कि किस प्रकार, शंकर के अद्वैतवाद को दूर करके उन्हें भास्कर के सिद्धान्त और अपने पूर्वगामी गुरु यादव प्रकाश के सिद्धान्त से भी हटकर रहना पड़ा । वे भास्कर का साथ न दे सके, क्योंकि भास्कर मानते थे कि ब्रह्म उन मर्यादाओं और सीमाओं से

----

1. जगज् जन्मादि भ्रमो यतस्तद् ब्रह्मे ति स्वोत्प्रेक्षा-पक्षेऽपि न निर्विशेष-वस्तु-सिद्धिः इत्यादि ।

श्रीभाष्य, 3:2:28

सम्बन्धित है जिनसे वह बन्धन में पड़ता है और उनके निवारण से वह मुक्त होता है । वे यादवप्रकाश से भी सहमत न हो सके; जो मानते थे कि ब्रह्म एक ओर शुद्ध है और दूसरी ओर, स्वयं नाना रूप जगत् में परिणमित होता है ।

वेदान्तदेशिक

वेंकटनाथ --

वेंकटनाथ का जन्म 1268 ई0 में कांजीवरम् के दुप्पल नगर में हुआ था । विश्वामित्र गोत्र में उत्पन्न उनके पिता अनन्तसूरि तथा पितामह पुण्डरीकाक्ष थे । लोककथा ऐसी है कि इस छोटी अवस्था में भी उन्होंने ऐसी असाधारण योग्यता प्रदर्शित की कि वात्स्य वरद ने यह भविष्यवाणी की कि वे विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के शक्ति-स्तम्भ बनेंगे और समस्त मिथ्यावादों का खण्डन करेंगे ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भी वरदाचार्य स्वयं के साथ शिक्षा पाई ।[2]

वेंकटनाथ अनेकों विषयों के प्रचुर लेखक थे और प्रतिभासम्पन्न कवि भी थे । काव्य के क्षेत्र में उनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ `यादवाभ्युदय`, `हंस सन्देश`, `सुभाषित नीवि`, और `संकल्प सूर्योदय` है । अन्तिम

----

1. भारत के वैष्णव सुधारक, राजगोपालचार्य कृत ।

2. तत्वमुक्ताकलाप, श्लोक-2 ।

ग्रन्थ दस अंकों का प्रतीकात्मक नाटक है । उन्होंने लगभग 32 स्रोत लिखे जैसेकि `हयग्रीव स्रोत` और `देवनायक पंचाशत्` और `पादुका सहस्रनाम` । उन्होंने कर्मकाण्डी और भक्तिपूर्ण छन्द भी रचे हैं जोकि `यज्ञोपवीत प्रतिष्टा`, `आराधना क्रम`, `हरिदीन तिलक`, `वैरदेव कारिका`, `श्रीपंचरात्र रक्षा`, `सच्चरित्र रक्षा` और `निक्षेप रक्षा` । उन्होंने अनेकों स्रोतों से प्रपत्ति विषयक पद्यों का भी संकलन किया और `न्याय विंशति` लिखा और उसी आधार पर एक दूसरा ग्रन्थ लिखा जो `न्यायतिलक` है, जिसपर उनके पुत्र कुमार वेदान्त देशिक ने टीका लिखी । यह न्याय तिलक की व्याख्या है । उन्होंने एक और ग्रन्थ `शिल्पार्थसार` नामक लिखा, दो ग्रन्थ, `रस भौमामृत` और `वृक्षभौमामृत` नामक आयुर्वेद पर लिखे । एक पौराणिक भूगोल पर, `भूगोल निर्णय` लिखा और `तात्त्विक-ग्रन्थ `तत्व मुक्ता कलाप` गद्य में अपनी टीका सहित लिखा, `टीका सवार्थ सिद्धि` कहलायी । इनका सबका विस्तारसहित उल्लेख वेंकटनाथ के विशेष खण्ड में किया गया है ।

वेंकटनाथ ने विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का व्यापक नैयायिक ग्रन्थ `न्यायपरिशुद्धि` लिखा । इस पर देवराजाचार्य के पुत्र और वेंकटनाथ के शिष्य, श्रीनिवासदास द्वारा आलोचना की गयी है । `न्यायपरिशुद्धि` को दो और भी टीकाएं थीं, `निकाश` शठकोप यति द्वारा, जो अहोबिल के शिष्य थे, और कृष्णतातार्य कृत `न्याय परिशुद्धि व्याख्या` है । वेंकटनाथ ने `न्यायपरिशुद्धि` के परिशिष्ट में `न्याय सिद्धाञ्जन` लिखा, जिसकी विषयवस्तु वेंकटनाथ सम्बन्धी पृथक् खंड में दीगयी है । उन्होंने एक और `परमत-भंग` नामक ग्रन्थ लिखा और `खण्डन-मण्डनात्मक शत-दूषणी` ग्रन्थ लिखा ।

वेंकटनाथ ने श्रीभाष्य की `तत्वटीका` के उपरान्त श्रीभाष्य के अन्तर्गत विवाद के सामान्य विशेष का संक्षेप लिखा जो `अधिकरण सारावली` है। उनके पुत्र कुमारवेदान्ताचार्य या वरदनाथ ने इस पर टीका लिखी जो `अधिकरण सारावली व्याख्या` या `अधिकरण चिन्तामणि` है। उन्होंने दो छोटे प्रबन्ध भी लिखे जो `ककार समर्थन` और `अधिकरण दर्पण` हैं।

वेंकटनाथ ने जीव की व्यावहारिक स्थिति में उसका ज्ञान विस्तार पाता है और संकुचित होता है। मुक्तावस्था में वह विकास की चरमावस्था पर पहुंचता है जब वह समस्त जगत् पर व्याप्त हो जाता है। विशाल और संकुचित होना कर्मों के कारण से है जो अविद्या भी कहलाती है। कर्मों का पालन मनुष्य को सच्चे ज्ञान की जिज्ञासा के लिए अधिकारी बनाता है और सच्चे ज्ञान की प्राप्ति उसे भक्ति के योग्य बनाती है। जब मनुष्य सच्चे ज्ञान का अधिकारी हो जाता है तब वह कर्मों को त्याग कर सकता है। उनके अनुसार भक्ति, पूज्य में प्रीति है, केवल ज्ञान नहीं है। सायुज्य मुक्ति इसी से होती है। सायुज्य की स्थिति जीव ईश्वर की सर्वज्ञता इत्यादि गुणों को ग्रहण करता है। वैष्णवीय मुक्तावस्था को जिसमें भगवान् को सर्वश्रेष्ठ माना है और उससे जनित आनन्द-भोग को जाना है, दूसरी कैवल्यावस्था से पृथक् करते हैं जिसमें मनुष्य अपने को ब्रह्म समझता है और कैवल्य प्राप्त करता है। इस कैवल्यावस्था में भी अविद्या और संसार से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है और मनुष्य एकता को प्राप्त होता है, किन्तु यह वांछनीय अवस्था नहीं है क्योंकि इसमें वह असीम आनन्द नहीं है जो वैष्णव मुक्ति में है। यहां पर यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि

वेंकटनाथ ने भक्ति और मुक्ति मानवी ध्येय को क्रमश: आनन्द भाव और भगवत्-शरण कहते हुए भक्ति और मुक्ति को उच्चतम भावस्तर पर पहुंचाया है ।

अचित् द्रव्य, प्रकृति और उसके विकार :

वेंकटनाथ अचित् जड़ के स्वभाव का वर्णन करते हुए, न्याय वैशेषिक के परमाणुवाद का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं । जड़ वस्तु का छोटे से छोटा कण वह है जो छेद में से जाती हुई सूर्य रश्मि में दीखता है । इससे भी सूक्ष्म पदार्थ द्व्यणुक की कल्पना अनुभव सिद्ध नहीं है क्योंकि वे दृष्टिगोचर नहीं होते । उनकी तुलना पुष्प की अदृष्ट रज से भी नहीं की जा सकती जो हवा के साथ उड़कर सुगन्ध फैलाती है, क्योंकि इन अणुओं में गन्ध का गुण है जबकि अणु सूक्ष्म है और उनमें कोई भी गोचर गुण नहीं होता है ।

वरवर कहते हैं कि काल सत्वगुण रहित प्रकृति है, किन्तु वेंकटनाथ काल को ईश्वर के स्वरूप में उनकी एक विशेष प्रकार अभि-व्यक्ति के रूप में मानते हैं । दिक् आकाश से भिन्न तत्व नहीं है जो पदार्थों को गति का अवकाश देता है । आकाश केवल खालीपन या शून्यता नहीं है, किन्तु वह भाव पदार्थ है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति का त्रिगुणात्मक अनिर्दिष्ट अव्याकृत द्रव्य अनेकावस्थाओं को अतिक्रमण करता हुआ अन्त में इस जगत् के रूप में प्रकट होता है जो मनुष्यों के अदृष्ट और अच्छे कर्मानुसार

सुख-दु:ख उत्पन्न करता है । अदृष्ट की शक्ति कोई पृथक् तत्व नहीं है किन्तु ईश्वर का अनुग्रह या अप्रसन्नता है जो मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्मानुसार कार्य करता है ।

भ्रम और संशय --

वेंकटनाथ के अनुसार भ्रम, जब एक या अधिक असंगत (विरोधी) लक्षण किसी वस्तु में, उनकी असंगति या विरोध को जाने बिना, निर्दिष्ट किये जाते हैं, तब उत्पन्न होता है । यह सामान्यत:, दोषयुक्त प्रत्यक्ष वस्तु से सम्बन्धित, मिथ्या मानसिक प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होता है, जैसेकि सीप को पीला अनुभव करना, एक बड़े चन्द्र को छोटा एवं दो देखना, एक वस्तु में विरोधी गुणों का अनेकान्त प्रतिपादन करना या शंकर मतवादियों का जगत् को सत् और असत् दोनों कहना है ।[1]

संशय, जगत् अणुरूप है इस अनुमित ज्ञान और शास्त्रोक्त ज्ञान कि ब्रह्म ही जगत् का मूल आधार है, के बीच उत्पन्न हो सकता है । नैयायिक तो ऐसा भी सोचते हैं कि दो विरोधी पदार्थों के भिन्न मतों के बारे में भी संशय उत्पन्न हो सकता है ।[2] वेंकटनाथ बताते हैं

----

1. न्यायपरिशुद्धि, पृ० 54-55.

2. समानानेक धर्मोपपत्ते विप्रतिपत्तेरूपलब्ध्यनुलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्श: संशय ।

--न्यायसूत्र - 1.1.23.

(क्रमश:....)

कि `न्याय सूत्र` और `प्रज्ञा परित्राण` दोनों का यह कहना है कि संशय उत्पन्न करने में समान धर्म और अनेक धर्म का ज्ञान, स्वतन्त्र कारण

उद्योतकार इसका अर्थ करते हैं कि प्रत्येक संशय की अवस्था में तीन बातें होती हैं जैसे कि (1) सामान्य गुणों का ज्ञान (2) विशिष्ट गुणों का ज्ञान और (3) विरोधी प्रतिपादन तथा कोई भी विपरीत संभाव्यताओं के विषय में निश्चित करने की कमी के कारण विवादों करने वालों अनिश्चित मानसिक स्थिति का ज्ञान और व्यावर्तक गुण जानने की तीव्र इच्छा। उद्योतकर सोचते हैं कि, संशय ज्ञान की विप्रतिपत्ति के कारण ही उत्पन्न होता है ऐसा नहीं है किन्तु विवादी पुरुषों के मतों में विप्रतिपत्ति से भी होता है, यहां विप्रतिपत्ति का अर्थ वे वादी-विप्रतिपत्ति से लेते हैं। यह मत वरद विष्णु मित्र भी `प्रज्ञा परित्राण` में प्रतिपादन करते हैं जो निम्न श्लोक में है --

साधारणाकृतेर्दृष्ट्यानेकाकारग्रहात् तथा,
विपश्चितामं विवादाच्च त्रिधा संशय इष्यते ।।

-- प्रज्ञा परिमाण, न्याय परिशुद्धि में उद्धृत, पृ0 61 वेंकटनाथ इसे, न्याय मत को अंध होकर स्वीकारना कहते हैं।

है, गलत है ।[1]

मेघनादारि --

मेघनादारि सम्भवत: 12वीं या 13वीं शताब्दी के पूर्वकाल में विद्यमान थे। उनका सम्पर्क, अपने ज्येष्ठ भ्राता राममिश्र से जो रामानुज के शिष्य थे, निकट का रहा है । उन्होंने श्रीभाष्य पर `न्यायप्रकाशिका` नाम की टीका लिखी तथा `भाव प्रबोध`, `मुमुक्षूपाय संग्रह` और `नयद्युमणि` ग्रन्थ भी लिखे । अन्तिम ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त पर महान् ग्रन्थ है जिसका मुख्य वर्ण्य विषय पृथक् खण्ड में दिया गया है । वे आत्रेयनाथ और अध्वर नायिका के पुत्र थे । उनके तीन भाई, हस्त्यद्रिनाथ, वरदराट् और राममिश्र थे ।

----

1. वात्स्यायन सादृश्य गुणों के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न संशय का उदाहरण देते हुए मनुष्य और खम्भे का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसमें ऊंचाई इत्यादि सामान्य गुण दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु असाधारण गुण नहीं दीखते । विशेष गुणों के प्रत्यक्ष से संशय का उदाहरण पृथ्वी का गन्धवान् होना देते हैं कि गन्ध का द्रव्य विशेष गुण नहीं है, न कर्म और न गुण है, इससे संशय उत्पन्न होता है कि पृथ्वी को द्रव्य, कर्म या गुण कहा जाय । उसी प्रकार पृथ्वी में गन्ध का विशेष गुण होने से यह संशय उत्पन्न हो सकता है कि वह नित्य है या अनित्य क्योंकि किसी भी नित्य या अनित्य वस्तु में यह गुण नहीं पाया जाता है ।

मेघनादारि प्रमाण ज्ञान के विषय में कहते हैं कि वह ऐसा ज्ञान है जो वस्तु को दूसरे प्रमाणों के आश्रय बिना, निश्चित करता है जैसेकि स्मृति ।[1]

पिल्लै लोकाचार्य --

पिल्लैलोकाचार्य 36 हज़ार ग्रन्थों के निर्माता कृष्णपादाचार्य स्वामी के पुत्र थे । इनका जन्म कलिवैरिदास गुरु की कृपा से हुआ । किसी समय कलिवैरिदास गुरु अपने शिष्य कृष्णपाद स्वामी के घर अतिशय प्रेमपूर्वक आए । उन्होंने कृष्णपादस्वामी की भार्या के उदर का (जठर) स्पर्श करते हुए कहा -- `कल्याणि ! मेरे समान एक पुत्र प्राप्त करो` । बारहवें मास में `क्रोधन्` नामक संवत्सर में, सूर्य के तुला राशि में होने पर एक पुत्र को उसने जन्म दिया । पिता ने पुत्र का नाम गुरु के आशीर्वाद का ध्यान रखते हुए `लोकाचार्य` रखा । कालक्रम से लोकाचार्य ने अठारह प्रबन्धों की रचना की । इन्होंने तम्मिल भाषा को अपना आधार बनाया । उनके ग्रन्थ हैं -- (1) तनिप्रणवम् (2) तनिद्वयम् (3) तनिचरमम् (4) यादृच्छिकपडि (5) श्रियः पतिप्पडि (6) मुमुक्षुप्पडि (7) परन्दपडि (8) तत्वत्रयम्

----

1. तत्रान्यप्रमाणानपेक्षम् अर्थ -- परिच्छेदकम् ज्ञानं प्रमाणम्, अर्थ-परिच्छेदेऽन्य - प्रमाण - सापेक्ष स्मृतावतिव्याप्ति-परिहारेऽन्य प्रमाणानपेक्षम् इति ।

-- नयद्युमणि, मद्रास, गव० आरि० हस्त० ।

(9) तत्वशेखरा (10) प्रपन्नपरित्राणम्, (11) सारसंग्रह:
(12) प्रमेय शेखर (13) अर्चिरादिमार्ग (14) नवविध सम्बन्ध
(15) नवरत्नमाला (16) संसारसाम्राज्यं (17) अर्थप चक्रम्
(18) श्रीवचनभूषण ।

लोकाचार्य के अनुज रम्यजामातृदेवगुरु थे । इन्होंने भी आचार्य हृदय आदि ग्रन्थों की रचना की । ये अल्पायु में ही दिवंगत हो गए । इनकी मृत्यु से लोकाचार्य अत्यधिक खिन्न हुए । कभी रुष्कों ने श्रीरंगम् पर आक्रमण किया । कुछ अन्तरंग शिष्यों के साथ ये वन में चले गये । वहां पुलिन्दों ने उनका सर्वस्व ले लिया तथा भगवान् रङ्गनाथ की मूर्ति भी ले ली । इस प्रकार इस शोक से संत्रस्त लोकाचार्य की मृत्यु हो गई ।

श्रीनिवासाचार्य --

यतीन्द्रमतदीपिका के प्रणेता श्रीनिवासाचार्य श्रीमन् महाचार्य के शिष्यों में अन्यतम हैं । यतीन्द्रमतदीपिका के मंगलाचरण में आचार्य की स्तुति करते हुये सिद्ध किया है कि श्रीमन् महाचार्य के शिष्यों में प्रधान शिष्य थे ।[1] यद्यपि श्रीनिवासाचार्य के काल का उल्लेख कहीं

---

1. यतीश्वरं प्रणम्याहं वेदाचार्यं महागुरुम् ।
क्रोमिबाल बोधार्थं यतीन्द्रमतदीपिकाम् ।।
-- यतीन्द्रमतदीपिका, प्रथम अवतार, पृ० 3

भी नहीं मिलता किन्तु वे चूंकि महाचार्य के शिष्यों में प्रधान थे, इससे स्पष्ट है कि उनका भी काल श्रीमन् महाचार्य के काल से कुछ वर्ष पश्चात् का होगा । यह निश्चित है कि -- श्रीमन् महाचार्य का जन्म काल 1 फरवरी 1543 है, और उनका तिरोभाव काल 3 अक्तूबर 1607 है । महाचार्य को प्रख्यात विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध होने में जीवन के 30 वर्ष के लगभग लग गये होंगे । इसके बाद ही उनके छात्रों की पूर्ति हुई होगी ।

महाचार्य के प्रथम शिष्य रहने की भी संभावना हो सकती है अत: श्रीनिवासाचार्य का काल सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध के लगभग अवश्य मानना चाहिये । इनके पिताश्री का नाम श्री गोविन्दाचार्य था, जो श्री वेंकटेश भगवान् के भक्त तथा श्री वेंकटेश मंदिर के सन्निकट में ही विद्यमान स्वामी पुष्करणी पर निवास करते थे । अपने पिता की परम्परा को सुरक्षित रखने के कारण अपने ग्रन्थ के प्रथम मंगलाचरण में श्री वेंकटेश भगवान् तथा श्रीभगवान् के अन्य अर्चावतार रूपों की स्तुति करते हैं ।श्री निवासाचार्य ने विशिष्टाद्वैतदर्शन के मान्य सिद्धान्तों का उन्मीलन अपने पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों को आधार बनाकर किया । इनके द्वारा रचित ग्रन्थ `यतीन्द्रमतदीपिका` दश अवतारों में विभक्त है । जिसमें पूर्व तीन में प्रमाण पर तथा अन्तिम सात में प्रमेयों पर विस्तृत विचार किया है ।

बुच्चि वेंकटाचार्य --

इनका जन्म `आन्ध्र प्रदेश` में `गुट्टी` के समीप `सुरपुरम्` नामक ग्राम में हुआ था । यह सुरपुरम् आजकल निजाम की राज्य भूमि जिला `गुलबर्गा` में प्रवाहित कृष्णा और भीमा नदी के बीच बताया जाता

है । ऐसी जनश्रुति प्रसिद्ध है कि वेंकटाचार्य 'सुरपुरम्' के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में अवतरित हुये थे, ये 'वुक्कपट्टण' परिवार के 'अणोयार्य' के तृतीय पुत्र थे । 'अणोयार्य' सुरपुरम् में 1760 ई0 में आये थे । 'पमिनायकराघव' 1773 ई0 में दिव्यगति को प्राप्त हो गये थे । तदनन्तर उनके पुत्र वेंकटनायक 'सुरपुरम्' की गद्दी को स्वीकार करके अणोयार्य के पुत्र - वेंकटाचार्य हुये जो संभवत: 18वीं शताब्दी में हुये होंगे । 'सुरपुरम्' में अनेक विद्वानों द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध होते हैं ।

इन ग्रन्थों के परिशीलन से सुरपुरम् के सभी विद्वानों की वंशावली को जाना जा सकता है । वंशावली निम्न प्रकार है --

1. वेंकटाचार्य-I 2. अण्णयाचार्य-I

3. नरसिंहाचार्य 4. श्रीनिवासवाताचार्य
अथवा
श्रीनिवासाचार्य

5. वेंकटाचार्य-II 6. अण्णयाचार्य-II 7. श्रीनिवासाचार्य-II

8. श्रीनिवासाचार्य-III 9. श्रीवेंकटाचार्य-III 10. वेंकटाचार्य-IV

इस प्रकार इस वंशावली के अनुसार जो 10वें वेंकटाचार्य हैं, वे ही वुच्चि वेंकटाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनायें निम्नलिखित है --

1. विष्णुसप्तविभक्तिस्तोत्रम् ।
2. वेदान्तकारिकावली ।
3. इन्द्राष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम् ।

0

प्रथम अध्याय

प्रमेय स्वरूप मीमांसा की पृष्ठभूमि

विशिष्टाद्वैतसम्मत प्रमेय निरूपण --

भगवान् शंकर के अवतार श्री आदि शंकराचार्य का उदय भारत गगन में उज्ज्वल भास्कर-सदृश हुआ । उन्होंने वेदों की मर्यादा स्थापित की, अद्वैतवाद का प्रचार किया तथा उसकी स्थापना की । इस प्रकार श्री आदि शंकराचार्य ने वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया । इनके पश्चात् वेदोपदिष्ट परतत्व का अपनी अपनी मान्यता के अनुसार प्रचार करने के लिए क्रमशः श्रीरामानुजाचार्य `विशिष्टाद्वैतवाद`, श्री मध्वाचार्य `द्वैतवाद`, श्री निम्बार्काचार्य `द्वैताद्वैतवाद` और श्री विष्णु स्वामी `शुद्धाद्वैतवाद` का प्राकट्य हुआ । इन प्रधान वैष्णव आचार्यों के शिष्य प्रशिष्यों के द्वारा वैष्णव धर्म भारत वर्ष में अत्यधिक प्रचारित हुआ ।

समस्त विचारधारायें वास्तव वस्तु से परिचय प्राप्त करने के लिये ही प्रारम्भ होती हैं ।[1] सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य सृष्टि और

----

1. `वैद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदम्`

— श्रीमद्भागवतमहापुराण - 1.1.2

आत्मा के रहस्य पर विचार करता आ रहा है। वैज्ञानिक अनुसंधानों, साधना एवं अपने सहज ज्ञान के आधार पर वह समस्त प्रापंचिक ज्ञान के सच्चे रहस्य को हस्तगत करने की धुन में लगा हुआ है।

उपनिषदों में आत्म तत्व के परिज्ञान से अशेष विश्व रहस्य को जान लेने की घोषणा की गयी है।[1]

आचार्य रामानुज प्रकारान्तर से इसी तथ्य को कहते हैं।[2] इसी रहस्य की खोज में अनेक विचार दर्शनों के रूप में विकसित हुये हैं। भारतीय तत्व-ज्ञान का लक्ष्य ब्रह्म, जीव और जगत् के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्धों का पता लगाना है।

प्रस्थानत्रय सिद्धान्त --

प्रस्थानत्रयी के रूप में प्रसिद्ध उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और गीता को आधार मानकर, स्वसिद्धान्त के पोषण के लिए वैष्णव आचार्यों ने समय-समय पर अपनी व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। भगवतपाद शंकराचार्य द्वारा निर्विशेष रूप से की गयी परमसत्ता की विवेचना मनुष्य की सहज रागात्मक-वृत्ति को संतुष्ट नहीं करती। मुख्यत: भगवद्विषयक

----

1. 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्।'
--छान्दोग्य उपनिषद् - 6.1.4

2. 'कारणात् कार्यस्य अनन्यत्वेन कारण विज्ञानेन कार्यस्य ज्ञततया एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानं समीहितमुपपन्नतरम्।'
--श्रीमद्भगवद्गीता - 13.2
श्रीरामानुजभाष्य.

राग के परमोत्कर्ष को दिखाने के लिए ही वैष्णव-दर्शन और वैष्णव-सम्प्रदायों का विकास हुआ । `प्रस्थानत्रयी` को आधार बनाकर वैष्णव आचार्यों द्वारा किये गये विश्लेषण सैंकड़ों तप:पूत साधना मूलक, निर्मल दृष्टि-सम्पन्न महान् आत्माओं द्वारा निर्णीत ब्रह्ममूलक जगत् कारणवाद की ही भिन्न-भिन्न व्याख्यायें हैं, जिनमें कर्कश तर्कों के स्थान पर साक्षात्कृत अनुभूत सिद्धान्तों तथा तथ्यों की रमणीय राशि का दर्शन होता है ।

प्रत्येक वैष्णव आचार्य ने श्रुतियों के आधारपर ही अपने सिद्धान्तों के समर्थन का सुदृढ़ प्रयास किया है । उनको विचारणाओं में प्रवृत्त करने वाला केन्द्रीय तत्व है -- `ब्रह्मकारणवाद` । यह विश्व ब्रह्म स्पन्दन का एक बुद्बुद् है, किन्तु यह अन्तिम सत् एक है या दो है या दो से अधिक यह तथ्य ही वैष्णव आचार्यों की विवेचनाओं में उपलब्ध होता है ।

सभी एक मत से औपाधिक परमात्मा, मायाकल्पित-ब्रह्माण्ड, निर्विशेष ब्रह्म, और मायावाद का प्रबल तर्कों से खण्डन कर ब्रह्म की सविशेषता एवं उसके अगणित गुणगण का प्रतिपादन करते हैं, तथा उसके उस सच्चिदानन्दमय स्वरूप का वर्णन करते हैं, जिसके चरणों की नूपुर ध्वनि मुमुक्षुओं के सोये हुये मन को भी जगा देती है, और वृत्तिशून्य बनाकर उसी में लीन होने की स्थिति पैदा कर देती है ।

आचार्य मध्व को छोड़कर सभी ने ब्रह्म की अभिन्न निमित्तोपादान-कारणता स्वीकार की है, और सभी भिन्न-भिन्न दृष्टियों से ब्रह्म परिणामवाद का ही प्रतिपादन करते हैं । कोई उसे सत्-चित् का

आविर्भाव-तिरोभाव कहता है तो कोई शक्ति या विशेषणों का परिणमन।

परतत्व के स्वरूप के विषय में कुछ मतभेद हैं। आचार्य रामानुज तथा मध्वाचार्य लक्ष्मीनारायण के उपासक हैं। निम्बार्क, वल्लभ तथा चैतन्य शक्तिमान् कृष्ण की उपासना का ही आग्रह रखते हैं। इन तीनों उपासना-पद्धतियों में भी सख्य, वात्सल्य एवं मधुरभक्ति की मुख्यता की दृष्टि से सूक्ष्म अन्तर है। सभी आचार्य जीव-तत्व को ज्ञाता, कर्ता, परतत्व के अधीन और श्वेताश्वतरोपनिषद् के आधार पर अणु-परिमाण स्वीकार करते हैं।[1]

उनकी दृष्टि में जीव स्वरूपत: ब्रह्म अथवा परतत्व से भिन्न होते हुये भी स्वरूप स्थिति, प्रवृत्ति आदि से पराधीन है। जीव की सत्ता अन्तिम तो है, किन्तु जीव सर्वोच्च सत्ता नहीं। केवल आचार्य वल्लभ जीव को अग्नि से व्युच्चरित विस्फुलिंग के समान परतत्व से विनिर्गत अर्थात् उनके स्वरूप का ही एक आनन्द-तिरोहित अंश स्वीकार करते हैं। कट्टर द्वैत वादी आचार्य मध्व को छोड़कर, सभी आचार्य दृष्टिभेद से ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का भेदाभेद ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि उनका अधिक झुकाव भेद-पक्ष की ओर ही है, क्योंकि भेद के बिना उनके सेव्य-सेवक भाव की सार्थकता ही उपपन्न नहीं हो सकती। जीव सर्वदा ही दास, अणु एवं अंश है। उसका यह अणुत्व किसी भी दशा में निवृत्त नहीं होता। मुक्तावस्था में भी उसके अणुत्व

----

1. वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च।
भागो जीव: स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते।।
-- श्वेताश्वतरोपनिषद्, 5.9

की निवृत्ति नहीं होती । जीवात्मा का यह भगवत्कैंकर्य अथवा भगवत् पारतन्त्र्य वैष्णव-दर्शन की असाधारण विशेषता है ।

वैष्णव धर्म का साधारण लक्षण है 'जिस धर्म के द्वारा मानव की भावना का परिष्कार होता है, जिससे उसके हृदय में सत्य, अहिंसा, प्रेम की प्रतिष्ठा होती है, तथा जिसके द्वारा प्राणिमात्र के प्रति दयालुता, स्निग्धता, सहिष्णुता उदारता और मधुरता का संचार होता है - वही वैष्णव धर्म है । हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, आस्तिक, नास्तिक - सभी वर्गों के लोग इस धर्म की ध्वजा के नीचे समान भाव से बैठ सकते हैं । जांति-पांति के बन्धनों से परे सामाजिक भेदभावों को तोड़कर, मानव-मानव को एक धरातल पर खड़ा करने वाला यह वैष्णव धर्म मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का प्रतिफलन है ।

भारतवर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक विदेशियों ने भी इस धर्म को स्वीकार कर गर्व और गौरव का अनुभव किया है । हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, यवन, खस आदि अनेक जातियों और वर्गों के लोग भी इस धर्म की ध्वजा के आश्रय में पवित्र माने गये हैं ।[1] 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इस धर्म का मूल मंत्र है, अहिंसा

----

1. किरात हूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा,
आभीर कङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः ।
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।।
-- श्रीमद्भागवतमहापुराणम् - 2.4.18

इसका आधार है, प्रपञ्च में भावद्विलास इसकी साधना है, तथा प्राणिमात्र से प्रेम इसका सुमधुर फल है । यह धर्म प्रवृत्तिपरक है, निवृत्तिपरक नहीं ।[1]

वैष्णव सम्प्रदाय वर्णन

वैष्णव धर्म के उद्गम स्थान हैं -- `अनन्तकल्याणगुणनिकेतन-भगवान् नारायण` । वैष्णव धर्म के चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं --

1. श्री सम्प्रदाय
2. ब्रह्म सम्प्रदाय
3. रुद्र सम्प्रदाय
4. सनक सम्प्रदाय

इनमें श्री सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री रामानुजाचार्य जी हैं, ब्रह्मसम्प्रदाय के श्री मध्वाचार्य जी, रुद्र सम्प्रदाय के श्री विष्णु स्वामी तथा सनक-सम्प्रदाय के श्री निम्बार्काचार्य जी माने गये हैं ।[2] वैष्णव धर्म के इन सम्प्रदायों में `श्री सम्प्रदाय` ही सबसे पुराना है । इसके अनुयायी

----

1. नारायण परोधर्मः पुनरावृत्ति दुर्लभः ।
   प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ।।
   -- नारदपुराणम्
2. रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः ।
   श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुस्सनः ।।
   --पद्मपुराण

`श्री वैष्णव` कहलाते हैं। इन अनुयायियों की मान्यता है कि भगवान् नारायण ने अपनी शक्ति श्री लक्ष्मी को अध्यात्मज्ञान प्रदान किया। तदुपरान्त लक्ष्मी ने वही अध्यात्मज्ञान विष्वक्सेन को और विष्वक्सेन ने नामालवार को दिया। इसी आचार्य-परम्परा से कालान्तर में आचार्य श्री रामानुज ने वह अध्यात्म ज्ञान प्राप्त किया। इसके फलस्वरूप आचार्य श्री रामानुज ने `श्री वैष्णवमत` को प्रतिष्ठापित कर इसका प्रचार किया।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त

श्री रामानुजाचार्य जी के अनुसार - `ब्रह्म` एक मात्र तत्व न होने पर भी ब्रह्म के `एकत्व` तथा `अद्वयत्व` की हानि नहीं होती, क्योंकि दूसरे दो तत्व - जीव और जगत् - ब्रह्म के अन्तर्गत और आश्रित रूप से सत्य हैं, ब्रह्मसे बहिर्भूत अथवा स्वतन्त्र रूप से नहीं। ब्रह्म सजातीय तथा विजातीय भेद नहीं है, क्योंकि सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म के अतिरिक्त समजातीय या भिन्नजातीय कुछ भी नहीं है, परन्तु ब्रह्म का `स्वगत भेद` है।

चित`जीव` अचित `जगत्` के साथ उनका `स्वगत-भेद` है। वे सम्पूर्ण रूप से ब्रह्म के अन्तर्गत हैं। इसलिए ब्रह्म के समान सत्य हैं, ब्रह्म से पृथक् दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

आचार्य पाद श्री रामानुज जी का कथन है -- चिद्चिद्विशिष्ट ब्रह्म ही `ईश्वर` है। ब्रह्म - `अंशी`, जीव तथा जगत्- `अंश`, ब्रह्म- आत्मा, जीव तथा जगत् - `देह`, ब्रह्म - आधार या आश्रय, जीव तथा जगत् - आधेय या आश्रित। जीव तथा जगत् ब्रह्म से विशिष्ट अर्थात्

धर्मानुयायी भिन्न होनेपर भी `ब्रह्माश्रयी` तथा `पृथक्सत्वहीन` होने के कारण `अभिन्न` है। भेद के विचार से तत्व तीन हैं -- ब्रह्म, चित्, तथा अचित्, परन्तु अभेद के विचार से तत्व एक ही है। वह है `चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म`।

उदाहरण के लिये व्यष्टि के दृष्टिकोण से - मूल, काण्ड, शाखा, पत्र तथा पुष्प - ये पांच अलग-अलग तत्व हैं। परन्तु समष्टि के दृष्टिकोण से - मूल, काण्ड, शाखा, पत्र तथा पुष्प से विशिष्ट वृक्ष - यह एक तत्व हैं। इसलिए रामानुजाचार्य के मत को `विशिष्टाद्वैतवाद` या `विशिष्टाद्वैतमत` कहा जाता है।

रामानुजाचार्य के अनुसार किसी भी प्रमाण द्वारा ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष एवं भेद रहित सिद्ध करना असक्य है, चाहे वह ब्रह्म शुद्ध सत्व हो, सत् चित् आनन्द की इकाई हो या शुद्ध अनुभूति हो क्योंकि सभी प्रमाण सविशेष वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं[1]। प्रत्येक ज्ञान का कोई आधार होता है। अभिव्यक्ति के लिए ज्ञाता और ज्ञेय का होना आवश्यक है। सारे प्रमाण गुणों की मान्यता पर आधारित हैं। अत: अद्वैत का निर्गुण निर्विशेष का सिद्धान्त प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।[2] यह अनुभव के भी विरुद्ध है और तर्कयुक्ति

----

1. निर्विशेषवस्तुनि इदं प्रमाणमिति न शक्यते वक्तुम्, सविशेष विषयत्वात् सर्वप्रमाणानाम्।

--श्रीभाष्य - 1.1.1, पृ0 50

2. इदमहमदर्शमितिकेनचित् विशेषेण विशिष्ट विषयत्वात् सर्वेषा-मनुभवानाम्।

-- त्रि0 भ0 ना0 - 2.13

का भार सहन नहीं कर सकता । शास्त्र भी निर्गुण निर्विशेष सत्ता का प्रतिपादन नहीं करते । डा० राघवाचार्य ने भी विशेषण रहित और भेद रहित ब्रह्म की सिद्धि असंभव मानी है ।[1]

आचार्य रामानुज ने विशाल धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य का अनुशीलन करके श्रुति, स्मृति एवं अनुभव के आधारपर निर्गुण एवं सगुण उपनिषद् वाक्यों का समुचित आदर करते हुये चित `जीव` अचित `प्रकृति` विशिष्ट `ब्रह्म` के सिद्धान्त को पल्लवित एवं पुष्पित किया ।[2] उन्होंने निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म प्रतिपादक उपनिषद् वाक्यों में समन्वय स्थापित करते हुये सिद्ध किया है कि

----

1. (अ) सर्वपरिपूर्णस्य परब्रह्मणः परमार्थतः साकारं विना केवल निराकारत्वं यदभिमतं तर्हि केवल निराकारस्य गगनस्येव परं ब्रह्मणोऽपिजडत्वमापद्यते ।

-- त्रि० म० ना० - 2.13

(ब) राघवाचार्य (एस० एस०) : विशिष्टाद्वैत, पृ० 25

2. (क) `अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे शेषशायिने` -- वे०सं०, पृ० 1

(ख) `नासदासीन्नो, सदासीत् तदानीम्` -- यजुर्वेद, 2.8.9

(ग) `इत्यत्रापि सदसच्छब्दो चिदचिद्विशिष्ट विषयो`

--श्री० भा० - 1.1.1

(घ) `अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैकमेव तत्वम् ।`

-- न्या० सि०, पृ० 2

निर्गुण का अर्थ हेय गुण रहित । ब्रह्म सत्व, रजस् एवं तमस् इन तीन प्राकृतिक गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण एवं समस्त कल्याण गुणाकर, अप्राकृतिक दिव्य गुण युक्त होने के कारण सगुण है । आचार्य रामानुज ने अपने अद्वितीय ग्रन्थ `श्रीभाष्य` के आरम्भ में ही `ब्रह्म` शब्द से निखिल दोष रहित, अनवधिक असंख्य कल्याण गुणाकर पुरुषोत्तम का उपादान किया है ।[1]

चिद्चिद् विशिष्ट ब्रह्मवाद की विशेषता यह है कि इसमें धर्म के इष्टदेव एवं दर्शन के `ब्रह्म` में तादात्म्य स्थापित किया है । डा० अणिमा सेन गुप्ता ने विशिष्टाद्वैत की इस समन्वयवादी धारणा को महान् उपलब्धि बताया है ।[2] रामानुजाचार्य का ब्रह्म सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् - का मूर्त स्वरूप है । प्रख्यात् विद्वान् डा० पी० एन० श्रीनिवासाचार्य ने रामानुज के ब्रह्म को नित्य गुणों एवं नैतिक मूल्यों

----

1. (अ) परस्य ब्रह्मण: प्राकृतहेयगुणान् प्राकृतहेयदेहसम्बन्ध
तन्मूल कर्मवश्यता सम्बन्धं च प्रतिषिध्यकल्याणगुणान्
कल्याणरूपंवदन्ति । --श्रीभाष्य - 1.1.21

(ब) `सत्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृतागुणा: ।।
वि० पु० 9.44.1

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्य शेषत: ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभि: ।।
-- वि० पु० - 6.5.79

(स) `ब्रह्म शब्देन स्वभावतो निरस्त निखिल दोषोऽनवधिकातिशय
असंख्येय कल्याणगुण गण: पुरुषोत्तमोऽभिधीयते ।
--श्रीभाष्य - 1.1.1, पृ० 4

2. डा० अणिमा सेन गुप्ता : फिलासफी आफ रामानुज, पृ० 201

का संगम स्थल कहा है ।[1]

किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय में अवगाहन से पूर्व उसके द्वारा स्वीकृत तत्वों का ज्ञान आवश्यक होता है । तत्वों का यह विशद् विभाजन विशिष्टाद्वैत वेदान्त के इतिहास में अद्वितीय स्थान रखता है । वेदान्त देशिक ने ही सर्वप्रथम तत्वों का विस्तृत एवं विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है ।

तत्व की परिभाषा

वास्तविक पदार्थ जो किसी भी प्रमाण द्वारा बाधित न हो तत्व कहलाता है । इसे अबाधित वस्तु भी कह सकते हैं । वेदान्त-देशिक के अनुसार तत्व पदार्थमात्र है ।[2]

इस प्रकार से विशिष्टाद्वैत सम्मत प्रमेयांश पर शोध-कार्य प्रस्तुत कर रहा हूं ।

प्रमेय लक्षण --

प्रमेय की व्युत्पत्ति करते हुये कहा गया है कि - जो प्रकृष्ट रूप से जानने योग्य हो उसे प्रमेय कहते हैं ।[3] प्रमेय शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण की दृष्टि से दो प्रकार से की जाती है --

----

1. श्रीनिवासाचार्य (पी० एन०) : विशिष्टाद्वैत, पृ० 17
2. 'अत्र तत्वमिति पदार्थ मात्रोक्ति: ।'
   --सर्वार्थसिद्धि - 1.6
3. 'पूर्वधातुरूप सर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन ।'

प्रथम पक्ष --

धातु का पहले उपसर्ग से सम्बन्ध और उसके बाद वह कारक से युक्त होता है, इस पक्ष के अनुसार प्रमेय शब्द का अर्थ है -- प्रकृष्ट ज्ञान । अर्थात् यथार्थ ज्ञान प्रमा है, उसका जो विषय होता है, उसे प्रमेय कहते हैं । यह प्रमेयत्व सर्वपदार्थ साधारण सामान्य धर्म है ।

द्वितीय पक्ष --

दूसरे पक्ष में धातु का प्रथम कारक से सम्बन्ध होता है, तत्पश्चात् उपसर्ग से सम्बन्ध होता है ।[1] अत: इस पक्ष के अनुसार प्रमेय शब्द का अर्थ होता है - मिति - अर्थात् ज्ञान का विषय मेय कहलाता है ।

इस प्रकार जो प्रकृष्ट तथा मेय हो उसे प्रमेय कहते हैं । निष्कर्षत: जो भलीभांति जानने योग्य हो उसे प्रमेय कहते हैं । यह प्रमेयत्व विशेष धर्म है ।[2]

विशिष्टाद्वैत दर्शन में प्रमेय तत्त्व को दो भागों में विभक्त किया जाता है -- द्रव्य एवं अद्रव्य ।

द्रव्य पदार्थ

द्रव्य पदार्थ को भी दो भेदों में बांटा जाता है -- जड़ एवं अजड़ ।

----

1. 'पूर्वधातु: साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण' ।

2. 'प्रकर्षेण मेयं प्रमेयम् ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 69

जड़ द्रव्य में प्रकृति एवं काल को लिया गया है ।[1] अजड़ द्रव्य को भी प्रत्यक् तथा पराक् भेद से दो प्रकार का माना जाता है ।

इन पराक् एवं प्रत्यक् में भी विभाग किये गये हैं ।

पराक् में नित्य विभूति व धर्मभूतज्ञान को ग्रहण किया जाता है ।

प्रत्यक् में जीव और ईश्वर इन दो तत्वों को माना जाता है ।[1]

अद्रव्य पदार्थ --

इस अद्रव्य पदार्थ को दस (10 भागों में बताया गया है --

(1) सत्व (2) रज (3) तम (4) शब्द (5) स्पर्श (6) रूप (7) रस (8) गंध (9) संयोग (10) शक्ति ।

न्याय अभिमत प्रमेय बारह (12) भागों में विभक्त हैं --

(1) आत्मा (2) शरीर (3) इन्द्रिय (4) अर्थ (5) बुद्धि (6) मन (7) प्रवृत्ति (8) दोष (9) प्रेत्यभाव (10 फल (11) दुःख (12) अपवर्ग ।[2]

---

1. प्रमेयं द्विविधं प्रोक्तं द्रव्याद्रव्य विभेदतः ।
जडाजडत्वभिन्नेऽत्वेत्र द्रव्ये तद् द्विविधं जडम् ।।
अजडं तु पराक् प्रत्यगितिभेदात् द्विधा स्थितम् ।
पराङ्ग नित्य विभूतिश्च धर्मभूत मतिस्तथा ।।
प्रत्यक् जीवेश्वरभिदाशाली - वेदान्त कारिकावली,
का० सं० 3.5

2. आत्मशरीरेन्द्रियार्थ बुद्धिमनः प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव फल दुःख अपवर्गास्तु प्रमेयम् । -- न्याय दर्शन - 2.1.9

विशिष्टाद्वैत दर्शन में द्रव्यों की संख्या को छः भागों में विभक्त किया गया है --

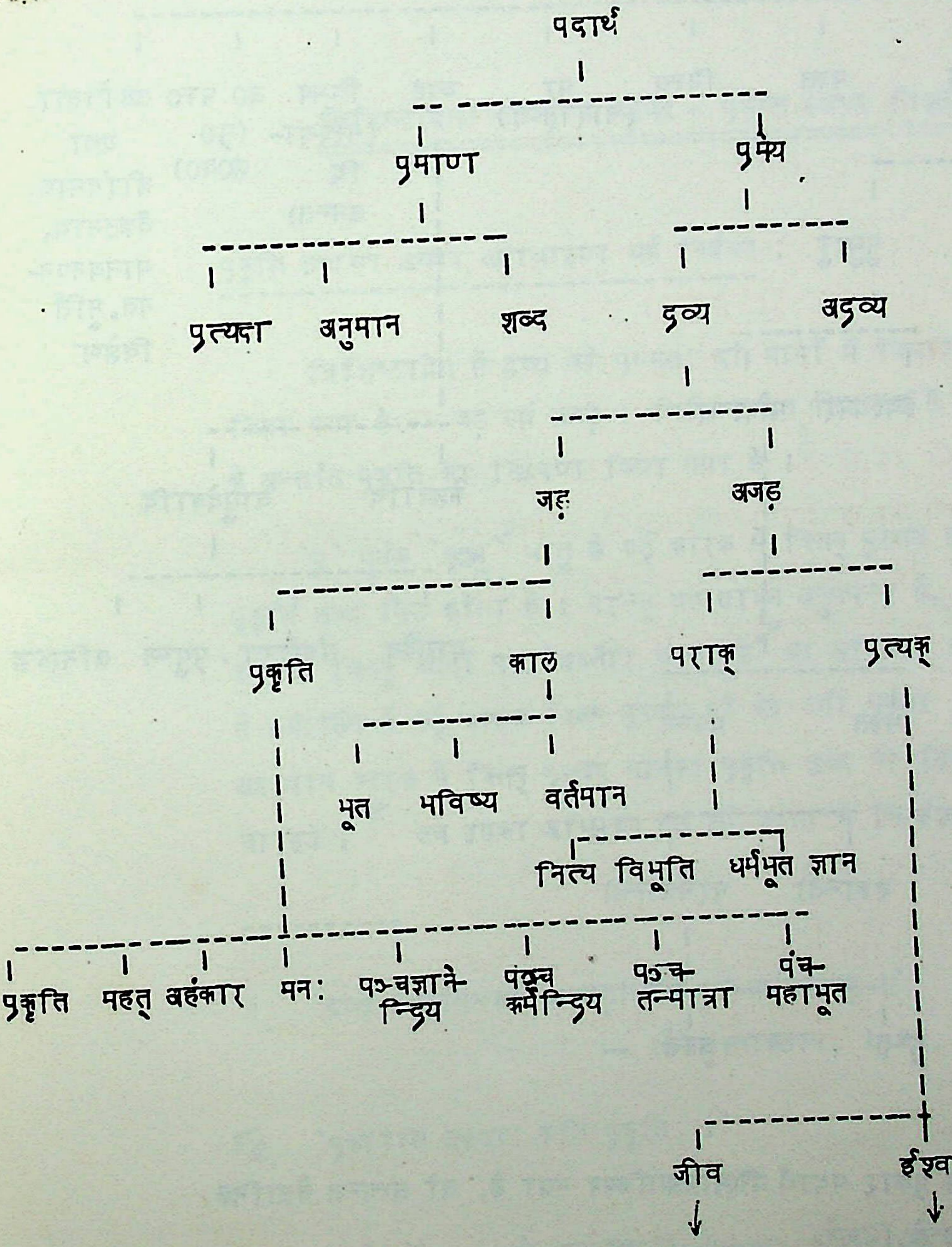
(1) प्रकृति, (2) काल, (3) शुद्धसत्व, (4) धर्मभूत ज्ञान, (5) जीव, (6) ईश्वर ।

इस प्रकार हम पदार्थों को युक्तियुक्त द्रव्य तथा अद्रव्य रूप में सिद्ध करते हैं । वस्तुत: विशिष्ट ब्रह्म तत्व के अन्तर्गत सभी पदार्थ द्रव्य एवं अद्रव्य के रूप में विभक्त हैं । उनमें अधिकांश पदार्थ द्रव्य कोटि में निविष्ट होते हैं, कई अद्रव्य कोटि में सन्निहित होते हैं । ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो इन दोनों कोटियों में नहीं होता हो । द्रव्य का लक्षण उपादानत्व है, जिस पदार्थ में अवस्था का आश्रय होता है, वह उपादान है, एवं वह द्रव्य कहलाता है । जो धर्म आगन्तुक एवं अपृथक् सिद्ध हो वह धर्म अवस्था कहा जाता है । किन्तु जिस पदार्थ में अवस्था न होती हो वह पदार्थ अद्रव्य है । इस प्रकार का पदार्थ जिसमें द्रव्यत्व नहीं है, इसलिए वह अद्रव्य कहलाता है ।

अत: द्रव्य एवं अद्रव्य के अतिरिक्त पदार्थों का तीसरा प्रकार असंभावित है, इसीलिये सभी पदार्थ इन दोनों के अन्तर्गत हो जाते हैं ।

इस द्रव्य-अद्रव्य विभाग की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी स्वयमेव सिद्ध है, इसका किसी प्रकार से अपलाप नहीं हो सकता ।

विशिष्टाद्वैत में विभाजित पदार्थ



- जीव
  - बद्ध
    - बुभुक्षु
      - अर्थकामपर
      - धर्मकामपर
        - देवतान्तरपर
        - भगवत्पर
    - मुमुक्षु
      - कैवल्यपर
      - मोक्षपर
        - भक्त
        - प्रपन्न
          - एकान्ती
          - परमैकान्ती
            - दृप्त
            - आर्त
  - मुक्त
  - नित्य
- ईश्वर
  - पर (नारायण)
  - व्यूह
    - केशवादि
    - वासुदेवादि
      - वासुदेव
      - संकर्षण
      - प्रद्युम्न
      - अनिरुद्ध
  - विभव (मत्स्यादि अनन्त)
  - अ० पा० (पृ० श०व०)
  - अर्चावतार यथा श्रीरंगनाथ, वैंकटनाथ, मानवनयनगत, मूर्ति विशेष

इस प्रकार पदार्थ विभाजन किया गया है, जो अत्यन्त वैज्ञानिक एवं स्पष्ट है।

द्वितीय अध्याय

विशिष्टाद्वैतसम्मत प्रथम जड़भेद - प्रकृति स्वरूप विश्लेषण

प्रकृति लक्षण अथवा असाधारण धर्म निर्वचन :

विशिष्टाद्वैत में द्रव्य को प्रथमत: दो भागों में विभाजित किया गया है -- जड़ एवं अजड़ । विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जड़ द्रव्य[1] के अन्तर्गत प्रकृति का निरूपण किया गया है ।

`प्र` पूर्वक `कृञ्`[2] धातु से कर्तृ कारक में क्तिन् प्रत्यय होकर प्रकृति शब्द सिद्ध होता है । परन्तु यह साधन अनुपपन्न है, क्योंकि `स्त्रियां क्तिन्`[3] यहां पर `अकर्तरि च कारके`[4] का अधिकार होने से स्त्रीलिंग में कर्तृ कारक क्तिन प्रत्यय हो ही नहीं सकता । अत: अपादान कारक में क्तिन् प्रत्यय मानकर प्रकृति शब्द की सिद्धि करनी चाहिये ।[5] तब इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि ईश्वर जिससे

----

1. `द्रव्यं द्वेधाविभक्तं जड़मजड़मिति प्राच्यमव्यक्तम् ।`
-- तत्वमुक्ताकलाप, 1.6

5. `प्रकरोति अस्या: इति प्रकृति: ।`
-- माठर वृत्ति

2:- ~~[illegible]~~ डुकृञ् करणे, 6/4/42. लघुसिद्धान्तकौमुदी

3:- स्त्रियां क्तिन्. 3/3/94. लघुसिद्धान्तकौमुदी

4:- अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्, 3/3/19. लघुसिद्धान्तकौमुदी

विकारों को उत्पन्न करता है, वह प्रकृति है ।[1]

सांख्यकार प्रकृति की सत्ता अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं, उनका मानना है कि सुख, दुःख मोहात्मक संसार का कारण भी वैसा ही त्रिगुणात्मक होना चाहिये ।[2] क्योंकि कार्य में कारण के गुण विद्यमान रहते हैं । जैसे पट तन्तु का कार्य होने के कारण सुख, दुःख मोहात्मक है ।[3]

आचार्य वेदान्त देशिक को यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं । वे प्रश्न करते हैं कि कारण गुणों का कार्य के साथ सम्बन्ध क्या है ? कारण गुण तादात्म्य या कारण के प्रतिगुणभूतत्व कारण और कार्य के गुण एक नहीं हो सकते क्योंकि पट का श्वेतपन तन्तुओं से तादात्म्य नहीं रखता । पदार्थ रूप से कार्य, कारण गुणों से एक नहीं क्योंकि श्वेतपन और पट दोनों एक नहीं हैं । अगर कहा जाये कि कार्य कारण में रहता है तो इसके लिए कारण में कार्य जैसे गुण

----

1. 'विकारान् प्रकरोतीति प्रकृतिः ।'

-- सांख्यकारिका, पृ० 92

2. सुख दुःखमोहात्मकस्य प्रपञ्चस्य तथा विध कारण मवधारणीयम् ।

-- सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 546.

3. कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्, यत् कार्यं तत् कारण गुणात्मकं यथा तन्त्वादि गुणात्मकं पटादि । तथा महदादि कार्यजातमदि सुखदुःखमोहात्मकतया साकारणगत सुख दुःखाद्यात्मकं भवति ।

-- सर्वार्थसिद्धि, 1.11

क्यों नहीं होने चाहिये ? यह नहीं समझाया जा सकता । यह भी नहीं कहा जा सकता कि कार्य कारण का सजातीय है । क्योंकि सांख्यकार महत् के कारण प्रकृति को महत् से भिन्न मानते हैं । यदि यह माना जाये कि कार्य में सभी गुण कारण के ही होने चाहिये तो कार्य और कारण में भेद नहीं हो सकेगा । यदि मृत्तिका और सुवर्ण के समान कार्य-कारण मुख्य गुण विशिष्ट माना जाये तो जड़ गोमय से चेतन मक्षिका की उत्पत्ति को, कार्य कारण के दृष्टान्त रूप में नहीं समझाया जा सकता ।[1]

प्रकृति भेद विचार

प्रकृति की चार अवस्थायें एवं दशायें हैं --

1. अविभक्त तमस् -- अविभक्त तमस् भूमिस्थ बीज की भांति है जिसमें परिवर्तन का कोई चिह्न दृष्टिगत नहीं होता ।

2. विभक्त तमस् -- विभक्त तमस् भूमि में बोये गये उस बीज की भांति है जो उगने के लिए तैयार है ।

3. अक्षर -- बीज का परिवर्तित रूप जो पृथ्वी से नमी ग्रहण करता है, अक्षर के समान है ।

----

1. न खलु तन्त्वादि गुणैः शौक्ल्यादिभिः पटस्यतादात्म्यं दृष्टं। तथा च कारणवस्थस्य सुखाधात्य कत्व सिद्धिः । सर्वगुण सजातीयत्व साधने कार्यकारणयोर्निर्विशेष प्रसङ्गात्, मृत्सुवर्णादिवत् कार्य-विशेष व्यवस्थापक कारण स्वभाव साजात्य विवक्षायां गोमय-माक्षिक, धारब्ध वृश्चिकादिषु व्यभिचारात् ।

--सर्वार्थसिद्धि, 1.11

4. अव्यक्त -- अव्यक्त अवस्था उस फूले हुये बीज के समान है जो अंकुर बनने के लिये तैयार है ।

लोकाचार्य ने प्रकृति की केवल तीन अवस्थायें स्वीकार की हैं--[1]
1. अविभक्त तमस्, 2. विभक्त तमस्, 3. अदार ।

कल्प के आरम्भ में प्रकृति परमात्मा के निरीक्षण में सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् की सृष्टि करती है ।[2] यतीन्द्रमतदीपिकाकार के अनुसार प्रकृति जीव के लिए भोग्य विषय, चक्षुरादि भोग्योपकरण तथा चौदह भुवन के रूप में भोगस्थान का सृजन करती है ।[3] सृष्टि की अवस्था में प्रकृति परमात्मा के वास्तविक रूप को जीव से छिपा लेती है ।[4] फलत: माया के वशीभूत होकर जीव संसार को अपने

----

1. अस्य चाविभक्ततमो विभक्ततमोऽक्षार मिति ावस्था विशेषा: सन्ति ।

-- तत्वत्रय, 43.

2. (अ) `जगत्प्रकृतिभावो य सा शक्तिपरिकीर्तिता ।`

-- अहिर्बुध्न्यसंहिता, 3.2.57

(ब) मदीयाप्रकृति: सत्य संकल्पेन मयाध्यक्षोणेक्षिता सचराचरं जगत् सूयते ।

-- गीताभाष्य, 9.7

3. `प्रकृत्यादय जीवस्य भोग्यभोगोपकरणभोग्यस्थानानि च भवन्ति ।`

--यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 47

4. `भगवत्स्वरूप तिरोधानकारी विपरीत ज्ञानजननीं स्वविषयायाश्च भोग्यता बुद्धेर्जननी गुणमयी मायाम् ।

-- गद्यत्रय:, शरणागति, गद्य 1.

योग की वस्तु समझने लगता है ।[1] कल्प के अंत में सभी स्थावरजंगम वस्तुएं प्रकृति में प्रवेश कर जाती हैं तब उनमें कोई भेद नहीं रह जाता ।[2] जयाख्य संहिता के अनुसार जड़ प्रकृति से विकसित तत्व आत्मा के प्रकाश से चेतनता प्राप्त करता है ।[3]

सांख्य और विशिष्टाद्वैत ने प्रकृति समेत 24 तत्व स्वीकार किये हैं -- जैसे - प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, 11 इन्द्रिय (5 ज्ञानेन्द्रिय, 5 कर्मेन्द्रिय, 1 मन) 5 तन्मात्रा, एवं 5 महाभूत ।

जब प्रकृति के सत्व, रजस् एवं तमस् नामक तीन गुण विषमावस्था में होते हैं तो उनमें विकार उत्पन्न होता है । इस विकार के परिणाम स्वरूप त्रिगुणात्मक महत्तत्व की उत्पत्ति होती है । त्रिगुणात्मक महत्तत्व से सात्विक, राजस्, एवं तामस् तीन प्रकार के अहंकार की उत्पत्ति होती है । सात्विक अहंकार से 5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 कर्मेन्द्रियां एवं 1 मन समेत 11 इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं,और तामस् अहंकार से शब्द तन्मात्रा

----

1. 'अस्याकार्यंभगवत्स्वरूप तिरोधानं स्वस्वरूपभोग्यत्व बुद्धिश्च ।'

--गीताभाष्य, 7.14

2. 'स्थावरजंगात्मकानि सर्वाणि भूतानि मामिकांमच्छरीरभूतां प्रकृतिं तम: शब्दवाच्यां नामरूपविभागानर्हां कल्पक्षये मत्संकल्पा-यान्ति ।।'

--गीताभाष्य, 9.7

3. चिद्रूपं आत्म तत्वं यद् अभिन्नं ब्रह्मणि स्थितं ।
तेनैतच्छुरितं भाति अचिद् चिन्मयवद् द्विज ।।

-- जयाख्य संहिता, 3.14

की उत्पत्ति होती है । शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है । आकाश से स्पर्शतन्मात्रा इससे वायु, वायु से जल, जल से गन्ध-तन्मात्रा पृथिवी की उत्पत्ति होती है । राजस् अहंकार सहायक का काम करता है ।प्रकृति एवं महत्तत्व के इस सृष्टिक्रम को निम्नांकित तालिका चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है --

प्रकृति (त्रिगुणात्मक)
|
महत्तत्व (सत्त्व, रजस्, तमस्)
|
अहंकार
|
- सात्त्विक
  - 5 कर्मेन्द्रिय
  - 5 ज्ञानेन्द्रिय
  - 1 मन
- राजस् (सहायक)
- तामस् (भूतानि
  - शब्दतन्मात्रा
  - आकाश
  - स्पर्श तन्मात्रा
  - वायु
  - रूप तन्मात्रा
  - अग्नि
  - रस तन्मात्रा
  - जल
  - गन्ध तन्मात्रा
  - पृथिवी

आचार्य वेदान्तदेशिक ने उपरोक्त सृष्टि क्रम को शास्त्र सम्मत बतलाया है, क्योंकि तैत्तरीयोपनिषद् में आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप, और अप से पृथिवी की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[1]

सुवालोपनिषद् में अप् के तेज में, तेज के वायु में, वायु के आकाश में, आकाश के इन्द्रियों में, इन्द्रियों के तन्मात्राओं में, तन्मात्राओं के भूतादि में, भूतानि के महत्तत्व में विलय होने का वर्णन किया गया है।[2]

श्रीनिवासाचार्य अपनी यतीन्द्रमतदीपिका में और लोकाचार्य ने तत्वत्रय में इसी सृष्टिक्रम को मान्यता दी है।[3] यही सृष्टि क्रम विष्णुपुराण को भी अभिप्रेत है।[4]

----

1. आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेराप:। अद्भ्यः पृथिवी।
--तैत्तरीयोपनिषद्, 2.1.1

2. आपस्तेजसि प्रलीयन्ते। तेजो वायु विलीयन्ते। वायुराकाशे विलीयते। आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु। तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते। भूतानि महति विलीयते।
-- सुवालोपनिषद्, 2.

3. (क) 'राजसाहंकार सहकृताद् भूतादि संज्ञकतामसाहंकारा-च्छब्दादि पंच तन्मात्रा आकाशादि पंच महाभूतानि चोत्पद्यन्ते।' -- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 40

(ख) तत्वत्रय, पृ० 34.

4. विष्णु पुराण - 1.3.66

की उत्पत्ति होती है । शव्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है । आकाश से स्पर्शतन्मात्रा इससे वायु, वायु से जल, जल से गन्ध-तन्मात्रा पृथिवी की उत्पत्ति होती है । राजस् अहंकार सहायक का काम करता है ।प्रकृति एवं महत्तत्त्व के इस सृष्टिक्रम को निम्नांकित तालिका चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है --

प्रकृति (त्रिगुणात्मक)
|
महत्तत्त्व (सत्त्व, रजस्, तमस्)
|
अहंकार
|

सात्त्विक	राजस् (सहायक)	तामस् (भूतानि
5 कर्मेन्द्रिय 5 ज्ञानेन्द्रिय 1 मन		शव्दतन्मात्रा आकाश स्पर्श तन्मात्रा वायु रूप तन्मात्रा अग्नि रस तन्मात्रा जल गन्ध तन्मात्रा पृथिवी

आचार्य वेदान्तदेशिक ने उपरोक्त सृष्टि क्रम को शास्त्र सम्मत बतलाया है, क्योंकि तैत्तरीयोपनिषद् में आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप, और अप से पृथिवी की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[1]

सुवालोपनिषद् में अप् के तेज में, तेज के वायु में, वायु के आकाश में, आकाश के इन्द्रियों में, इन्द्रियों के तन्मात्राओं में, तन्मात्राओं के भूतादि में, भूतानि के महत्तत्व में विलय होने का वर्णन किया गया है।[2]

श्रीनिवासाचार्य अपनी यतीन्द्रमतदीपिका में और लोकाचार्य ने तत्वत्रय में इसी सृष्टिक्रम को मान्यता दी है।[3] यही सृष्टि क्रम विष्णुपुराण को भी अभिप्रेत है।[4]

----

1. आकाशाद्वायु: । वायोरग्नि: । अग्नेराप: । अद्भ्य: पृथिवी ।
 --तैत्तरीयोपनिषद्, 2.1.1

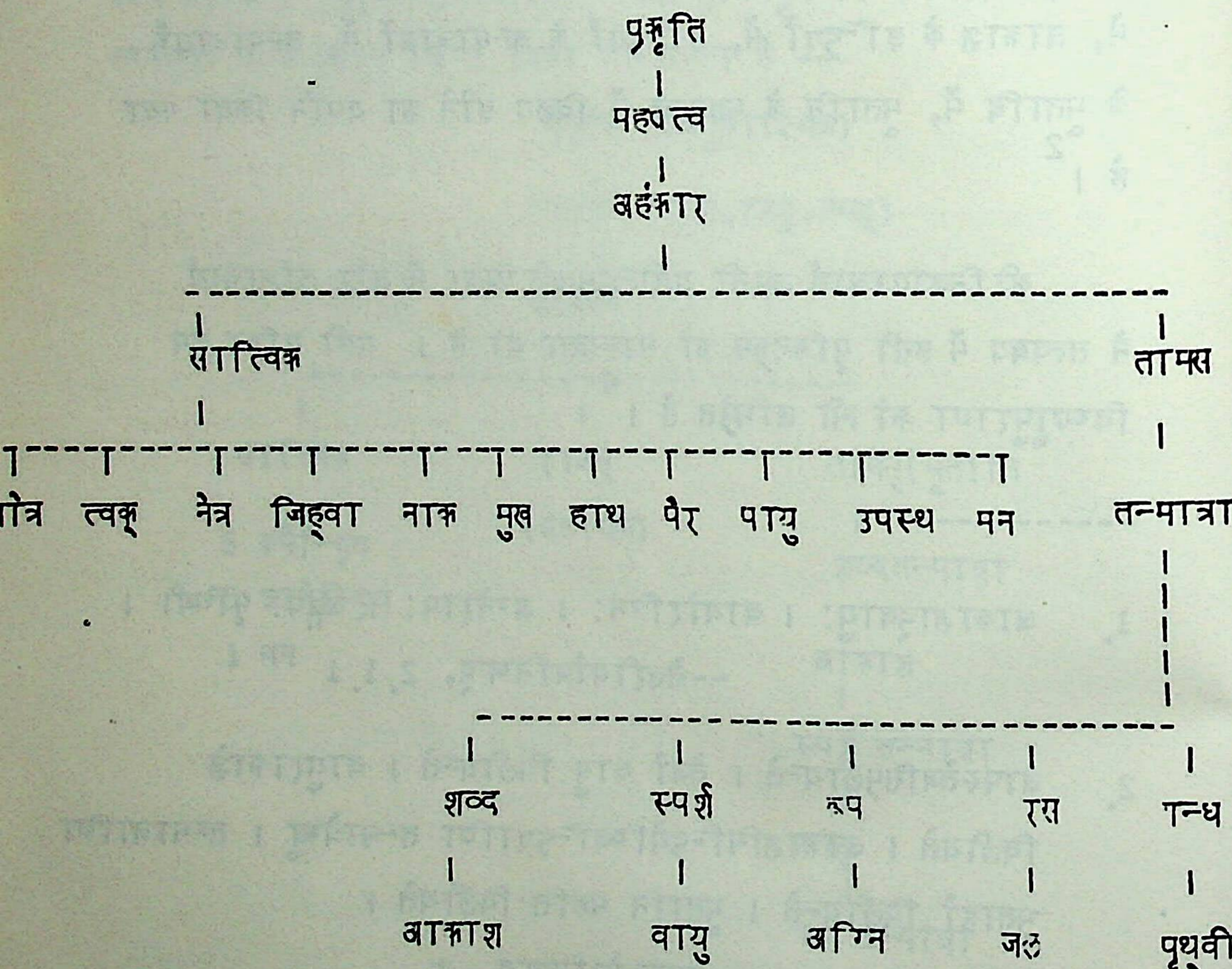
2. आपस्तेजसिप्रलीयन्ते । तेजो वायु विलीयन्ते । वायुराकाशे विलीयते । आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु । तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते । भूतानि महति विलीयते ।
 -- सुवालोपनिषद्, 2.

3. (क) 'राजसाहंकार सहकृताद् भूतादि संज्ञकतामसाहंकारा- च्छब्दादि पंच तन्मात्रा आकाशादि पंच महाभूतानि चोत्पद्यन्ते ।' -- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 40

(ख) तत्वत्रय, पृ0 34.

4. विष्णु पुराण - 1.3.66

सांख्य दर्शन का सृष्टिक्रम उपरोक्त सृष्टिक्रम से भिन्न है ।[1] उनके अनुसार तामस अहंकार से 5 तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है, और 5 तन्मात्राओं से 5 स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है जो निम्नांकित है --



----

1. (अ) 'पंचभ्य: पञ्चभूतानि ।'

--सांख्यकारिका, 22

(ब) 'पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्य: पञ्चभूतान्याकाशादीनि । तत्र शब्द-

(क्रमश:...)

सांख्य तथा विशिष्टाद्वैत की प्रकृति

सांख्य और विशिष्टाद्वैत की प्रकृति में मुख्य अन्तर यह है कि सांख्य की प्रकृति स्वतंत्र है। वह पुरुष के बन्ध एवं मोक्ष के लिए क्रियाशील रहती है, परन्तु वह अपने अस्तित्व के या संचालन के लिए ईश्वर पर निर्भर नहीं है। इसके विपरीत, विशिष्टाद्वैत की प्रकृति ईश्वर द्वारा संचालित जड़-द्रव्य है। यह अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं करती और न ही अपने संचालन के नियम स्वयं निर्धारित करती है। यह ईश्वर की इच्छानुसार कार्य करती है, और ईश्वर द्वारा बनाये गये नियमों का पालन करती है। विशिष्टाद्वैत की प्रकृति एक रंगमंच के समान है, जिस पर ईश्वर द्वारा विश्व की उत्पत्ति रूपी नाटक का निर्माण किया जाता है।[1] जहां तक प्रकृति के स्वरूप का प्रश्न है सांख्य की प्रकृति सत्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था है। अर्थात् सत्व, रजस् एवं तमस् ही प्रकृति है, परन्तु विशिष्टाद्वैत

तन्मात्रादकाशं शब्दगुणकम्। शब्द तन्मात्रा सहितात्
स्पर्श तन्मात्राद वायुः। वायु स्पर्श गुणाम्॥ इत्यादि।
--तत्वकौमुदी, 22.

1. एनामात्मतिरस्क्रिया यवनिकामिच्छाविहारस्थलीं।
निर्व्यापार विभावरी सहचरीं निद्रामनिद्रात्मनः।
ब्रह्मास्तम्बमहेन्द्रजालरचनापिच्छावलीं श्रीमतो
विष्णोर्लोहित शुक्लकृष्णशबलां विद्यामविद्यातनुम्॥
--न्यायसिद्धाञ्जनम्, 1.27, पृ० 227

की प्रकृति के सत्व, रजस् एवं तमस् गुण हैं। इन गुणों को प्रकृति का स्वरूप मानने पर, जैसा कि सांख्य ने माना है, यह कठिनाई होगी कि गुणों के अनित्य होने के कारण प्रकृति भी अनित्य हो जायेगी, अतः प्रकृति गुण नहीं है।

न्याय वैशेषिक एवं विशिष्टाद्वैत की प्रकृति

न्यायवैशेषिक की प्रकृति अणुओं का संघात मात्र है। अणु अचेतन है यद्यपि प्रकृति के परमाणुओं में गतिशीलता है, परन्तु वे यंत्र या इंजन के तुल्य है, जिन्हें चेतन संचालक की आवश्यकता है। वेदान्तदेशिक परमाणुवाद का खण्डन करते हुये न्याय वैशेषिक के मत को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि -- न्याय वैशेषिक ने परमाणुओं को सृष्टि का उपादान कारण स्वीकार किया है। उनके अनुसार आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी परमाणुओं के मिश्रण से बनते हैं।

परमाणु की परिभाषा :

परमाणु नित्य, निर्गुण, निरंश, अपरिमाप्य एवं अदृश्य हैं।

परमाणु का परिमाण :

छेद में से आती हुई सूर्य के रश्मियों में दिखने वाले कणों के

छटे या आठवें भाग को अणु कहा जाता है ।[1] अणु को विभाजित करते हुये जब वह इस अवस्था पर पहुंच जाये कि आगे विभाजित न किया जा सके, परमाणु कहलाता है ।

न्याय-वैशेषिक ने सबसे छोटे अणु के एक विशेष प्रकार के गुण जिसे `पारिमाण्डल्यपरिमाण` कहा जाता है, परमाणु स्वीकार किया है ।

परमाणु की मिश्रण प्रक्रिया --

परमाणुवाद के अनुसार दो परमाणु मिलकर `द्वयणुक` बनाते हैं । `तीन द्वयणुक` मिलकर `त्र्यणुक` बनाते हैं, जो छेद में से आने वाले सूर्य रश्मियों में दिखता है । इसी त्रसरेणुओं से संसार के समस्त पदार्थ बनते हैं ।

परमाणुवाद का निरास :

ब्रह्मसूत्रकार बादरायण, व्यास और श्रीभाष्यकार आचार्य रामानुज ने परमाणु वाद को मान्यता प्रदान नहीं की ।[2] क्योंकि

---

1. जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मं यत् परिदृश्यते तस्य अष्टमो वा षष्टो वा भागोऽणुः परिकीर्तितः ।

-- अलभ्यालाभ, 1.19

2. (अ) `उभयथा च दोषात् । अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षाया ।`

--ब्रह्मसूत्र, 2.2.16-17

(क्रमशः..)

यह सिद्धान्त वेदसम्मत नहीं है। वेद में प्रकृति को विश्व का कारण माना गया है न कि परमाणु को। पूज्यपाद आचार्य शंकर ने भी परमाणुवाद को शिष्टजन अपरिगृहीत होने के कारण अनादरणीय माना है।[1] आचार्य वेदान्त देशिक ने युक्ति और अनुभव के आधार पर परमाणुवाद का खण्डन किया है। प्रथम तो परमाणुओं का मिश्रित होना ही असम्भव है। यदि वो मिश्रित होकर अत्यन्त सूक्ष्म 'द्वयणुक' बना भी लें तो वह भी अदृश्य है। तीन द्वयणुकों का मिश्रण 'त्रसरेणु' गोचर होता है, अत: हमें यहीं रुक जाना चाहिये। परमाणुवाद की कल्पना व्यर्थ है। परमाणु की तुलना पुष्प की अदृष्ट 'रज' से भी नहीं की जा सकती, जो हवा के साथ उड़कर सुगन्ध फैलाती है, क्योंकि उसमें 'गन्ध' गुण है जबकि परमाणु में कोई भी गोचर गुण नहीं है। परमाणु अनुमान से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि हम अणु के विभाजन की उस अन्तिम अवस्था को जहां वह आगे विभाजित नहीं किया जा सकता, परमाणु मानें, तो ऐसा अनुमान करने का हमारे पास कोई आधार नहीं है।

परमाणु जो अखण्ड हैं, दूसरे परमाणु के संयोग में नहीं आ

(ब) "अस्य तु कणादपक्षस्य केनाप्यंशेनापरिग्रहादनुपपन्नत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षैव नि:श्रेयसार्थिभि: कार्या।"

--श्रीभाष्य, 2.2.16

1. 'अयं परमाणुकारणवादो न कैश्चदपि शिष्टै: केनचिदप्यंशेन परिगृहित इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभि:।'

-- ब्रह्मसूत्र, शाबर भाष्य, 2.2.17

सकते और न ही कोई दूसरी इकाई बना सकते हैं ।[1] परमाणु का परिमाण्डल्य परिमाण 'द्वयणुक' में दूसरा नवीन परिमाण नहीं उत्पन्न कर सकता और न ही 'द्वयणुक' 'त्रसरेणु' में भिन्न प्रकार का परिमाण उत्पन्न कर सकता है ।

वेदान्तदेशिक ने अवयव-अवयवी के आधार पर भी परमाणुवाद की आलोचना की है । वे प्रश्न करते हैं कि परमाणु सम्पूर्ण रूप से मिलते हैं या अवयवों के रूप में यदि सम्पूर्ण रूप में मिलते हैं तो एक में दूसरा पूर्णतया विलय हो जायेगा और अपने से बड़ा 'द्वयणुक' नहीं बना पायेगा और यदि अंशतः मिलता है तो परमाणु को अवयव-युक्त होना चाहिये, जबकि नैयायिक परमाणु को अवयव विहीन मानते हैं । दो भौतिक पदार्थ एक दूसरे में अंश द्वारा ही विलय होते हैं, परन्तु परमाणुओं में ऐसा मिश्रण संभव नहीं क्योंकि वे निर्गुण एवं निरंश हैं ।[2] जब दो परमाणुओं का सम्मिलन ही संभव नहीं तो वे विश्व का उपादान कारण कैसे कहे जा सकते हैं ।

आचार्य वेदान्तदेशिक ने अपने न्यायसिद्धाञ्जन में स्पष्ट किया है कि श्रुत्यादि प्रमाणों से सिद्ध होने वाले त्रिगुणावयवों में वैशेषिकाभिमत

----

1. 'कार्यं नैवारभेरन्समधिकमणवः सर्वतस्संप्रयुक्ता ।'
-- तत्वमुक्ताकलाप, 1.18

2. 'द्वयणुकारम्भे तु निरयवा अणवो वयवा इति कल्पितम् ।'
-- सर्वार्थसिद्धि, 1.18

परमाणुओं के स्वभाव का गन्ध तक नहीं है, इसलिए त्रिगुणावस्था वैशेषिकाभिमत परमाणुओं से अत्यन्त भिन्न सिद्ध होते हैं।[1] यदि परमाणु भागों की अनन्तता मान भी लें तो भी सर्प और सुमेरु आदि विभिन्न परिमाणयुक्त वस्तुओं की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि परमाणु अपने से अधिक गुरुता वाले का निर्माण कैसे कर सकते हैं? वृक्षों के अवयव एवं शाखायें, मनुष्य के हाथ, पैर आदि अवयव, परमाणु के कार्य नहीं हो सकते क्योंकि उनमें लम्बन शक्ति है जो परमाणुओं में नहीं है।[2]

अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की प्रकृति :

अद्वैत की प्रकृति अवास्तविक और मिथ्या है क्योंकि उनके यहां केवल ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म के अतिरिक्त प्रकृति आदि सभी तत्व असत्य हैं। इसके विपरीत विशिष्टाद्वैत की प्रकृति एक सत्य तत्व है। इसकी सत्ता वास्तविक है। यह अनादि है, प्रलय में भी इसका नाश नहीं होता। यह मृगमरीचिकावत् अलीक नहीं है। प्रकृति से उत्पन्न जगत् भ्रम नहीं है और न ही स्वप्न है। यह वास्तविक सत्ता वाला है। प्रकृति का विकार, मिथ्या या भ्रम की रचना नहीं, अपितु वास्तविक भौतिक तत्व का विकार है जो सभी परिवर्तनों में भी

----

1. 'श्रुत्यादि सिद्धे पराभिमत परमाणु स्वभाव गन्धाभावेनार्थान्तरत्व सिद्धेः।'

   -- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ० 46

2. 'कार्योपादान भेदे न कथमधिकतो गौरवादेः स्वकार्यम्।'

   --तत्वमुक्ताकलाप, 1.20

स्थिर रहता है। प्रकृति ईश्वर का कार्य और कारण की भांति नित्य एवं अजा है। यह सृष्टिकाल में व्यक्तावस्था में और प्रलयकाल में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहती है। प्रकृति विश्व की आध्यात्मिक प्रगति के लिए परिवर्तित होती है। प्रकृति के सभी कार्य ईश्वरीय प्रशासन में ईश्वरीय नियमानुसार सम्पन्न होते हैं ।[1] प्रकृति ब्रह्म की आच्छादिका नहीं अपितु ब्रह्म की शक्ति है उसके पूर्णतया अधीन है। उसके स्वरूप को तिरोहित नहीं करती और न ही उसमें जीव और जगत् का भ्रम उत्पन्न करती है। माया के रूप में विशिष्टाद्वैत की प्रकृति ईश्वर के पूर्णतया अधीन है, ईश्वरी की दासी है और कठपुतली की तरह ईश्वर के इशारों पर नाचती है, ईश्वर की आज्ञा का पालन करती है।

प्रकृति विकृति विभाग

प्रकृति का अर्थ है जो अन्य तत्व का कारण हो और विकृत का अर्थ है, जो अन्य तत्व का कारण न हो। 24 तत्वों का प्रकृति एवं विकृति में विभाजन करते हुये अथर्ववेद ने प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार एवं पांच तन्मात्राओं के रूप में अष्टप्रकृतियां एवं पांच महाभूतों और 11 इन्द्रियाँ रूपी षोडश विकृतियां स्वीकार की हैं।[2] विशिष्टाद्वैत

----

1. 'निश्शेषं कार्यतत्त्वं जनयति स परो हेतुतत्वेश्शरीरी ।
तत्तत्कार्यान्तरात्मा भवति,च, तदसौ विश्रुतो विश्वरूपः ।'
-- तत्वमुक्ताकलाप, 1.16

2. 'अष्टौ प्रकृतयः षोडशविकाराः ।'
--सर्वार्थसिद्धि, 1.15

के कुछ विद्वानों ने 11 इन्द्रियों और पृथिवी को प्रकृति माना है और शेष को विकृति । जल और अग्नि के सन्दर्भ में प्रकृति और विकृति को लेकर मतभेद है । इन सभी मतों में समन्वय स्थापित करते हुये आचार्य वेदान्तदेशिक ने कहा है कि तत्त्वों का प्रकृति एवं विकृति में विभाजन उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जबकि तत्त्वों की संख्या एवं विकास क्रम विवाद रहित है ।[1]

सांख्य दर्शन सम्मत महत्तत्त्व निदर्शन

त्रिगुण में अव्यक्तावस्था के बाद तथा अहंकारावस्था के पूर्व महत्वावस्था होती है । महत्तत्व के लक्षण निम्न प्रकार से हैं --

1. अव्यक्तावस्था के बाद अव्यवहित उत्तर, जो अवस्था है, उस अवस्था से युक्त त्रिगुण द्रव्य को महत् कहते हैं ।

2. अहंकारावस्था से पहले जो अव्यवहितपूर्वावस्था है, उस अवस्था से विशिष्ट त्रिगुण द्रव्य को महत् कहते हैं ।

3. महत् शब्द का जो वाच्य है वही महत्तत्व है ।[2]

----

1. 'चिन्तासाफल्य माघ्यात् उदासि ।'

--सर्वार्थसिद्धि, 1.15

2. (क) 'कार्योन्मुख विशिष्टायामूलप्रकृतेरेव महदादि कारणत्वम् ।'

--वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ0 33

(क्रमशः...)

सांख्य ने महत्तत्व का लक्षण इस प्रकार से किया है कि महत्तत्व - अध्यावसाय रूप निश्चय व्यापार अर्थात् अध्यवसाय बुद्धि, ही महत्तत्व है ।[1]

सांख्यसम्मत इस लक्षण का खण्डन इस प्रकार से किया गया है कि यदि महतत्व अध्यवसाय व्यापार वाला होता है, तो अध्यवसाय और निश्चय एक ही पदार्थ है । निश्चय आत्मा का धर्म है, वह अचेतन प्रकृति का धर्म नहीं हो सकता ।यदि इस दोष का निवारण करने के लिए सांख्य यह मानता है कि अध्यावसाय का निमित्त कारण बनना यही महत्तत्व का लक्षण है । क्योंकि महत्तत्व से आत्मधर्म अध्यवसाय उत्पन्न होता है, आत्म धर्म अध्यवसाय का निमित्त कारण होने से ही महत्तत्व को, बुद्धि और अध्यवसाय कहते हैं ।

इस पक्ष का निरास करते हुये प्रश्न उठता है कि अध्यवसाय के प्रति निमित्त कारण सामान्य बनना यह लक्षण है ? अथवा निमित्त-कारण विशेष बनना यह लक्षण है ? अत: ये दोनों ही लक्षण समीचीन नहीं हैं क्योंकि काल और अदृष्ट आदि भी अध्यवसाय प्रति

(ख) 'तस्याभगवत्संकल्पाधीनगुणवैषम्यात् कार्योन्मुखावस्था अव्यक्तशब्देनोच्यते । तस्मान्महानुत्पद्यते ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 72

1. 'अध्यवसायो बुद्धिधर्म: ।'

-- सांख्यकारिका, पृ० 159

निमित्त कारण हैं, अत एव उसमें अतिव्याप्ति होती है । दूसरा लक्षण भी उचित नहीं - क्योंकि महत्तत्व का यह विशेषाधिकार समझ में नहीं आता कि जो निमित्त कारण बनने वाले काल आदि में न हो केवल यह तत्व में ही हो, ऐसा विशेषाधिकार अज्ञेय होने से इसका भी निराकरण हो जाता है । कार्योन्मुखवस्थावस्थित प्रकृति से महत्तत्व उत्पन्न होता है । वह महत्तत्व भी तीन प्रकार का होता है -- सात्विक, राजस् एवं तामस् ।[1]

सांख्य `महत्` का कारणत्व इस लिए स्वीकार करते हैं कि शुद्ध चैतन्य और संसार के बीच कोई मध्यस्थ पदार्थ होना चाहिये । जो कि यह पदार्थ चक्षुरादि इन्द्रिय नहीं हो सकती, क्योंकि चक्षुरादि के शांत रहने पर भी संकल्पादि की उत्पत्ति होती है ।

यह कारण मनस् भी नहीं हो सकता, क्योंकि निद्रा में मनस् निष्क्रिय रहता है फिर भी मनुष्य स्वप्न देखता है और व्याघ्रादि के भय से अभि-भूत होता है । यदि अहंकार को कारण माना जाये तो संभव नहीं क्योंकि सुषुप्ति में अहंकार के न रहने पर भी श्वास-प्रश्वास की क्रिया रहती है । अत: सांख्यमतानुसार `महत्` का कारण प्रकृति है, क्योंकि वह असीम है और कारण को कार्य की अपेक्षा अधिक

----

1. (क) `अव्यक्तान्महदुत्पत्ति: सात्विकत्वादिभेदत: ।`
-- वेदान्तकारिकावली, पृ0 33

(ख) `स महान् सात्विक राजसतामसभेदात् त्रिधावस्थित: ।`
--यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 72

परिणाम-युक्त होना चाहिये।

विशिष्टाद्वैत ने सांख्य द्वारा प्रस्तुत तर्कों को अनुपयुक्त बतलाया है। सर्वप्रथम तो अव्यक्त या प्रकृति अपरिच्छिन्न नहीं क्योंकि प्रकृति रूपी तमस् से परे अविनाशी ईश्वर है।[1] प्रकृति ईश्वर के आधीन है यह तथ्य शास्त्र द्वारा सिद्ध है।[2]

अहंकार निरूपण

महतत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। वह अहंकार भी तीन प्रकार के वर्णित हैं -- सात्विक,अहंकार, राजस् अहंकार, तामस अहंकार। क्रमश: इन्हें इन नामों से भी जाना जाता है -- वैकारिक, तैजसाहंकार, भूतादि। इस प्रकार इन तीनों अहंकारों में से राजस् अहंकार से सहकृत सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है[3] जो दो भेदों वाली ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय रूप से जानी

----

1. 'तमसः.... परस्तात् मृत्युं भिनक्ति।'
--सवार्थसिद्धि, 1.11.

2. 'मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्।'
--श्रीमद्भगवद्गीता, 9.10

3. 'महतो हंकार उत्पद्यते। सोऽपिसात्विकाहङ्कारो राजसाहंकारस्ता-मसाहङ्कारश्चेति त्रिविधो भवति। एतेषां त्रयाणां वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति नामान्तराण्यपि सम्भवन्ति। तेषु वैकारिक इतिप्रसिद्धात् तैजससंज्ञकराजसाहङ्कारसहकृतात्सात्त्विकाहङ्कारा-देकादशेन्द्रियाणि जायन्ते।'
--यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 72

जाती है ।[1]

सांख्य के अनुसार अहंकार अहं पद वाला अभिमान वृत्ति से पूर्ण होता है । `मैं रूपवान् हूं ` इस प्रकार की आरोपित अनुभूति ही अभिमान है । इस अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है - जिसमेंपांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा एक मन इन ग्यारह इन्द्रियों का समूह तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध नाम पांच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं ।[2]

दो भिन्न प्रकार के तत्वों को जन्म देना ही अहंकार का कार्य है । अर्थात् एक ओर जहां मन सहित दश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, वहीं दूसरी ओर पञ्चतन्मात्राओं की ।

इन्द्रियों एवं तन्मात्राओं में मौलिक भेद यह है कि इन्द्रियां विषयी हैं, और पंचतन्मात्रायें, उनके विषय हैं ।

सांख्य अभिमत अहंकार अहंकार पदवाच्य है, उसका कारण यह

----

1. अहंकारस्त्रेधा सात्विकात्वादिभेदभाक् ।
वैकारिकस्तैजस च भूतादिरितिभेदत: ।
नामान्तराणि सन्त्येषामहंकारात्मना सताम् ।।
तेषु वैकारिकात् सात्विकाहंकारादुपस्कृतात् ।
एकादशेन्द्रियाणि स्युर्ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मना ।।
--वेदान्तकारिकावली, पृ0 33-34

2. अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविध: प्रवर्तते सर्ग: ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्र पञ्चकश्चैव ।।
--सांख्यकारिका, कारिका सं0 24

है कि यह आत्मभिन्न देह में अहंभाव को उत्पन्न करता है, जिससे देहात्म भ्रम होता है । परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिये क्योंकि प्रत्यगात्मा अर्थात् अपने लिए स्वयं प्रकाशित होने वाला वह आत्मा ही वास्तव में अहमर्थ है, यह अचेतन अहंकार अहमर्थ नहीं हो सकता ।

यह तत्व से उत्पन्न अचेतन अहंकार तत्व को साधक स्वेच्छा त्याग नहीं सकते, क्योंकि वह मुक्ति अथवा प्रलय तक जीव के साथ लगा रहेगा । अहमर्थ आत्मा भी त्याज्य नहीं हो सकता । गीता के अनुसार भी गर्वनामक अहंकार को त्याज्य कहा गया है ।

यह `अहंकार शब्द` विभिन्न व्युत्पत्तियों के अनुसार अनेक अर्थों का वाचक बनकर भिन्न-भिन्न स्थलों में प्रयुक्त होता है । जैसे--

1. अहं पूर्वक `कृञ्` धातु से भावार्थ में `घञ्` प्रत्यय करने पर अहंकार शब्द उत्पन्न होता है । यह अहं बुद्धि का वाचक है ।

2. अहं पूर्वक `कृञ्` धातु से कर्मकारक में `घञ्` करने पर निष्पन्न होने वाला अहंकार शब्द अहं बुद्धि विषयक आत्मा का वाचक है ।[1]

----

1. `अभिमानोऽहंकार इति सांख्या: । तच्च अभिमानस्यात्मधर्म - त्वादसंगतमितिज्ञेयम् । पूर्ववत् अभिमानहेतुत्वात् अभिमानत्व- व्यपदेशो वा भवतु । अस्याहंकार शब्दवाच्यत्वे विद्वानं तु अमात्यनि देहादावहंभाव हेतुत्वम्, न तु परेणामिवाह मर्थत्वम् । सवत्राहमर्थो हि प्रत्यगात्मा, न तु महद्विकारो - हंकारः ।`

-- वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ0 34

3. अहं शब्द से `च्वि` प्रत्यय एवं `कृञ्` धातु करण कारक में `घञ्` प्रत्यय करने पर निष्पन्न होने वाला अहंकार शब्द उस प्राकृत तत्व विशेष का वाचक है, जिससे अहमर्थ भिन्न शरीर आदि में अहं बुद्धि जीवों को हुआ करती है ।

4. अहं शब्द से `च्वि` प्रत्यय एवं `कृञ्` धातु से भावार्थ में `घञ्` प्रत्यय करने पर बनने वाला अहंकार शब्द अहमर्थ भिन्न देहादि के विषय में होने वाली अहं बुद्धि अर्थात् देहात्म भ्रम आदि का वाचक है ।[1] अत: देहात्म भ्रम के कारण होने वाले उस गर्व को जो उत्कृष्ट जन्मों को अपमानित करने का कारण बनता है । जबकि इसका परित्याग कर विवेक द्वारा स्वयं प्रकाशित उस आत्म तत्व को जानकर व्यवहार करना चाहिये ।

इस प्रकार अहंकार के तीनों भेदों से क्रमश: सात्त्विक अहंकार से इन्द्रिय, तामसहंकार से शब्द तन्मात्र, राजसहंकार इन दोनों का सहायक होता है । राजस् अहंकार एवं तामस् अहंकार भी इन्द्रियोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में बने रहते हैं । अत: इनको लेकर अहंकार लक्षण में अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न नहीं होता ।

----

1. `अस्यां व्युत्पत्तौ अहं शब्दात् च्विप्रत्ययमुत्पाद्यप्रक्रिया कर्तव्या । अन्या तु च्वि प्रत्ययं विना अहमिति प्रतीतिरहंकार इति । तत्राहंकारस्य दोषत्वात् त्याज्यत्ववचनं च्विं प्रत्ययान्तव्युत्पन्नाहंकार-शब्दार्थमभिप्रेत्य । `अथातोऽहंकारादेश:` इत्यादि तु च्वि प्रत्यय रहित व्युत्पन्नाहंकार शब्दार्थमभिप्रेत्येति विवेक: ।`

--वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ० 34

इन्द्रिय विभाग - तन्मात्रपञ्चक

सात्विक अहंकार जिसका उपादान कारण हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियों के भेद इन रूपों में किये गये हैं --

1. ज्ञानेन्द्रिय, 2. कर्मेन्द्रिय

ज्ञानेन्द्रिय :

ज्ञानेन्द्रिय उसे कहते हैं जो ज्ञान का प्रसरण करने में समर्थ हो। यह छः प्रकारों में विभक्त हैं -- मन, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक्।

कर्मेन्द्रिय :

कर्मेन्द्रिय उसे कहते हैं जिसके द्वारा वर्णोच्चार, शिल्प निर्माण, संचार, मल मूत्र विसर्जन, आनन्द सम्पादनादि क्रियायें सम्पन्न होती हों उसे कर्मेन्द्रिय कहते हैं। यह पांच प्रकार की होती हैं --

वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।[1]

----

1. ज्ञान प्रसरणे शक्तं ज्ञानेन्द्रियमुदाहृतम्।
तन्मनः श्रोत्रचक्षुस्त्वग्घ्राण जिह्वात्मनामनम्॥
पञ्चधावाक्पाणिपादपायूपस्थ प्रभेदतः।
वर्णोच्चारण हेतुर्वाक् पाणिः शिल्पादि कारणम्॥
--वेदान्तकारिकावली, कारिका सं० 8-12

विशिष्टाद्वैत में भी इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से मानी गई है।[1] परन्तु वैशेषिक में ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति पंच-महाभूतों से स्वीकार की गयी है। उनके अनुसार चक्षु की उत्पत्ति तेज से होती है, क्योंकि चक्षु केवल रूप को ग्रहण करता है।

इसी प्रकार त्वक् इन्द्रिय वायु तत्व से निर्मित है, रसनेन्द्रिय जल से, घ्राणेन्द्रिय पृथिवी से एवं श्रोत्रेन्द्रिय आकाश से।[2]

आचार्य वेदान्तदेशिक केवल रूप ग्राहक होने के कारण चक्षु की उत्पत्ति तेज से मानने को तैयार नहीं क्योंकि रूप को ग्रहण के लिए मात्र चक्षु इन्द्रिय ही नहीं, अपितु कर्त्ता, विषय, रोशनी, इन्द्रिय-सन्निकर्ष एवं बाधक का अभाव आदि साधनों की भी आवश्यकता होती है। चक्षुरिन्द्रिय रूप अभिव्यक्ति के बहुत से साधनों में केवल एक है। दीप भी रूपग्रहण में निमित्त कारण है। शास्त्रों ने इन्द्रियों

----

1. `सात्त्विकाहंकारोपादानकं द्रव्यमिन्द्रियलक्षणम्।
इन्द्रियं द्विविधम् - ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं चेति ।।`
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 73

2. `चक्षुः तैजसं रसाद्यग्राहकत्वे सति रूपग्राहक द्रव्यत्वात् दीपवदिति।
एवं त्वगिन्द्रियं वायवीयं स्पर्शादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवग्राहकत्वात् ।।`
--सर्वार्थसिद्धि, 1.34

की उत्पत्ति सात्विक अहंकार से उद्घोषित की है, अतः उनका निरादर करके भौतिक तत्वों से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानना असंगत है।[1] जहां तक ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि का प्रश्न है, स्पर्श त्वगेन्द्रिय का गुण है, परन्तु वेगवती शीतल वायु, जल के कण शरीर के अन्दर शीघ्र प्रवेश करा देती है, और त्वगेन्द्रिय में प्रवेश के लिये बिना शीत का अनुभव कराती है।[2] अतः चक्षु त्वगादि इन्द्रियों की आकाश एवं वायु आदि से उत्पत्ति मानना अनुपयुक्त है।

इन्द्रिय संख्या विचार

इन्द्रियों की संख्या के विषय में न्याय और विशिष्टाद्वैत में मतभेद है। न्याय केवल पांच ज्ञानेन्द्रियों के अस्तित्व को मानता है, जबकि विशिष्टाद्वैत 5 ज्ञानेन्द्रियों, 5 कर्मेन्द्रियों एवं मन को भी स्वीकार करता है। आचार्य रामानुज ने 5 ज्ञानेन्द्रियों को स्वीकार किया है। परन्तु यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने मन को भी ज्ञानेन्द्रिय

----

1. अदाहङ्कारित्वं श्रुतिपथनिपुणैर्घोषितं, नैव वाध्यम्।
   -- तत्वमुक्ताकलाप, 1.34

2. 'वायुश्च वेगेनाभिधन्न सूक्ष्मान् सलिलकणान् अन्तशरीरं - प्रवेशयति। शैत्यं तु त्वगिन्द्रियप्रवेशवेषम्यात् विशदमनुभूयते।।'
   -- सर्वार्थसिद्धि, 1.34

मानकर 6 ज्ञानेन्द्रियां स्वीकार की हैं।[1] आचार्य वेदान्तदेशिक 5 कर्मेन्द्रियों को भी इन्द्रिय मानने के कट्टर समर्थक हैं। क्योंकि यदि ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान का साधन हैं तो कर्मेन्द्रियां भी चलने फिरने आदि क्रियाकलापों का साधन हैं। अतः यदि रूपादि के ज्ञान के आधार पर ज्ञानेन्द्रियों को स्वीकार किया जाता है तो शारीरिक गति के आधार पर कर्मेन्द्रियों को भी स्वीकार करना चाहिये।[2] आचार्य रामानुज ने भी जीव व्यापार के लिए इन्द्रियों को स्वीकार किया है।[3] जहां तक मृत्यु के समय इन्द्रियों का जीव के साथ प्रयाण का प्रश्न है, तो भगवद्गीता के अनुसार केवल छः इन्द्रियां अर्थात् मन और 5 ज्ञानेन्द्रियां जीव के साथ जाती हैं।[4] परन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार जीवात्मा 11 इन्द्रियों से संयुक्त

----

1. 'तत्षोढामनः श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसना त्वग्भेदात्।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 38.

2. 'रूपादिज्ञानसिद्धौ यदिकरणतया कल्पनं धीन्द्रियाणाम्।
तद्वत् गत्यादिकर्मस्यापि करणतया सन्तुकर्मेन्द्रियाणि।।'

-- तत्वमुक्ताकलाप, 1.36.

3. न सप्तैवेन्द्रियात्यपित्वेकादश हस्तादिनामपि शरीरस्थिते जीवे तस्य भोगोपकरणत्वात् कार्यभेदाच्च।

-- श्रीभाष्य, 4.4.5

4. 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।'

--श्रीमद्भगवद्गीता, 15.7

होकर प्रयाण करता है।[1] आचार्य रामानुज ने भगवद्गीता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुये अपने 'वेदान्त दीप' नामक ग्रन्थ में कहा है कि कर्मेन्द्रियां जीव के साथ नहीं जातीं।[2] परन्तु आचार्य निवास का मत है कि रामानुजाचार्य ने 'श्रीभाष्य' के सप्तगत्यधिकरण में हस्तादि को अतिन्द्रिय कहा है, जिसका अभिप्राय है कि हस्तादि का नाश नहीं होता।[3] अत: सिद्ध है कि कर्मेन्द्रियां भी जीव के साथ जाती हैं क्योंकि उनका शरीर के नाश के साथ नाश नहीं होता।

मनस् चिन्तन

मनस् आन्तरिक इन्द्रिय है। सांख्य अन्त:करण को मन, बुद्धि, अहंकार के रूप में स्वीकार करता है।[4] इन तीनों के कार्य अलग-अलग

----

1. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.9.4

2. 'कर्मेन्द्रियाणि जीवेन साकं न गच्छन्ति।'
--वेदान्तदीपप्रकाश -

3. 'अतएव भाष्ये सप्तगत्यधिकरणे हस्तादीनां जीवेन सह-गमनाभावादनिन्द्रियत्वं सिद्धान्तितम्। हस्तादीनि कर्मेन्द्रियाण्यपि जीवेन सा गच्छन्त्येव न तु विनश्यन्तीति तदाशय:।'
--यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 39.

4. सांख्यस्यैधोक्तमत: करणमिहमनोबुद्ध्यहंकार भेदात्।
चित्तंचान्ये चतुर्थं विदु: उभयमसत् तादृशश्रुत्याभावात्।'
--तत्वमुक्ताकलाप, 1.32

हैं, अतः यह मनोप्रक्रिया के तीन पृथक् अंग माने जाते हैं। बुद्धि का कार्य उद्योग, अहंकार का कार्य अभिमान एवं मन का चिन्तन वृत्ति है। योग इन तीनों के अतिरिक्त चित्त को भी स्वीकार करता है।

विशिष्टाद्वैत को सांख्य और योग का सिद्धान्त मान्य नहीं, क्योंकि इन्द्रियों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में किसी भी श्रुत्यांश में 'मन' के अतिरिक्त बुद्धि अहंकार और चित्त की चर्चा नहीं की। यदि मनस् और चित्त इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है तो भी विभिन्न इन्द्रियों के लिये नहीं। अतः मन एक ही है, भागों में विभक्त नहीं। बुद्धि अहंकार और चित्त मन की अवस्थायें या कार्य हैं। जब मन निश्चय करता है तो इसे बुद्धि कहते हैं, जब गलत निर्णय लेता है तो इसे अहंकार कहते हैं, और जब सोचता है तब इसे चित्त कहते हैं।[1] आचार्य शंकर एवं आचार्य रामानुज दोनों के विचार मन के इन वृत्तियों के विषय में साम्य हैं।[2] बृहदारण्यकोपनिषद् में काम, संकल्प, विचिकित्सा

----

1. 'अध्यवसायाभिमान चिन्ता-वृत्तिभेदान्मन एवं बुद्ध्यहंकार चित्तशब्दैर्व्यपदिश्यते।'

--श्रीभाष्य, 2.4.5

2. (क) 'सर्वार्थविषयं त्रैकाल्यवृत्तिं मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्। तदेव वृत्ति भेदात् क्वचिद् भिन्नवद्व्यपदिश्यते। मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तचेति।'

--ब्रह्मसूत्र, शाबरभाष्य, 2.4.6

(ख) 'कामस्संकल्पः - सर्वं मन एव।'

--बृहदारण्यकोपनिषद् - 3.5.3

और श्रद्धा को मनोविकृतियां माना गया है ।[1] वेदान्तदेशिक ने बुद्धि, अहंकार और चित्त को मन के कार्य स्वीकार किया है । मन ज्ञान का सहायक है । आत्मा को मन की सहायता से विषय का ज्ञान होता है ।

वेदों के अनुसार मन प्रज्ञान, चित्त एवं धृति है ।[2]

यह मन हृदय में स्थित है, और सबसे अधिक गति वाला है । मन के विना कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता ।[3]

मन आकार में अणु है क्योंकि हमें पांच ज्ञानेन्द्रियों के विभिन्न व्यापारों में संलग्न रहने पर भी पांच पदार्थों का एक साथ ज्ञान नहीं होता । इन्द्रियों द्वारा ज्ञान के लिए मन का होना भी आवश्यक है, क्योंकि मन पूरे शरीर में व्याप्त नहीं है । अत: वह एक समय एक ही इन्द्रिय के अर्थ सन्निकर्ष के साथ पहुंच पाता है । यही कारण है कि हमें एक समय एक ही पदार्थ का ज्ञान होता है ।

----

1. 'बुद्ध्याधाख्या निरूढाक्वचिदिह मनसो वृत्ति वैचित्र्यमात्रा योगात् ।'
-- तत्वमुक्ताकलाप, 1.37

2. 'यत्प्रज्ञानमुतचेतो धृतिश्च यज्योतिरन्तरमृतंप्रजासु ।'
-- यजुर्वेद, 24.3

3. 'हृत्प्रतिष्ठितम् जविष्ठम् ।'
'यस्मान्नऋते किंचन कर्म क्रियते ।'
--यजुर्वेद - 34.3-6

तन्मात्रपञ्चक -- परिशीलन

विशिष्टाद्वैत सांख्य स्वीकृत तन्मात्रा से स्थूल भूत की उत्पत्ति को अनुपयुक्त बतलाया है ।[1] क्योंकि उनके अनुसार आकाश का स्थूल भूत अगले भूतों की उत्पत्ति में सहायक का काम करता है । तन्मात्रा- पूर्व तन्मात्रा की सहायता से स्थूल भूत को उत्पन्न करने में असमर्थ है । उपनिषदों में भी आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी के उत्पत्तिक्रम को स्वीकार किया गया है । अतः सांख्य का सृष्टिक्रम शास्त्रानुमोदित नहीं है । वेदान्त देशिक के अनुसार तन्मात्रा शब्द, स्पर्श रूप रस एवं गन्ध की सूक्ष्मावस्था है । जबकि महाभूत उनकी स्थूलावस्था है । तन्मात्रा एवं भूत के मध्य की स्थिति को 'कलल' कहते हैं ।[2] वेदान्तदेशिक के अनुसार दूध में जामन डालने के पश्चात् दही बनने से पूर्व की दूध की ठोस अवस्था को कलल कहते हैं । लोकाचार्य के अनुसार तन्मात्रायें महाभूतों की सूक्ष्म अवस्थायें हैं ।[3]

----

1. सांख्यस्तु पंचापि तन्मात्राणि साक्षात्तमसाऽहंकारोत्पन्नानि तत्र शब्द तन्मात्रं आकाशारम्भक मितराणि तु तन्मात्राणि पूर्व पूर्व तन्मात्रसहकृतान्युत्तरोत्तरभूतारम्भकानित्याहु: तदसत् ।

   --न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 25

2. 'तन्मात्रा भूतभेद: कलल दधिन्यात् तत्वविद्भि0 कलल ।'

   --सर्वार्थसिद्धि, 1.12

3. 'तन्मात्राणि भूतानां सूक्ष्मावस्था: ।'

   --तत्वत्रय, पृ0 52

तन्मात्रसृष्टि - पञ्चीकरण प्रक्रिया

तन्मात्र सृष्टि का विचार करते हुये पाया गया कि सांख्य और विशिष्टाद्वैत की प्रकृति में मूल भेद यह है कि सांख्य की प्रकृति स्वत: संचालित है, जबकि विशिष्टाद्वैत की प्रकृति ईश्वर द्वारा संचालित है। आचार्य वेदान्तदेशिक के अनुसार 'शरीरी' ईश्वर अपने 'शरीर' भूत चित् अचित् सभी तत्वों की सृष्टि करता है, और इनमें अन्तर्यामी रूप से स्थित रहता है। इसी कारण उसे विश्वरूप कहते हैं।[1] आचार्यश्री के इस कथन की पुष्टि विभिन्न शास्त्रों जैसे छान्दोग्योपनिषद्, तैत्तरीयोपनिषद्, विष्णुपुराण, वाल्मीकि-रामायण, एवं भगवद्गीता ने भी की है।[2]

----

1. नि:शेषं कार्यतत्वं जनयति स परो हेतुत्वेशरीरी।
तत्तत्कार्यान्तरात्मा भवति च तदसौ विश्रुतोविश्वरूप: ।।
--तत्वमुक्ताकलाप, 1.16.

2. (अ) 'अनेन जीवेने आत्मा नुप्रविश्य नामरूपेण व्याकरवाणि।'
-- छान्दोग्योपनिषद्, 6.3.2

(ब) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।'
-- तैत्तरीयोपनिषद्, 2.6.1

(स) 'तत्सर्वं वै हरेस्तनु:।'
--विष्णुपुराण, 1.22.38

(क्रमश....)

आचार्य रामानुज ने वेदार्थसंग्रह में ईश्वर द्वारा सूक्ष्म भूतों से महाभूतों की सृष्टि करने के उपरान्त, उनमें आत्मा रूप से प्रवेश करके समस्त जगत् निर्माण करने का शास्त्र सम्मत वर्णन किया है ।[1] वेदान्त देशिक ने गतिशीलता को, पक्षियों के आकाश में भ्रमण को, अग्नि की जाज्वल्यता को, मेघों द्वारा सागर पूर्ति को, पृथिवी के शोधन को और चर, अचर समस्त प्राणियों के व्यापार को ईश्वर की इच्छा के आधीन बतलाया है ।[2] अतः सिद्ध है कि प्रकृति का समस्त परिणाम ईश्वर के प्रेरक व्यापार द्वारा होता है ।

(द) 'जगत्सर्वं शरीरं ते ।'

--वाल्मीकि रामायणम्, 6.121.26

(ई) 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।'

--श्रीमद्भगवद्गीता, 9.10

1. 'तस्मात् भूत सूक्ष्मात् वस्तुनः महाभूतानि सृष्ट्वा । तेषु च भोक्तृवर्गमात्मतया प्रवेश्य, ते चिद्धिष्ठतेः महाभूतैः अन्योन्यसंसृष्टैः कृत्स्नं जगत् विधाय ।'

--वेदार्थसंग्रह - पृ० 183.

2. तत्वमुक्ताकलाप, 1.70.

पञ्चीकरण का सिद्धान्त

प्रकृति का विविध परिणामों द्वारा पंचमहाभूतों में परिवर्तन 'समष्टि सृष्टि' अर्थात् सम्पूर्ण विश्व की रचना के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके उपरान्त विश्व की विविध भौतिक वस्तुओं का सृजन होता है जिसे व्यष्टि 'सृष्टि' कहा जाता है। नाम रूपात्मक इस व्यष्टि सृष्टि का सृजन 'पञ्चमहाभूतों' के एक निश्चित अनुपात में 'मिश्रण' द्वारा होता है। तत्वों के मिश्रण की इस प्रक्रिया को पञ्चीकरण की संज्ञा दी गई है।

पञ्चीकरण प्रक्रिया

सर्वप्रथम आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी नामक पञ्चमहाभूतों को दो-दो भागों में विभक्त किया जाता है।

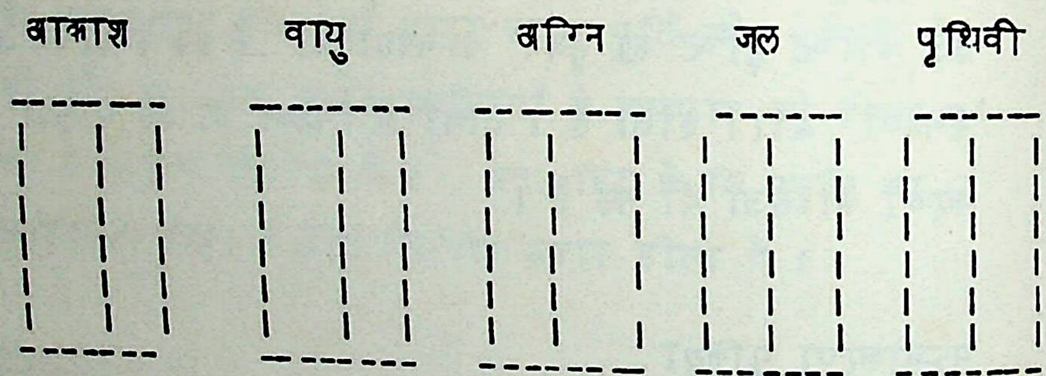
द्वितीय चरण में प्रत्येक भूत के आधे भाग को चार भागों में विभाजित किया जाता है।

अन्तिम चरण में प्रत्येक भूत के आधे के चार भागों को यानि $\frac{1}{8}$ अंश को अन्य चार भूतों के आधे भाग में डाल दिया जाता है।

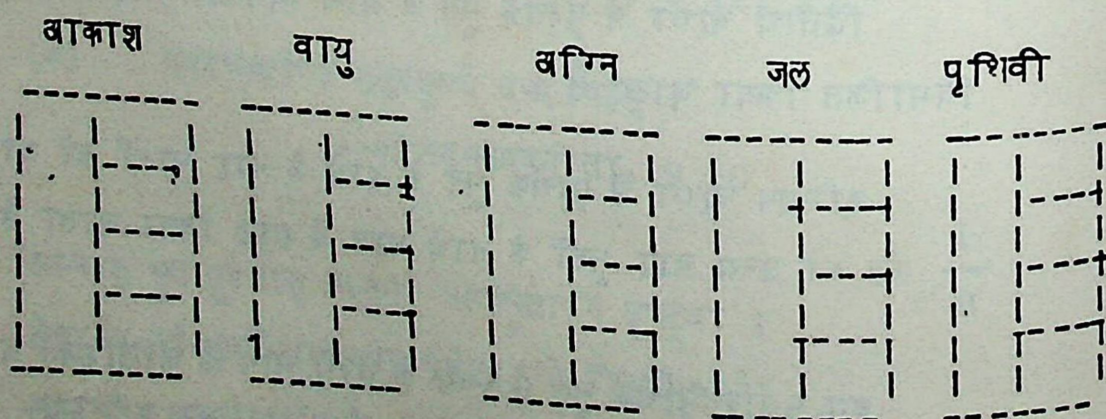
इस प्रकार प्रत्येक भूत में स्वयं के आधे भाग के अतिरिक्त अन्य चार भूतों में से प्रत्येक के $\frac{1}{8}$ अंश सम्मिलित हो जाते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक भूत में अन्य चार भूतों के गुण भी विद्यमान होते हैं।

पञ्चीकरण की इस प्रक्रिया को निम्नांकित चित्र-तालिका द्वारा समझाया जा सकता है[1] --

प्रथम चरण



द्वितीय चरण



----

1. द्वेधा भूतानि भित्वा पुनरपि च भिनत्त्यधर्मैकं चतुर्धा ।
तैरेकैकस्य भागैः परमनुकलयत्यधर्ममर्धचतुर्भिः ।।
-- तत्त्वमुक्ताकलाप, 1-17

अन्तिम चरण

आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथिवी
वायु	आकाश	आकाश	आकाश	आकाश
अग्नि	अग्नि	वायु	वायु	वायु
जल	जल	जल	अग्नि	अग्नि
पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	जल

पञ्चीकरण की इस प्रक्रिया की तुलना मकान बनाने के लिये निर्मित रेत, चूना, सीमेन्ट, रोड़ी और बदरपुर के अनुपातीय मिश्रण से की जा सकती है। जैसे रेतादि के मिश्रण से मकान बनता है, उसी प्रकार पञ्चीकरण के मिश्रण मानव की स्थूल देह का निर्माण होता है। पुनः उसमें जीवात्मा अपने कर्मानुसार प्रवेश करती है और सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों का अनुभव करती है।

त्रिवृत्करण

पञ्चीकरण सिद्धान्त के विरुद्ध एक आपत्ति यह है कि छान्दोग्योपनिषद् में अप्, तेजस्, और पृथिवी इन तीन तत्वों के मिश्रण द्वारा सृष्टि की चर्चा की गई है और त्रिवृत्करण के नाम से अभिहित किया गया है।[1] अतः श्रुति के 'पञ्चीकरण' और त्रिवृत्करण

----

1. 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता --- तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति।'

--छान्दोग्योपनिषद्, 6.3.3

सिद्धान्तों में विरोध है ।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार 'त्रिवृत्करण' श्रुति से 'पञ्चीकरण' का बाध नहीं होता, क्योंकि अधिकतर श्रुतिवाक्य पञ्चीकरण का समर्थन करते हैं । यदि किन्हीं स्थल विशेषों पर तीन तत्वों का ग्रहण किया गया है और अन्य दो तत्व छोड़ दिये गये हैं, तो उन अनुक्त तत्वों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये ।[1] वृहदारण्यकोपनिषद् में मरणोपरान्त, अन्य देह की प्राप्ति के लिये जाते हुये जीव का 'पञ्चभूतमयत्व' स्वीकार किया गया है ।[2] अत: अप्, तेजस्, और पृथिवी के पूर्व आकाश और वायु का ग्रहण न्यायसंगत है ।[3] इस प्रकार पञ्चीकरण का सिद्धान्त इस दृष्टि से भी युक्तियुक्त है कि मानव शरीर को 'पंचभौतिक' कहा जाता है और मृत्यु की प्राप्ति को 'पञ्चत्वंगत:' कहा जाता है ।

----

1. 'अनुक्तानामविरुद्धानामेपिदातानामन्यतोऽपि ग्रहणत्वं स्थापितम् ।'

--सवार्थसिद्धि, 1.17.

2. 'पृथिवीमय, अपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमय: काममय: ।'

--बृहदारण्यकोपनिषद्, 6.4.4

3. 'अपतेजसोर्मध्ये वायवाकाशघटनं कचिदेतनुक्तावपि भूयस्तय तुल्ये तयो ग्रहणं ज्ञापयितुम् ।'

-- अलभ्यालाभ, 1.17

प्रकृति स्वरूप विश्लेषण --

प्रकृति संसार की भौतिक उत्पत्ति का मूलभूत तत्व है। प्रकृति का सिद्धान्त विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त है। प्रकृति अनादि, अनन्त और नित्य है।[1] प्रकृति अजा है, प्रलय काल में रूपों को निगलती है, और सृष्टिकाल में कार्यरूपों को प्रकट करती है।[2] प्रकृति जड़, चेतनाशून्य एवं ज्ञानरहित है।[3] आचार्य वेदान्तदेशिक ने प्रकृति का विस्तृत एवं सर्वाङ्गपूर्ण अनुशीलन किया है।[4] श्री रामानुजाचार्य ने प्रकृति और पुरुष दोनों को श्रुति के आधार पर अनादि स्वीकार किया है।[5]

----

1. 'एषा सनातनी सनमेव जातेषा सर्व बभूव।'

   --अथर्ववेद, 10.8.30

2. 'अजारे पिंशगिला श्वावित करु पिंशगिला।'

   --यजुर्वेद, 23-56

3. 'जड़त्वं चास्वप्रकाशत्वम्।'

   -- सिद्धान्त शिखामणि, पृ० 2.

4. 'द्रव्येषु प्रथमोद्दिष्ट त्रिगुणमादौपरीक्ष्यते।'

   --सर्वार्थसिद्धि, 1.11

5. (अ) 'प्रकृति पुरुषौ उभौ अन्योन्य संसृष्टौ अनादिति विद्धि।'

   -- गीताभाष्य - 13.19

   (ब) 'प्रकृतेरप्यनादिताश्रुतिभिः प्रतिपादिता।'

   --वेदार्थसंग्रह, पृ० 115.

उपनिषदों के अनुसार प्रकृति लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण वर्ण वाली अजा है, अर्थात् जन्म रहित है[1]। प्रकृति का वेग तो दिखता है परन्तु उसका वास्तविक रूप दिखाई नहीं देता।[2] लोकाचार्य ने प्रकृति को ज्ञानशून्य एवं विकारास्पद माना है।[3] इसे प्रकृति इसलिये कहते हैं कि यह समस्त विकारों यानी सांसारिक पदार्थों की उत्पादिका है। ज्ञान विरोधी होने के कारण इसे अविद्या नाम दिया जाता है, तथा विचित्र सृष्टि की उत्पादिका होने से `माया` कहा जाता है।[4] माया के रूप में प्रकृति भगवान् की शक्ति है, जो नानात्मक विश्व का सृजन करती है।[5]

----

1. `अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाम्।`

   --श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.5

2. `घ्राजिरेकस्य ददृशेन रूपम्।`

   -- ऋग्वेद - 1.164.44

3. `अचिज्ज्ञानशून्यंविकारास्पदम्।`

   --तत्वत्रय, पृ0 36

4. `प्रकृतिरित्युच्यते विकारोत्पादकत्वात्। अविद्या ज्ञान विरोधी त्वात् माया विचित्र सृष्टिकरत्वात्।`

   -- वही, पृ0 36.

5. `मम एष गुणमयी सत्वरजस्तमोमयीमाया यस्माद् दैवी देवेन क्रीड़ा प्रवृत्तेन मया एव निर्मिता।`

   --गीताभाष्य, 7.14

प्रकृति गुण - विभाग

प्रकृति के तीन गुण हैं -- सत्व, रजस् एवं तमस्,[1] अतः इसे त्रिगुणात्मक कहते हैं। ये तीनों गुण प्रकृति के स्वरूप एवं स्वभाव हैं, जो प्रलयावस्था में अप्रकट रूप से रहा करते हैं, किन्तु सृष्टि की दशा में प्रकट हो जाते हैं।[2] इनमें सत्व हलका, शान्त एवं तेजयुक्त होता है। यह ज्ञान एवं सुख को उत्पन्न करता है। रजस् क्रियाशील एवं रक्तवर्ण का है। यह राग अर्थात् स्त्री और पुरुषों में परस्पर कामना, तृष्णा तथा संग को उत्पन्न करता है। तमस् भारी एवं कृष्ण वर्ण होता है। यह विपरीत ज्ञान, एकाग्रता का अभाव आलस्य और निद्रा को उत्पन्न करता है।

प्रकृति की द्रव्यता

विशिष्टाद्वैत के अनुसार विश्व के समस्त तत्व द्रव्य एवं गुण के रूप में विभाजित हैं। वेदान्तदेशिक ने प्रकृति को द्रव्य की कोटि में रखा है क्योंकि प्रकृति गुणों का आधार है। यह अवस्था युक्त है और इसमें परिवर्तन होता है। प्रकृति परिवर्तन शील है। प्रकृति विकृति का नियम है। अहिर्बुध्न्यु संहिता के अनुसार प्रकृति पय एवं मृत्तिका के

----

1. 'सत्व रजस्तमांसि त्रयोगुणाः।'

--गीताभाष्य - 15.5

2. 'गुणाः सत्वरजस्तमांसि, एते प्रकृतेः स्वरूपानुबन्धिन स्वभावाः प्रकृत्यवस्थायामनुद्भूता भवन्ति।'

-- तत्वत्रय, पृ० 44

समान परिणामशील है।[1] यह विश्व की प्रगति के लिये परिवर्तित होती है।[2] इसकी विकृति के माध्यम से कर्मों का सिद्धान्त कार्य करता है।[3] यह विकास की प्रक्रियाओं से युक्त है। गुणों की साम्यावस्था में प्रकृति के विकार सम और अस्पष्ट होते हैं, परन्तु विषमावस्था में विकार विषम एवं स्पष्ट प्रतीत होते हैं।[4] साम्यावस्था में प्रलय और विषमावस्था में सृष्टि होती है।

यद्यपि प्रकृति त्रिगुणात्मक द्रव्य है, परन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में यह गुण है, क्योंकि ईश्वर चिद्चिद् विशिष्ट है। प्रकृति ईश्वर का शरीर है और ईश्वर अन्तर्यामी रूप से प्रकृति में स्थित है। प्रकृति ईश्वर का अपृथक् सिद्ध विशेषण है। यह प्रलय दशा में सूक्ष्मावस्था में और सृजन काल में, स्थूलावस्था में ईश्वर के गुण के रूप में विद्यमान रहती है।

0

----

1. 'पयोमृदारिवत् तत्र प्रकृतिः परिणामिनी।'

--अहिर्बुध्न्युसंहिता, 7.5

2. 'अचेतनापरार्था च नित्या सततविक्रिया त्रिगुणकर्मिणानां क्षेत्रं प्रकृति रूपं मुच्यते।'

-- रहस्यत्रयसार, पृ0 52

3. 'सर्वः पुरुषः प्रकृतिसमुद्भवैः सत्वरजोस्तमोभिः प्राक्तनैः कर्मानुगुणं प्रवुद्धैः गुणैः स्वोचितं कर्म प्रत्यवशः कार्यते प्रवर्तते।'

--गीताभाष्य, 3.5

4. 'एतेषां साम्यदशायां विकाराः समा अस्पष्टाश्च भवन्ति, वैषम्यदशायां विकाराः विषमाः स्पष्टाश्च भवन्ति।'

--तत्वत्रय, पृ0 46

तृतीय अध्याय

काल स्वरूप विचार का प्रसिद्ध दर्शन प्रस्थानों में उपलब्ध

काल विषयक चिन्तन

काल लक्षण

काल ईश्वर की लीलाविभूति का अंग है । ईश्वर अव्यक्त प्रकृति की भांति काल में भी अन्तर्यामीरूप से विद्यमान है, और भौतिक सृष्टि के उपादान कारण में सहायक का काम करता है ।[1]

विशिष्टाद्वैत द्वारा सम्पादित द्रव्यों - प्रकृति काल, शुद्ध सत्व, धर्मभूत ज्ञान, जीव एवं ईश्वर को दो भागों में विभाजित जड़ तथा अजड़ द्रव्यों में `काल` जड़ द्रव्य है । यह प्रकृति के सत्व, रजस्, तमस् नामक गुणों से शून्य एवं आकार रहित है । काल भी दो प्रकार - 1. खण्ड काल (काल), 2. अखण्ड काल (अकाल) -- के रूप में माना जाता है ।[1]

सांख्य दर्शन ने काल को पदार्थों में अलग से स्वीकार न करते हुये इसे प्रकृति में ही चित्रित किया है । योग दर्शन में भी काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया है, किन्तु ईश्वर को कालातीत मानता है । न्याय-

----

1. ईशान: सर्वेश्वर: कालं सहकारितया लम्बयेव ।
   लीला विभूतौ प्राकृत प्रपञ्चे सर्वमपि कार्यं करोति ।।
   -- वेदान्त कारिकावली, पृ० 57.

2. गुणत्रय विहीनो य: स जड: काल उच्यते ।
   अखण्डखण्ड भेदेन स कालो द्विविधो मत: ।।
   -- वही

वैशेषिक ने सप्त पदार्थों में काल की गणना की है, और इसे अतीत आदि के व्यवहार का कारण माना है। यह काल समस्त जन्य पदार्थों की उत्पत्ति के प्रति निमित्त कारण है, इसलिए यह काल 'कालिक' संज्ञक संबन्ध से उस उत्पत्ति का अधिकरण है -- अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का आधार है।[1] परन्तु विशिष्टाद्वैत का काल स्वतन्त्र द्रव्य है।

काल एवं अकाल सिद्धान्त विवेचन

काश्मीर-शैव मत एवं वेदान्त दोनों ही प्रणालियों में माया के सिद्धान्त के प्रतिफल के रूप में काल तथा कालातीत अथवा अकाल तत्त्व का निरूपण किया गया है। अद्वैत वेदान्त में चूंकि निरुपाधिक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी सिद्धान्तों की पारमार्थिक सत्ता का सर्वथा निषेध कर दिया गया है किन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में प्रकृति में काल सर्वत्र रहता है। नित्य विभूति में भी काल की सत्ता प्रतीत होती है, इस प्रकार काल का व्यापकत्व सिद्ध होता है। प्रकृति मंडल में सभी कार्य कालकृत होते हैं। दिव्य वैकुण्ठ लोक में सभी दिव्य पदार्थों के परिणाम श्रीभगवान की इच्छा से होते हैं।

विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि भगवान विष्णु जो व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष और काल रूप से स्थित होते हैं, इसे उनकी बालवत् क्रीड़ा ही समझो।[2] विष्णु के परम स्वरूप से प्रधान और पुरुष ये दो रूप हुये, उसी के जिस अन्य रूप के द्वारा सृष्टि और प्रलय काल में संयुक्त एवं वियुक्त होते हैं, उस रूपान्तर का नाम ही काल है। बीते हुये प्रलय काल में यह व्यक्त प्रपंच प्रकृति में लीन था,

----

1. जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।।
   -- न्याय सिद्धान्त मुक्तावली
2. व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः काल एव च ।
   क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय ।।
   -- श्री विष्णु पुराण - 1.2.18

इसलिये प्रपंच के इस प्रलय को प्राकृत प्रलय कहते हैं । काल रूप भगवान् अनादि हैं, इनका अन्त नहीं है, इसलिये संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी कभी नहीं रुकते, प्रवाह रूप से निरन्तर होते रहते हैं । प्रलय काल में प्रधान-प्रकृति के साम्यावस्था में स्थित हो जाने पर और पुरुष के प्रकृति पृथक् स्थिति हो जाने पर विष्णु भगवान् इन दोनों को धारण करने के लिये `काल रूप` में प्रवृत्त होता है ।[1]

भारतीय दर्शन में उष: काल में निखिल ब्रह्माण्ड के कारण भूत तत्वों की गवेषणा की प्रक्रिया में काल की चर्चा अपने आप में अत्यधिक महत्व रखती है । उपनिषदों में जिन्हें, निर्विवाद रूप से प्राय: सभी दार्शनिक प्रणालियों का मूल स्रोत माना जाता है, विश्व के परम कारणभूत तत्व की विधिवत् चर्चा इस बात का प्रमाण है कि उपनिषदों में पूर्ण दार्शनिक चिन्तन उसी प्रकार

----

1. विष्णो: स्वरूपात्परतो हितेद्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र ।
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते, रूपान्तरं तद्द्विज काल संज्ञम् ।।

प्रकृतौ संस्थितं व्यक्त मतीत प्रलये तु यत् ।
तस्मात्प्राकृत संज्ञोऽयमुच्यते प्रति सञ्चर: ।।

अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते ।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमा: ।।

गुणसाम्ये ततस्तस्मिन्पृथक्पुंसि व्यवस्थिते ।
काल स्वरूपं तद्विष्णोर्मैत्रेय परिवर्तते ।।

-- श्री विष्णु पुराण - 2 - 24, 25, 26, 27

स्वतन्त्र रूप से होते थे, जिस प्रकार आज पाश्चात्य जगत् में विज्ञान के संदर्भ में दार्शनिक चिन्तन हो रहे हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रारम्भ ही इस चर्चा से होता है कि हमारे समक्ष विद्यमान परम व्यापक विशाल ब्रह्माण्ड का कारण क्या है -- प्राणि जगत् की उत्पत्ति किससे हुई है, वह कौन सा तत्व है जो निरन्तर परिवर्तमान सुख दु:खात्मक इस जगत् में व्यवस्था बनाये हुये है ? इन प्रश्नों के उत्तर में ऋषि ने ब्रह्मांड के मूल कारण के रूप में सात तत्वों की सम्भावना प्रकट की है, जिनकी गणना इस प्रकार से की गयी है[1] -- काल, प्रकृति, नियति, यदृच्छा, पंचमहाभूत, पुरुष तथा आत्मा।

यहां पर निखिल ब्रह्मांड के परम कारण - तत्वों में काल का परिगणन सर्वप्रथम किया गया है, जो इस बात का साक्षी है कि चिन्तकों का एक वर्ग ऐसा भी था जो काल को ही विश्व प्रक्रिया का मूल कारण तथा नियामक तत्व मानता था। इसकी झंकृति हमें महाभारत में भी मिलती है जहां यह संवाद प्रकट किया है कि युग प्रवृत्ति का कारण - काल है अथवा राजा।[2] महात्मा बुद्ध की उक्ति में भी काल के महत्व की स्पष्ट झलक मिलती है।[3] भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा के सर्वेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राय: सभी दार्शनिक प्रणालियों में काल की मान्यता है और उसका विवेचन अपने-अपने सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में किया गया है।

----

1. किं कारणं ब्रह्म ? कुत: स्म जात: ? अधिष्ठिता: केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्म विदो व्यवस्थाम् ? ।

-- श्वेताश्वतरोपनिषद्

2. कालो वा कारणं राजा ।

-- महाभारत

3. सर्वं क्षणिकं क्षणिकम् ।

-- चार्वाक् दर्शन

जैमनीय ब्राह्मण के अनुसार सूर्य के दूसरी ओर जो कुछ है वह अमृत है, किन्तु जो इस ओर है, वह दिव्यरात्र से निरन्तर विनष्ट होता रहता है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है जिसके नीचे - संवत्सर की गति होती है, उस अमृत - प्रकाशों के प्रकाश पर देवता उपासना करते हैं ।[1]. मैत्रायणी उपनिषद् ब्रह्म के दो रूप मानता है -- काल तथा अकाल । जो सूर्य से प्राक् है,वह `अकल` काल है, जो सूर्य से प्रारम्भ होता है वह `सकल` काल है । दूसरे शब्दों में शाश्वत - अभौतिक तथा अनित्य भौतिक के बीच की सीमा देवताओं की उच्च कोटि है, जिस पर सूर्य चक्कर काटता है ।[2]

काल (खण्ड काल)

काल शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है -- (1) परम सत्ता की सर्वशक्तिमत्ता का एक रूप (2) व्यक्ति प्रमाता के लिए एक अवच्छेदक तत्व (3) एक भासकमान । परमसत्ता अर्थात् महेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के रूप में यह वह शक्ति है जो विश्व में क्रमशीलता अथवा यौगपद्य उत्पन्न करती है । इस रूप में वह काल शक्ति कहलाती है । शक्ति परम्परा में इस दार्शनिक अवधारणा को काली देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है ।[3] व्यक्ति

----

1. यस्मादर्वाक्संवत्सरो होभि: परिवर्तते ।
   तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ।।
   -- बृहदारण्यक उपनिषद् - 4.4.16
2. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्चाथ्य य: प्रागादित्या-
   त्सोऽकालोऽकलोऽथ य आदित्याद्य: स काल: सकल:... ।
   -- मैत्रायणी उपनिषद् - 6-15
3. तस्य क्रमाक्रमकलनैव काल: स च परमेश्वर एव अन्तर्भाति, तद्भासनं च देवस्य कालीनाम शक्ति: ।
   -- त० सा०, पृ० 45-46

प्रमाता के अवच्छेदक के रूप में यह वह परिमित शक्ति है, जो क्रम का अनुभव करती है - 'भूत, वर्तमान भविष्य के रूप में ।'[1] सर्वप्रथम उसको यह अनुभव तब होता है जैसे प्राण वायु, बुद्धि । विषय रूप अनुभव गम्य वस्तुओं में क्रम का अनुभव तब होता है, जब प्रमातृ रूप चेतना की श्रृंखला की किसी कड़ी के साथ-साथ बाह्य विषय का अनुभव होने के कारण प्रमाता में अनुभूत क्रम विषय पर आरोपित किया जाता है । जर्मन दार्शनिक कांट काल को संवेदना का एक आकार मानता है । मापक मान के रूप में काल एक एकानेक रूप वस्तु पर आधारित है । कुछ घटनायें ऐसी होती हैं, जो नियमित रूप से घटित होती हैं । वे हमारे लिए मापक मान के रूप में काम करती हैं । इसके अतिरिक्त कुछ घटनाएं ऐसी होती हैं जो नियमित रूप से घटित नहीं होतीं, अनियत होती हैं । इन अनियत घटनाओं को हम नियत घटनाओं से मापते हैं । इसके परिणामस्वरूप प्रतीति का यह रूप उभर कर आता है -- जैसे --'देवल सात वर्ष का बालक है ।' यहां देवल नाम के व्यक्ति के वय का निर्धारण सूर्य की गति के आधार पर किया गया है । इसको और स्पष्ट करने के लिए हमको अपने दैनंदिन जीवन की गतिविधि तथा सूर्य की क्रियाशीलता में तारतम्य के आकलन का अनुसंधान करना होगा । काल के प्रत्यय का आधार एक घटना क्रम है, जो अनेकता में एकता है । अनेकता का अस्तित्व एक ओर एकाधिक स्थान-बिन्दुओं से सम्बन्धित सूर्य के क्रमागत रूपों में होता है । और दूसरी ओर उसका अस्तित्व जानने वाले व्यक्ति के विभिन्न स्थान बिन्दुओं से सम्बन्ध के रूपों में प्रकट होता है । एकता के अस्तित्व का बोध इस रूप में होता है कि पूरी परिस्थिति एक ही ज्ञेय वस्तु होती है । इस प्रकार के काल के सम्बन्ध में

----

1. नानाविधशक्तिमयी सा जनयति कालतत्वमेवादौ ।
भाविभवद्भूतमयं कलयति जगदेव कालोऽत: ।।
-- तत्व प्रकाश:

हम यह देखते हैं कि अनेकता बाह्य रूपों पर और एकता अन्त:करण की वृत्ति पर आधृत होती है। काल की अभिव्यक्ति के अनेक रूप प्रचलित हैं। जैसे हम सेकेण्ड, मिनट, घण्टा, दिन, सप्ताह, मास तथा वर्ष की बात करते हैं, उसी प्रकार शीघ्रता, मन्दता, पूर्वकाल, उत्तर काल, भूत, वर्तमान, भविष्य आदि की भी चर्चा की जाती है।[1]

यहां यह बात मस्तिष्क में रखनी होगी कि दीर्घकाल से स्थापित एक लोक-परम्परा के आधार पर सूर्य के एक निश्चित दूरी के पार करने की अवधि को घंटा कहते हैं। इसी प्रकार जब कोई यह कहता है कि अब बिन्दु का कार्य समाप्त हो गया है, वह अब जायेगी। तो वह उस समय स्वयं अपनी ही प्राणवायु की संभावित क्रिया के साथ बिन्दु की संभावित गति को सम्बद्ध कर देता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि काल की सभी प्रतीतियों में दो वस्तुओं की क्रियायें जुड़ी रहती हैं। तर्क शास्त्र के अनुसार वे वस्तुएं, जो बुद्धिगम्य हैं, सत्य हैं तथा जो केवल व्यक्तिगत हैं, वे असत्य। आचार्य शंकर का अनुभव के विषय में दृष्टिकोण यह है कि जो कुछ भी देश, काल और कारण से आबद्ध है वह यथार्थ नहीं हो सकता। किन्तु हमारे अनुभव का सामान्य रूप देश से सम्बद्ध है। परन्तु यथार्थसत्ता देश की अपेक्षा नहीं करती तथा वह अखण्ड है। जो भी देश में परिमित है वह विभाज्य भी है, और विभाज्य वस्तु सदा उत्पत्तिशील होती है, यह यथार्थ नहीं है। चूंकि यथार्थ सत्ता जन्म रहित तथा अविभाज्य है, और इसीलिए उसमें देश का प्रतिबंध नहीं है। देश का

----

1. आद्योविभुर्भूतभाविवर्तमानत्वधीकर:।
   निमिषादि प्रभेदेन बहुभेदस्त्वसौ मत:।।
   -- वेदान्त कारिकावली

विभुत्व केवल सापेक्ष है । जो कुछ देश से सीमित है वह काल में भी सीमित है ।[1] काल में अपने से दूर जाने की एक विचित्र प्रवृत्ति होती है, यद्यपि वह ऐसा कर नहीं पाता । यह आनुभविक जगत् में यथार्थ - सत्ता है । आनुभविक जगत् में काल का क्षेत्र सार्वभौम है । किन्तु जगत् की अत्यन्त कालावधि अपने आप में पर्याप्त नहीं है । ऐहलौकिक जगत् यथार्थ नहीं है । इस प्रकार आचार्य शंकर काल को मुख्य रूप से अनुभव से सम्बद्ध करते हैं ।

आधुनिक दार्शनिक चिंतन भी काल को एक प्रमाण मीमांसीय प्रक्रिया स्वीकार करता है । उनके अनुसार यदि ज्ञातृत्व व्यापार नहीं तो काल का प्रश्न नहीं उठता । चूंकि यह स्वतंत्र द्रव्य नहीं है अत: इसे सत्ता मीमांसा के परिधि में नहीं रखा जा सकता । `हेनरी बर्गसाँ` काल को एक मूलभूत सिद्धान्त तथा निखिल ब्रह्मांड का सारतत्व मानता है । वह काल की यथार्थता का प्रबल पक्षधर है । वह यथार्थ को एक निरन्तर प्रवाह मानता है । उसके अनुसार यह एक प्रक्रिया है, ऐसी प्रक्रिया जिससे होकर एक महान् प्रेरक शक्ति संचरित होती है । वह कहता है कि `समस्त यथार्थ एक प्रवृत्ति` है, बशर्ते कि हम प्रवृत्ति को दिशा का एक उदीयमान परिवर्तन मानने को सहमत हों ।[2] उसके अनुसार संसार में कोई भी वस्तु पूर्वत: विद्यमान नहीं है । अत: सभी वस्तुओं की रचना होती रहती है ।

वस्तुत: हम काल की यथार्थता के विषय में पूर्ण आश्वस्त हैं तथा काल के स्वरूप के विषय में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, उसका आधार `क्रम` है । क्रम बोध भूत, वर्तमान, भविष्य ही काल के स्वरूप का सच्चा बोध है । भविष्य के पूर्वज्ञान की स्वप्न अथवा जागृत अवस्था में उपस्थिति होती है, अर्थात्

----

1. यदि लोक इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु घटादि तद् अन्तवद् दृष्टम् ।
-- शांकरभाष्य - 2, 2, 4
2. बर्गसां, क्रियेटिव माइन्ड, पृ0 14.

पूर्वाभास होता है । घटनाओं का समस्त विस्तार हमारी आंखों के सामने होता है । काल का प्रथम आयाम हमें वर्तमान प्रदान करता है । दूसरा आयाम अथवा कालक्रम प्रथम आयाम का परिमित अतीत वर्तमान तथा परिमित भविष्य प्रदान करता है । इस प्रकार प्रथम आयाम का भविष्य दूसरे आयाम में वर्तमान हो जाता है, और इसी प्रकार क्रम चलता रहता है ।

प्रश्न यह बनता है कि काल क्या है ? यदि इसका अस्तित्व है तो किस रूप में ? ।

आधुनिक दार्शनिक इन प्रश्नों का उत्तर अपने ढंग से देते हैं । परन्तु यह तो स्पष्ट है कि `काल` पत्थर अथवा मेज़ या पार्थिव पदार्थ नहीं है । एक भौतिक पदार्थ का कोई न कोई रूप अथवा आकार होता है तथा उसमें कुछ ऐन्द्रिक तत्व होते हं । काल में भौतिक पदार्थ के ये लक्षण नहीं होते । जिस रूप में भौतिक पदार्थों की कल्पना की जाती है, उसमें काल की गणना नहीं की जा सकती । किन्तु सभी भौतिक पदार्थ काल-निर्दिष्ट होते हैं, क्योंकि उनका अस्तित्व एक विशेष काल खण्ड में होता है । इस प्रकार काल का सादृश्य भौतिक पदार्थों के साथ सिद्ध नहीं होता, पर उसकी संगति सभी पदार्थों के साथ होती है । प्रत्येक भौतिक पदार्थ देश को आवृत्त करता है, अर्थात् एक स्थान घेरता है, परन्तु काल देश को आवृत्त नहीं करता क्योंकि यह कोई मूर्त पदार्थ नहीं है । दो वस्तु या पदार्थ दो वक्तव्यों के द्वारा तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है जैसे `मेज़ कमरे में है` तथा `मेज काल में है` अथवा इसी तरह घट एवं पट की स्थिति हो तो इनकी व्याख्या हम इस प्रकार से करते हैं कि प्रथम वाक्य का अभिप्राय यह हुआ कि कमरा अधिष्ठान है और मेज़ कमरे में अधिष्ठित है । मेज़ तथा कमरा दोनों में दैशिक तत्व है । किन्तु दूसरे वाक्य में भी क्या हमारा अभिप्राय यह होता है कि काल मेज़ का

अधिष्ठान है, अथवा आधार है ? यह प्रश्न बनता है, जिसका समाधान यह है कि पाश्चात्य जगत् में न्यूटन तथा पूर्व में न्याय प्रणाली ने यह प्रकल्पना की कि काल विश्व के सभी पदार्थों का आधार है । किन्तु यदि काल सभी पदार्थों का आधार है, तो क्या यह आवश्यक है कि उन पदार्थों में कालिक तत्व विद्यमान होने चाहिये ? जिस प्रकार हम दो दैशिक तत्वों से युक्त पदार्थों के लिए कह सकते हैं कि दूसरे में अधिष्ठित है, दो कालिक तत्वों से युक्त दो पदार्थों के बारे में हम नहीं कह सकते कि एक दूसरे में अधिष्ठित हैं । इस प्रकार की प्रक्रिया से कठिनाई पैदा हो जायेगी । एक काल दूसरे में समाविष्ट हो जायेगा और यह क्रम चलता ही रहेगा । यह कठिनाई उस समय पैदा नहीं होगी जब हम कहते हैं 'मेज़ कमरे में है' । यद्यपि मेज़ और कमरा दोनों में दैशिक तत्व हं । तथापि इन वाक्यों में कोई विसंगति नहीं है । इस प्रकार कालिक तत्व के विषय में हमारे दृष्टिकोण के इस अन्तर के कारण ही दैशिक तत्वों जैसे -- लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई के विषय में हमारा व्यवहार काल अथवा कालिक तत्वों से भिन्न होता है । पहले जब कोई ये कहता था कि मेज़ कमरे में है तो इसमें उसका यह अभिप्राय नहीं होता था कि मेज़ का एक चौथा आयाम भी है, और वह है -- कालिक । किन्तु सापेक्षतया युग के परवर्ती काल में दार्शनिकों में यह धारणा घर कर गई कि काल तथा देश में परस्पर सामंजस्य है । इस दृष्टि का एक परिणाम यह निकला कि वे पदार्थ जिनके बारे में हम कहते हैं 'काल में है' कालिक हो गये न कि काल रहित मेज़, कुर्सी, घट, पट जैसे पदार्थ कभी भी काल रहित नहीं हो सकते । इसी आधार पर विटजेन्टीन तथा राइल जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों ने लगभग यह निष्कर्ष सामने रख दिया है कि जिन्हें हम पहले काल रहित अथवा अपरिवर्तनीय मानते थे, वे अवधारणायें मात्र हैं, और उनको सत्ता मीमांसीय श्रेणी में नहीं रखा जा सकता यद्यपि संचार तथा विचार के साधन के रूप में उनकी उपादेयता नि:संदिग्ध है । इसी प्रकार स्थायित्व तथा अनुवर्तनशीलता अथवा सातत्य भी काल के अनिवार्य अंग हैं ।

अखण्ड काल (अकाल)

जिस प्रकार निगम परम्परा में परम सत्ता ब्रह्म के दो रूपों को काल तथा अकाल की कल्पना की गई है तथा एक को सूर्य से नियन्त्रित खण्ड काल कहा गया है, और दूसरे को सूर्य के नियन्त्रण से मुक्त अखण्ड काल माना गया है। उसी प्रकार आगम-परम्परा में अशुद्ध सृष्टि का नियामक माना गया है तथा. शुद्ध सृष्टि का कर्तृत्व परम शिव नारायण स्वयं अपने हाथ में रखता है अत: उस पर किसी अन्य तत्व के नियंत्रण का प्रश्न नहीं उठता वह तो परम स्वतन्त्र है, देश तथा काल की सीमा से परे है कालातीत एवं विश्वोत्तीर्ण है।[1] विश्व से अभिप्राय यहां भौतिक जगत् अथवा अशुद्ध सृष्टि से ही है, इसके पदार्थों का सर्जन तथा नियंत्रण जिस काल द्वारा होता है - वह सकल, सावयवी एवं अशाश्वत है। इसके विपरीत नारायणी सृष्टि में काल का नियम लागू नहीं होता, अत: हम उसे `अखण्ड काल` अथवा अकाल कह सकते हैं। अर्थात् वह निरवयवी एवं शाश्वत है। इसकी कोई इयत्ता नहीं है। चाहे वह शांकर वेदान्त का `ब्रह्म` हो अथवा प्रत्यभिज्ञा दर्शन का `महेश्वर` हो एवं (नारायणी सृष्टि का अकाल पुरुष) ये सभी कालातीत अर्थात् अकाल हैं। आचार्य शंकर ब्रह्म की सत्ता का निरूपण करते हुये कहते हैं कि वह प्रतीत रूप, दैशिक, भौतिक एवं चेतन जगत् से भिन्न है। ब्रह्म के बारे में यह प्रकल्पना कर ली जाती है कि वह मूलभूत तत्व है, यद्यपि उसे किसी भी रूप में द्रव्य नहीं कहा जा सकता। इसके अस्तित्व के लिए किसी देश अथवा काल की आवश्यकता नहीं, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि वह सर्वत्र विद्यमान है, क्योंकि सभी वस्तुयें अपने अस्तित्व के लिए इसी पर निर्भर रहती हैं। चूंकि यह स्वयं कोई वस्तु या पदार्थ नहीं है, अत: अन्य किसी भी वस्तु के साथ इसके दैशिक सम्बन्ध नहीं हो सकते। सामान्य अर्थों में हम इसे कारण भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसका अर्थ होगा कालिक सम्बन्धों का

समावेश ।[1] शंकर जब ब्रह्म का निरूपण करते हुये कहते हैं कि वह न तो सत् है और न असत् तो इसका अर्थ होता है कि यह प्रयोग उन अर्थों के दृष्टिकोण से है जिससे हम आनुभविक जगत् की भावात्मक तथा अभावात्मक वस्तुओं को जानते हैं । अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि अमुक वस्तु ब्रह्म नहीं है, किन्तु हम यह भी नहीं कह सकते कि ब्रह्म क्या है । यह स्थिरता एवं परिवर्तन - समग्रता अथवा एक भाग, सापेक्ष अथवा निरपेक्ष, सीमित अथवा असीम अजा-लोहित, शुक्ल, कृष्ण, आदि परस्पर विरोधी भावों के ऊपर आश्रित पदार्थों से अतीत है । सीमित वस्तु सदैव अपने से ऊपर की ओर बढ़ती है, किन्तु ऐसी कोई वस्तु नहीं जिस तक अनन्त पहुंच सके और यदि वह ऐसा करता है तो अनन्त नहीं रह सकेगा । यदि हम इसे अनन्त अथवा अकाल कहें तो इसे सीमित के केवल निषेधात्मक रूप के समान नहीं मानना चाहिये ।

विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार अनुचर परमात्मा सर्वदा एवं संवित् रूप होता है । यहां तक कि जड़ वस्तुओं के आभास-काल में भी उसकी संविद्रूपता बनी रहती है । जड़ पदार्थ की सत्ता तभी सिद्ध होती है, जब चेतन की संवित् के भीतर उसका आभास हो । इस प्रकार चेतन की संवित में आभासित होता हुआ जड़ पदार्थ भी आभास-क्षण में चेतन ही होता है, क्योंकि संवित् ही उस जड़ पदार्थ के रूप को धारण करती हुई उसको आभासित करती है । यदि ऐसा न होता तो जड़ का आभास होता ही नहीं । आभास संवित् का स्वभाव है जड़ का नहीं । इस प्रणाली के अनुसार स्थावर तथा जंगम सभी पदार्थ वस्तुत: संवित् स्वरूप होते हैं, यद्यपि अज्ञानवश प्राणियों को ऐसा बोध नहीं हो पाता। इस प्रकार संवित् स्वरूप अखण्ड काल नारायण सदैव संवित् ही होता है ।

----

1. कार्यकारण व्यतिरिक्तस्यात्मन: सद्भाव:.... अशनायादिसंसार-धर्मातीतत्वं विशेष: ।

-- शांकर भाष्य - 3.2.23

देशकृत, कालकृत अथवा आकारकृत कोई भी संकोच उस अनुत्तर संवित् पर लागू नहीं होता, बल्कि उसी संवित् के स्पन्दन से देश, काल तथा आकारों का आभास होता है। अत: वह इन तीनों संकोचों एवं महत् अहंकार, पंचभूत, विकारादि की नित्य सतत् क्रिया का आधार होता हुआ स्वयं इनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहता है। इस प्रकार काल का सहकारि कारण होते हुये यह अखण्ड नारायण सर्वात्मना असीम तथा कालातीत है। वह अकाल तथा परिपूर्ण है। प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाण के रूप में जो कुछ भी अवभासित होता है वह शुद्ध संवित् के भीतर सदैव विद्यमान रहता है, परन्तु यह सब उसके अन्दर उस प्रकार नहीं रहता जिस प्रकार घर में लोग तथा घर का सामान रहता है, अपितु जिस तरह तिलों में तेल तथा दूध में मलाई, मक्खन, पनीर आदि वस्तुयें विद्यमान होती हैं। जैसे तेल की तिल से पृथक् सत्ता नहीं होती अथवा मलाई, मक्खन, पनीर आदि दूध से भिन्न नहीं होते उसी प्रकार यह समस्त जगत् चेतन, अचेतन, नित्य, अनित्य, विकार, विकारी उस संवित् में अव्यतिरिक्त रूप से विद्यमान रहता है।[1] इस प्रकार अनुत्तर संवित् या परमात्मा अपने भीतर समस्त विश्व को धारण करता हुआ सदैव परिपूर्ण रूप में विद्यमान रहता है। जिस समय उसमें विश्व का सर्जन होता है, उस समय भी वह संवित् पूर्ववत् परिपूर्ण रहती है। सृष्टि अथवा संहृति के कारण उसकी परिपूर्णता तथा सर्वकालता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अत: यह स्पष्ट झलकता है कि यह परमात्मा या नारायण शुद्ध असीम तथा परिपूर्ण है। इस पर देश एवं काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म भी यद्यपि कालादि से मुक्त होता है किन्तु उसके अन्दर जगत् की स्थिति नहीं स्वीकार की गयी है। इस प्रणाली के अनुसार

----

1. 'अचेतना परार्था च नित्या सतत विक्रिया'
-- वेदान्त कारिकावली टीका, पृ० 57.

अविधा ही जगत् को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करती है । ब्रह्म में ऐसा करने का सामर्थ्य नहीं होता, क्योंकि वह विमर्शमयता से सर्वथा शून्य है । किन्तु परमात्मा प्रकाश विमर्शमय है तथा वही इस विश्व को अपने से भिन्न रूप में प्रकट करता हुआ उसे व्यवहार भूमि पर प्रतिष्ठित करता है । इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड को सत्ता प्रदान करने के कारण उसे जगत् का परिपूरक भी माना जाता है ।[1]

नारायण का कालमुक्त स्वभाव तथा विमर्शात्मकता ही उसकी परमेश्वरता है । इसी के प्रभाव से वह सदैव सृष्टि एवं संहारादि के प्रति उन्मुख बना रहता है । यदि उसमें सृष्टि, पालन, संहार के प्रति उन्मुखता न होती तो वह शून्य गगन के समान जड़, रिक्त तथा अनीश्वर होता किन्तु ऐसा नहीं है, वह अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की अपेक्षा के बिना ही सृष्टि, स्थिति, संहार आदि क्रियाओं का चलते रहना भी उसके स्वातन्त्र्य का विलास है ।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को शान्त एवं स्पन्दहीन माना जाता है । इसका कारण यह है कि यदि ब्रह्म में स्पन्दनशीलता की सत्ता स्वीकार करें तो उसमें परिणमनशीलता की शंका होती है । परन्तु विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार परिपूर्ण एवं स्वतन्त्र सत्ता में विकार के लिये कोई स्थान नहीं । परिपूर्ण में सब कुछ समा सकता है, और स्वतन्त्र सब कुछ कर सकता है । अतः परमेश्वर अपने अद्वैत और अभिन्न महाप्रकाश के भीतर विश्वमयी लीला का अवभासन करता रहता है, और शुद्ध प्रकाश बना रहता है ।[2] उसकी शुद्ध प्रकाशमयता में कोई

----

1. यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ।
   तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।।

2. कार्यरूपस्ततोनैव नित्य इत्यवधार्यताम् ।
   लीलाविभूतावीशानः कालमालम्ब्य कार्यकृत् ।।

-- वेदान्त कारिकावली -- 'काल निरूपणम्',
का० स० - 4.

अन्तर नहीं आता । सतत गति से स्थिर रहने वाली उसकी शुद्ध प्रकाशता उसका अचल स्वभाव है । इसी स्वभाव के कारण वह काल निरपेक्ष होकर एक ही स्वरूप में स्थिर रहता है । उसके स्वभाव का एक दूसरा पहलू भी है, जोकि वह है, उसकी परमेश्वरता की अनुपम, असीम तथा परिपूर्ण क्रीड़ा जिसके कारण पंचकृत्यों की लीला का अभिनय चलता रहता है । वस्तुत: ये दोनों उसकी परमेश्वरता अथवा स्वातन्त्र्य के दो छोर हैं । एक उसका प्रकाश रूप होने का अविचल पहलू है, जिसके कारण वह विभु (परमात्मा) कहलाता है, तो दूसरा कारण पंचकृत्य - विधान की दृष्टि से उसका सतत - प्रवृत्तिकारी पहलू है, जिसके आधार पर उसको `काल` भी कहा जाता है ।[1] विभुता उसकी स्थिरता है । और कालता गतिशीलता । वह एक साथ स्थिर भी है और गतिशील भी । विभुता की स्फुट अभिव्यक्ति में कालता अस्फुट हो जाती है, एवं कालता की स्फुट अभिव्यक्ति में विभुता भास्फुट हो जाती है । किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो ये दोनों भाव सतत गति से अभिव्यक्त होते रहते हैं । इनके बीच परस्पर कोई कालक्रम तो है ही नहीं । परमेश्वर एक साथ ही अविचल और विश्वोत्तीर्ण विभु भी है तथा गतिशील और विश्वमय कालरूप भी है । तत्वत: इन दोनों पहलुओं में किसी प्रकार का भेदात्मक सम्बन्ध ठहर नहीं सकता, क्योंकि दोनों परस्पर सर्वथा अभिन्न हैं, तथा एक दूसरे के अभिव्यंजक एवं परिपोषक हैं । परमेश्वर नारायण की शक्तिमत्ता में क्रियात्मकता की अभिव्यक्ति होती है । इसी कारण वह गतिशीलता कहलाती है । गति शब्द से अभिप्राय यहां स्थूल पदार्थों की संचरणशीलता से नहीं लेना चाहिये न ही इसे सुख दु:ख आदि मानस गति ही समझना चाहिए । इसी प्रकार शक्तिस्वरूपा

----

1. एष नित्य विभूतो तु न कालमवलम्बते ।
   क्रीडापरिकर: सोऽयं कालस्तु पद्मात्मन: ।।
   -- वेदान्त कारिकावली - काल निरूपणम्,
   का0 सं0 - 5

गति को प्राण सम्बन्धनी क्षुत्पिपासा निद्रा आदि गति भी समझना उचित नहीं होगा । ये तीनों प्रकार की गतियां कल्पित गतियां होती हैं, और इनका आभास केवल द्वैत की भूमिका में सम्भव होता है । शुद्ध संवित् की शक्ति-रूपा गति वस्तुत: चेतना के विमर्श की गति है । इसे चेतना का आनन्दात्मक चमत्कार कहा जा सकता है । शुद्ध, असीम तथा परिपूर्ण चेतना को सदैव स्वात्म विमर्श होता ही रहता है । उसका विमर्शन ही उसकी सूक्ष्मतर क्रिया है । यही उसकी गतिशीलता है । परमेश्वर की इस गतिशीलता को क्रिया-शास्त्र में स्पन्द नाम दिया गया है । यहां स्पन्द एक साथ चलने वाली अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी गति को कहा जाता है । इसी स्पन्द के प्रभाव से परम प्रभु सतत गति से अपनी विश्वोत्तीर्णता का विमर्श करता है, और यह उस स्पन्द की अन्तर्मुखी गति होती है । साथ ही साथ वह इस स्पन्द ही की महिमा से अपनी विश्वमयता का भी सूक्ष्मतर विमर्श करता रहता है । यह उस स्पन्द की बहिर्मुखी गति होती है । विश्वमयता की अभिव्यक्ति के प्रति जो उसकी उन्मुखता का विमर्श होता है, वही उसकी इच्छा का रूप धारण करता है । अत: परमेश्वर को अपनी शक्ति को पूर्णतया अभिव्यक्त करने की इच्छा सदैव होती रहती है । वह सदैव इस इच्छा से आवेष्टित रहता है । यह इच्छा भी जब आगे स्पन्दन करती है, तो शुद्ध प्रकाश के भीतर एक मात्र 'अहम्' के रूप में ठहरा हुआ अखिल जगत् 'इदम्' रूप में भी अवभासित होने लगता है । वस्तुत: हम देखते हैं कि 'काल' एवं 'अकाल' दोनों ही विश्व-प्रक्रिया से अनन्य रूप से जुड़े हुये हैं । इनके बिना विश्व-व्यवस्था अथवा जीवन संचार संभव नहीं है ।

काल एवं अकाल तत्व का वैशिष्ट्य --

काल :

काल नित्य एवं अनादि है क्योंकि ऐसा कोई भी प्रत्यय जिसमें काल की उत्पत्ति के विषय में - विचार किया जाये, काल की पूर्व की कल्पना के बिना

संभव नहीं । कल्प के अन्त में भी काल रहता है । कुछ दार्शनिक काल को अनित्य मानते हैं,परन्तु यह समीचीन नहीं क्योंकि काल की उत्पत्ति के पहले और काल की `लय` के पश्चात् कहने के लिए भी काल को स्वीकार करना पड़ता है । पूर्व और पर शब्द भी काल सापेक्ष हैं, काल के बिना इनका प्रयोग असंभव है । पुराणों में जहां काल की उत्पत्ति का वर्णन है, वहां काल से सम्बन्धित पदार्थों की उत्पत्ति से अभिप्राय है न कि काल से । ऋग्वेद के `नासदीयसूक्त` में प्रलय का वर्णन करते समय कहा गया है कि उस `समय` न सत् था न असत् । यहां `तदानीम्` शब्द काल वाचक है ।[1] इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में भी `सबसे पूर्व सत् ही था` -- इस सृष्टिकारण वाचक मंत्र में काल को विधमानता बतलाई गई है ।

सांख्य, बौद्ध और चार्वाक् सूर्य की गति के आधार पर काल को स्वीकार करते हैं, न कि स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में । वेदान्त देशिक को यह स्वीकार नहीं क्योंकि शास्त्रों के अनुसार प्रलय के समय सूर्य, आकाश आदि समेत संसार के विलीन होने पर भी काल विधमान रहता है, उसका विनाश नहीं होता ।[2]

दार्शनिक दृष्टियों में स्पष्टत: इस विषय का उल्लेख इस प्रकार से किया जाता है कि प्रमाता की क्रमरूपता के आभास का कारण होने से उसका संकोच `काल` तत्त्व कहलाता है । व्यवहार में तो क्रमरूपता ही काल कहलाती है । क्रियाओं के वैचित्र्य के आधार पर तो कालक्रम की कल्पना की जाती है, और मूर्ति वैचित्र्य के आधार पर देशक्रम की इन दोनों ही क्रमों का आधार सम्बन्धरूपता है । सम्बन्ध भी वस्तुत: कल्पना पर आधारित है । राजा पर स्वामित्व की

----

1. `नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्`

-- ऋग्वेद - 1.129.1

2. `सूर्यावृत्याद्युपाधिव्यतिकरवशत: कालतर स्त्वम्बरादे: चेतन ।`

-- तत्त्वमुक्ताकलाप - 1.65

कल्पना एक पृथक् कल्पना है, और सेवक पर सेवकत्व की कल्पना पृथक् । सेवक स्वयं सेवक नहीं । वह राजा रूपी प्रभु की कल्पना की अपेक्षा से सेवक है । इसी प्रकार राजा का स्वामित्व भी राजा का नैसर्गिक स्वभाव नहीं कहा जा सकता । सेवक पर सेवकत्व की कल्पना ही राजा के स्वामित्व की कल्पना का आधार है, अर्थात् ये दोनों सम्बन्ध अन्योन्याश्रित हैं । किसी कल्पना करने वाले प्रमाता की संवित् जब राजा और सेवक दोनों परस्पर भिन्न पदार्थों को व्याप्त करती हुई उन दोनों की परस्पर सापेक्ष और अनुसन्धानात्मक कल्पना को आभासित करती है, तब राजा का आभास स्वामी के रूप में और सेवक का आभास सेवक के रूप में होता है ।[1] वास्तव में इस सम्बन्ध-कल्पना में राजा और सेवक दो ही पदार्थों की सत्ता है । उनके परस्पर स्वामि-सेवक-भाव सम्बन्ध की कोई भी सत्ता नहीं है । वह तो प्रमाता के मानस-पटल पर प्रकट होने वाला भाव है । प्रमाता जब अनेक पदार्थों को अपनी कल्पना-लोक में एक सूत्र में आबद्ध कर लेता है, तो उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का आभास हो जाता है । इस प्रकार अनेकता में एकता का कल्पनात्मक विशेष विमर्श ही वस्तुत: सम्बन्ध कहलाता है । कल्पना के संसार में कल्पना ही के प्रकाश से आभासित होती हुई काल्पनिक सम्बन्धरूपता के आधार पर विश्व के समस्त व्यवहार चलते हैं । इस सम्बन्धरूपता के दो और प्रकार हैं -- कालक्रम, तथा देशक्रम । स्वयं सम्बन्धरूपता तथा ये दोनों प्रकार के क्रम प्राणियों के स्वरूप पर इतने आरूढ़ हो चुके हैं, कि वे इन तीन कल्पनाओं से मुक्त कोई भी व्यवहार करते ही नहीं । जो कुछ कर्तृत्व अथवा ज्ञातृत्व व्यापार है, उस सब पर

----

1. मूर्ति वैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।
क्रिया वैचित्र्य निर्भासात् कालक्रममपीश्वर: ।।
-- सिद्धान्त शिखामणि

ये तीनों व्याप्त रहते हैं । काल-सम्बन्ध तो प्राणी के स्वरूप में ही ओत-प्रोत होकर रहता है, किन्तु देश-सम्बन्ध उसे स्थूल या सूक्ष्म शरीर के द्वारा ही व्याप्त कर लेता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि परमेश्वर की काल-शक्ति की अभिव्यक्ति द्वारा जो क्रिया-वैचित्र्य का आभास होता है, उसी के आधार पर काल क्रम की कल्पना की जाती है । जीवन में कुछ घटनाओं का क्रम नियत होता है, जैसे -- सूर्योदय, सूर्यास्त । किन्तु कुछ ऐसी अनेक घटनाएं होती हैं, जिनका कोई नियत क्रम नहीं होता - जैसे - प्राणियों के जन्म, मरण, सुख, दु:ख, गमनागमन, शयन, जागरण आदि । अत: लोक-जीवन में नियत घटनाओं के क्रम से अनियत घटनाओं का मापन करके ही हम कालिक व्यवहार करते हैं । जैसे -- रमा दो घण्ट पढ़ती रही, माधव सौ वर्ष तक जीता रहा, पूरी रात आंधी चलती रही, कल तूफान आया था ।

इस प्रकार रूपता ही कालिक व्यवहार का आधार है ।[1]

अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त लोक-व्यवहार - काल द्वारा संचालित, संक्रमित एवं नियन्त्रित हैं ।

----

1. ये इयत्तया परिनिष्ठिता आभासा: सिद्धा: तथथा चन्द्रसूर्यादीनां-सहकारमल्लिकाकुटजादीनां शीतोष्णादे: परभृतमदविलासादे: त एव काल: । यतो परनिष्ठितं गमन पठनादि तैरिय-तया परिनिष्ठीयते, परिवर्तकैरिव कनकम्, स एव च सूर्यादीनां स्वभाव विशेष स्तत्वत: परमार्थत: क्रमो । नान्य: काश्चित् क्रमो नाम । क्रम एव च कालो, नान्योऽसौ कश्चित् ।

-- ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी

अकाल :

अकाल तत्व के अंकुर भी माया में विद्यमान दृष्टिगोचर होते हैं । परम पूर्ण परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का नाम अकाल है । इसकी अभिव्यक्ति वह काल निरपेक्ष होकर करता है । यह स्वातन्त्र्य उसकी अनन्य इच्छा है, तथा यह विश्व उसकी इच्छा का प्रसार मात्र है । अत: वह जब भी चाहता है, इसकी अभिव्यक्ति कर देता है । यह इच्छा भी जब आगे स्पन्दन करती है तो शुद्ध प्रकाश के भीतर एक मात्र `अहम्` के रूप में स्थित, विश्व `इदम्` के रूप में प्रकाशित हो उठता है । `अहं भाव` प्रमातृता होती है, और `इदम्` भाव प्रमेयता । शनै: शनै: इस प्रमेयता का आभास स्फुट एवं स्फुटतर होने लगता है; और प्रमातृता का आभास क्षीण होने लगता है । आगामी भूमिका में स्पन्दन के प्रभाव से प्रमेयता प्रमातृता से सर्वथा पृथक् रूप में आभासित होती है । यह दशा पूरे भेद की दशा होती है । इस स्फुट भेद की दशा में प्रमातृ तत्व को पुरुष और प्रमेय तत्व को प्रकृति कहते हैं । इस सृष्टि और संहृति के क्रम में जो मुख्य भूमिकायें अभिव्यक्त होती हैं -पहली भूमिका शक्ति भूमिका कहलाती है । यह सर्वथा अभेद की भूमिका होती है । दूसरी भूमिका में शुद्ध प्रकाश रूपी प्रमाता के भीतर ही प्रमेय का भी आभास होने लगता है । परन्तु दोनों का अभेद भाव भी प्रकट होता रहता है । अर्थात् यह भेदाभेद की भूमिका होती है । दूसरे शब्दों में यह विद्या भूमिका कहलाती है । वेदान्त में विद्या का अभिप्राय `अद्वैत ज्ञान` से होता है । वेदान्त में माया ब्रह्म की मिथ्या उपाधि मात्र होती है, जिससे युक्त होकर वह ईश्वर के रूप में प्रकट होकर सृष्टि, संहार आदि व्यापारों का निष्पादन करता है । माया स्वात्मस्वरूप की भेद-दृष्टि रूपी आवरण होने के कारण मायीय मल है । भेद प्रथा की विधात्री होने के कारण माया भूमिका है और अकाल एवं परिपूर्ण परमेश्वर का सामर्थ्य-भाव होने के कारण माया शक्ति है । इसमें काल तथा अकाल दोनों ही तत्व

अनन्य भाव से विद्यमान हैं और इनकी गतिशीलता अथवा स्पन्दन विश्व के नाना व्यापारों के रूप में अभिव्यक्त होता है। काल के माध्यम से यह माया भेद दृष्टि तथा अशुद्ध सृष्टि उत्पन्न करती है तथा अकाल के माध्यम से अभेद दृष्टि एवं शुद्ध सृष्टि उत्पन्न होती है। क्योंकि अकाल स्वयं परमेश्वर हैं। नारायण के रूप में शुद्ध सृष्टि के अधिष्ठाता हैं।

इस प्रकार नारायण रूपी महाकाल का कभी भी लय नहीं होता। खण्ड काल को आश्रय देने वाला तथा वस्तुओं का नियामक कहा गया है। सर्वेश्वर की जो मनोहारिणी अवतार की लीला है, उन लीलाओं का काल था, परन्तु अन्य लीलाओं - जैसे नित्य विहार आदि के लिए काल की कोई अपेक्षा नहीं है। खण्डकाल को महाकाल का उपादेय मानकर प्राकृत वस्तुओं का आश्रय स्वीकार करके वस्तु का आधार होता है - ऐसा जाना जाता है। क्योंकि श्रीकृष्ण का लीला के लिए सबके सामने आविर्भूत होकर मनोहारिणी जो लीला वृन्दावन प्रदेश में लोगों के सामने की थी, उन लीलाओं का काल था, परन्तु नित्य विहार महारास आदि लीलाओं के लिए काल की अपेक्षा नहीं होती। क्षणादि सब कालों में उत्पत्ति और प्रलय होते हैं। महाकाल तो ब्रह्म के आधीन और वह ब्रह्म में ही रहता है।

निमेष आदि कालों की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है, और प्रलय के समय निमेष आदि उसी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। परन्तु महाकाल की स्थिति एवं प्रवृत्ति नारायण के आधीन होती है। श्वेताश्वतर के अनुसार - जिसके द्वारा यह सब हमेशा ही व्याप्त है, जो ज्ञानस्वरूप काल का भी कर्ता है, गुणी और सर्वज्ञ है, उसी से शासित होकर कर्म प्रवृत्त होता है, और पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश (भी उसी के द्वारा शासित होते हैं) - विचारणीय हैं। जिस पुरुष `नारायण` से निरन्तर यह व्यष्टि रूप चिद्, अचिद् एवं माया विश्व तथा समष्टि रूप चिद्, अचिद्, माया, विश्व को आच्छादित करता है,

वह ज्ञान का आश्रय है। क्योंकि काल का भी काल भक्षक होता है। यहां काल को ब्रह्म के आधीनत्व बताया है और ब्रह्म में ही महाकाल स्थित रहता है।

अत: कहा जा सकता है कि ब्रह्म काल का भी कारण है। सब काल के वशीभूत हैं और काल किसी के वश में नहीं है। यह काल की महिमा है, परन्तु स्वयं काल भी ब्रह्म के आधीन है। इसलिए ब्रह्म, नारायण को काल या महाकाल, अकाल कहा गया है।

काल का प्रत्यक्षत्व

काल सभी पदार्थों के गुण के रूप में साक्षात् अनुभवगम्य है। वैशेषिक काल की प्रतीति अनुमान द्वारा मानते हैं, काल की सिद्धि भी अनुमान द्वारा मानते हैं। परन्तु वेदान्त देशिक के अनुसार हम जब भी किसी पदार्थ को देखते हैं, तो उसे गुण युक्त या अवधि युक्त देखते हैं। उदाहरणार्थ जब हम कहते हैं कि यह वस्तु इस समय बनी, तो यहां काल वस्तु विशेष को अन्य क्षण की वस्तुओं से पृथक् करता है। अत: काल वस्तु का गुण है। जब हम कहते हैं कि घर अभी यहां है, तो घर के साथ-साथ काल का भी प्रत्यक्ष होता है।[1] जब कोई कहता है, 'मैं देखता हूं' तो देखने के विषय के साथ उसके देखने का वर्तमान काल भी ज्ञात होता है। यदि पूर्वकाल और अपर काल के प्रत्यक्षत्व का निराकरण करें तो भी संभव नहीं, क्योंकि पूर्व और अपर व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से प्रयोग किये जाते हैं। प्रथम उत्पन्न भाई पूर्व और पश्चात् उत्पन्न अपर कहलाता है। माता-पिता को बच्चों का पूर्वत्व एवं अपरत्व साक्षात् विदित रहता है।

----

1. कालस्य सर्वत्र पदार्थ विशेषण तथैव प्रतीते: पदार्थ प्रत्यक्षे - कालस्यापि प्रत्यक्षत्वमनेनोक्तं भवति।

-- वेदान्त कारिकावली - टीका, पृ० 56.

अत: काल अनुमान मात्र सिद्ध न होकर शास्त्रैक सिद्ध है ।[1] यद्यपि भगवत्गीता एवं विष्णुपुराण में काल को ईश्वर कहा गया है, परन्तु काल ईश्वर नहीं है, ईश्वर के समान नित्य है । आचार्य वेदान्तदेशिक ने काल को प्रकृति एवं जीव की भांति ईश्वर से पृथक् स्वीकार किया है ।[2] इसका कारण यह है कि भगवद्गीता में काल की पृथक् गणना की गयी है । ईश्वर को `काल` कहने का तात्पर्य है कि ईश्वर अन्तर्यामी तत्व के रूप में काल में स्थित है, और काल का नियन्त्रण करता है । ईश्वर शरीरी अर्थात् आत्मा है, तथा काल उनका शरीर है । श्रुति के अनुसार ईश्वर काल का जनक है ।[3]

कालविभाजन प्रयोजन विचार

काल हर क्षण परिवर्तित होता रहता है फिर भी इसके क्षण को मिनट, घंटा, दिन आदि में विभक्त करने की उपयोगिता के विषय में आचार्य वेदान्तदेशिक का विचार है कि किसी भी द्रव्य का विभाजन उसके ज्ञान प्राप्ति

----

1. अतोऽनुमान मात्रेण कालोऽन्यथानैव सिध्यति । केवलागम सिद्धे च न लोकव्यवहार्यता ।

   -- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 165

2. प्रकृति पुरुषवत् ब्रह्मणो अन्यत् रूपं इति मुनिभि: निर्दिष्ट: ।

   -- तत्वमुक्ताकलाप - 1.65

3. (क) समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत् ।

   -- ऋग्वेद - 10.190.2

   (ख) सर्वे निमेषाजज्ञिरे विद्युत: पुरुषादधि ।

   -- शुक्ल यजुर्वेद - 32.3

के विषय में सहायक है । अत: अनादि अनन्त एवं अखण्ड काल का उपाधि द्वारा विभिन्न् घटकों में विभाजन कार्य को ठीक ढंग से करने के लिए आवश्यक एवं उपयोगी है । अपनी अवस्थाओं के विषय में काल उपादान कारण है, और अन्य वस्तुओं के संदर्भ में निमित्त कारण है । क्योंकि शास्त्रों के अनुसार प्रलय के समय सूर्य, आकाश आदि समेत समस्त संसार के विलीन होने पर भी काल विद्यमान रहता है, उसका विनाश नहीं होता ।[1]

काल का विभाजन

यद्यपि काल अनन्त है, परन्तु इसे सूर्य की गति से सेकिन्ड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, मासादि में विभक्त किया जाता है ।[2] सत्वादि गुणों से रहित नित्य, विभु, अचेतन द्रव्य को काल कहते हैं । जो भूत, वर्तमान, भविष्य, भेद से तीन प्रकार है । अर्थात् सत्व, रजस्, तमस् गुणों से रहित और प्रयोजन के बिना काल में रहते हैं । वे सदैव आविर्भाव करने वाले, व्यापक तथा प्राकृत, अप्राकृत, अचेतन भिन्न, अचेतन द्रव्य को काल कहते हैं । वे भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्य काल के भेद से तीन प्रकार के हैं । निमेष आदि कार्यों को उपादान कहते हैं, और क्षण आदि प्राकृत व्यवहार के आधार होते हैं । निमेष, काष्ठा, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, दक्षिणायन, उत्तरायण और वर्ष आदि कार्यों का काल कहते हैं ।[3] आचार्य रामानुज ने `वेदार्थ संग्रह` में निमेष से लेकर ब्रह्मा

----

1. अनादि भगवान् कालो न अन्तोऽस्य द्विज विधीयते ।

   -- विष्णु पुराण - 1.2.26

2. कालोऽनाद्यनन्तोऽजस्रक्षणपरिणामी मुहूर्ताहोरात्रादि विभागयुक् सर्वेषां परिणामस्पन्द हेतु: ।

   -- सर्वार्थ सिद्धि - 1.69

3. आद्यो विभुर्भूतभाविवर्तमानत्वधीकर: ।
   निमेषादि प्रभेदेन बहुभेदस्त्वसौमत: ।।

   -- वेदान्त कारिकावली

की आयु पर्यन्त काल के अनेक विभागों का वर्णन किया है ।[1] विशिष्टाद्वैत में काल के निम्नलिखित विभाग माने गये हैं । काल, अनादि, अनन्त एवं एक है उसमें क्षण, लव इत्यादि जो अवान्तर विभाग होते हैं, वे स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न उपाधियों के सम्बन्ध से काल, क्षण, लव आदि शब्दों से व्यवहृत होता है । अत: उस अखण्ड काल में क्षणत्व इत्यादि औपाधिक धर्म होते हैं । यह प्रथम पक्ष का मत है । दूसरे पक्ष में यह है कि काल क्षण, लव, कला, मुहूर्त आदि के रूप में परिणत होता रहता है । इस पक्ष में क्षण, लव आदि विकारों के प्रति काल उपादान कारण है, क्योंकि हम यह मान भी लें कि काल विकार वाला है, काल के विकारित्व के अनुसार भले उसका विभुत्व नष्ट हो जाय, परन्तु विभुत्व के कारण विकारित्व नष्ट नहीं हो सकता । वास्तविक अर्थ तो यह है कि विकारित्व विभुत्व का बाधक नहीं है । काल विकारी होता हुआ भी विभु बन सकता है । काल विभु होने से ही सभी देशों तथा नित्य होने से सभी कालों में सन्निहित है । अत: उसका किसी देश या किसी काल में अभाव नहीं होता । जैसे एक ही द्रव्य विविध अवस्थाओं के भेद से घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में प्रतीत होता है । वस्तुत: काल नित्य और सर्वत्र व्याप्त है ।

विभाजन

18 निमेष	--	1 क्षण (काष्ठा)
30 क्षण (काष्ठा)	--	1 कला

----

1. निमेषकाष्ठाकला मुहूर्तादि परार्थ पर्यन्तापरिमितावच्छेदं ।
-- वेदार्थ संग्रह

30 कला	--	1 मुहूर्त
30 मुहूर्त	--	1 अहोरात्र
15 अहोरात्र	--	1 पक्ष
2 पक्ष	--	1 मास
2 मास	--	1 ऋतु
3 ऋतु	--	1 अयन
2 अयन	--	1 वर्ष[1]

इस प्रकार इनका[2] विभाजन करते हुये प्रत्येक विभाजन का विश्लेषण किया जाता है।

निमेष

सिद्धान्ततः आंख के पलकों में स्वाभाविक कम्पन के उन्मेष की सहायिका शक्ति के नाम को निमेष काल कहते हैं। कूर्म पुराण में आधा या एक बार के झपकने को निमेष काल कहते हैं।[3]

----

1. अष्टादशनिमेषास्तु काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कलाः।
   तास्तु त्रिंशत क्षणास्ते तु मुहूर्तो द्वादशस्त्रियाम्।।
   -- अमर कोष: - 1.4.11
2. सर्वेनिमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
   कला मुहूर्ताः काष्ठाश्चाहोरात्राश्च सर्वशः।।
   -- न्यायसिद्धाञ्जनम्
3. तत् पराख्यं तदर्द्धं च परार्द्धमभिधीयते।
   -- कूर्म पुराण - 1.5.2.3

काष्ठा

मनुस्मृति के अनुसार 28 निमेष का एक काष्ठा काल होता है । किन्तु कूर्म पुराण में 25 निमेष का एक काष्ठा काल बताया है ।[1] इस प्रकार 3 निमेष `कूर्म पुराण` ने मनुस्मृतिकार से कम बताये हैं ।

कला
---

30 काष्ठा का एक कला काल होता है । कूर्म पुराण ने भी मनुस्मृतिकार का इसमें समर्थन किया है ।[2]

मुहूर्त
---

30 कला का एक मुहूर्त काल है । कूर्म पुराण में भी इसी को स्वीकार किया है ।[3]

अहोरात्र (दिन)
----

30 मुहूर्तों का एक अहोरात्र काल होता है । कूर्म पुराण में इसे स्वीकार किया गया है ।[4]

----

1. काष्ठापञ्चदशख्याता निमेषाद्विजसत्तमा: ।

-- कूर्म पुराण - काल संख्यानम्, पृ0 38

2. काष्ठास्त्रिंशत् कला गति: ।

-- कूर्म पुराण -

3. त्रिंशत् कला मौहर्त्तिकी गति: ।

-- वही, 1.5.2.4

4. तावत् संख्यैरहोरात्रं मुहूर्तैर्मानुषं स्मृतम् ।

-- वही.

इस प्रकार उपर्युक्त काल वर्गीकरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 1 निमेष में .213 सेकेण्ड होते हैं । 1 काष्ठा में 3.2 सेकेण्ड, 1 कला में 1 मिनट 36 सेकेण्ड, और 1 मुहूर्त में 48 मिनट, 30 मिनट में 1 घण्टा, 24 घंटे का एक दिन जिसे अहोरात्र भी कहते हैं ।

पक्ष
---

15 दिन के दो पक्ष होते हैं, जिन्हें कृष्ण पक्ष एवं शुक्ल पक्ष के नाम से जाना जाता है ।

मास

इसी प्रकार 30 दिन का या 2 पक्षों का एक मास होता है, जिसे कूर्म पुराण में स्वीकार किया गया है ।[1]

ऋतु

दो मास का एक ऋतु काल होता है । सिद्धान्त मंदाकिनी ने भी इसी का समर्थन किया है ।[2] और छः ऋतुओं को मानकर दो मास में एक ऋतु का उल्लेख किया गया है ।

----

1. अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः ।

-- कूर्मपुराण - 1.5, 2.5

2. मासद्वयस्यर्तुकालः ।

-- सिद्धान्त मंदाकिनी - स प्रभा टीका, पृ० 50.

अयन

तीन ऋतुओं का एक अयन काल होता है । अयन शब्द से तात्पर्य यहां छ: मास से है, क्योंकि छ: मास का अयन काल होता है ।[1] यह भी दो नामों से जाना जाता है, दक्षिणायन एवं उत्तरायण ।

वर्ष

दो अयन कालों का एक वर्ष माना जाता है जो 100 वर्ष मनुष्यों का आयु काल होता है । सिद्धान्तत: मनुष्य की आयु 100 वर्ष होती है क्योंकि इन 100 वर्षों का ही विभाजन करके चार आश्रमों का उल्लेख किया जाता है, और प्रत्येक आश्रम की आयु 25 वर्ष निर्धारित की गयी है ।[2] मनुष्यों का एक मास पितरों का एक दिन होता है । सूर्य उत्तरायण होने पर देवताओं का एक दिन होता है । इसी प्रकार सूर्य के दक्षिणायन होने पर देवों की रात्रि की गणना मान्य है ।[3]

चतुर्युग काल

युग की अवधारणा सनातन काल से चली आ रही है । किन्तु अभी मैक्सिको

----

1. तै: षडभिरयनं वर्ष द्वयने दक्षिणोत्तरे ।
-- कूर्म पुराण - काल संख्यानम्

2. शैशवे अभ्यस्त विधानां, यौवने विषयैषणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।।
-- रघुवंश, महाकाव्यम्

3. अयनं दक्षिणं रात्रिर्देवानामुत्तरं दिनम् ।
-- कूर्म पुराण - 1.5.2.6

से 'ल्यूइस गोन्सालेस रहमान' का एक महत्वपूर्ण 'शोध-प्रबन्ध' स्पेनिश भाषा में प्रकाशित हुआ है, जिसका शीर्षक है --
" TRIMPOCICLICO YERAS DEL MUNDO INLA INDIA " ESS

इस ग्रन्थ में ज्योतिष गाथा तथा संस्कृत की परम्परा के अनुसार युगों के वर्ष संख्या में अन्तर पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है । अत: देवताओं का 12000 वर्ष का चतुर्युग काल होता है । मनुस्मृति, सिद्धान्त मन्दाकिनी तथा सूर्य सिद्धान्त एवं कूर्म पुराण में इसी समय को स्वीकार किया गया है ।[1]

युगों के भेद :

मनुस्मृति, सिद्धान्त मन्दाकिनी, सूर्य सिद्धान्त एवं कूर्म पुराण में युगों का विभाजन निम्न प्रकार से किया गया है -- सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि युग - इस तरह से चार युग माने जाते हैं । इनका विवेचन इस प्रकार से किया गया है --

1. सतयुग :

मनुस्मृति और सूर्य सिद्धान्त में सतयुग का समय 4000 चार हज़ार वर्ष

----

1. (अ) यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद् द्वादश साहस्रं देवानां युगमुच्यते ।।
मनुस्मृति - 1.71.

(ब) देवानां द्वादश सहस्र वर्षं चतुर्युगम् ।
-- सिद्धान्त मन्दाकिनी, स.प्रभा टीका,पृ0 50

(स) सूर्य सिद्धान्त, मध्यमादि0 - कारिका - 1, पृ0 91

(द) दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम् ।
चतुर्युगं द्वादशभि: तद्विभागं निबोधत ।।
-- कूर्म पुराण - 1.5.2.7

माना गया है । सिद्धान्त मन्दाकिनीकार ने सतयुग को 42000 वर्ष कहा है । परन्तु कर्म पुराण में 4000 वर्ष ही स्वीकार किया है ।[1] इस काल परिमाण में कुछ शंका उत्पन्न होती है, क्योंकि 42000 वर्ष का सतयुग कहीं उल्लिखित नहीं है । कई ग्रन्थों का अवलोकन करने के बाद सिद्धान्त मंदाकिनी के अनुसार काल परिमाण सन्देहास्पद प्रतीत हुआ है । अत: `सतयुग` का काल परिमाण 4000 वर्ष ही होना चाहिये ।

2. त्रेता युग :

3000 वर्ष का त्रेता युग काल है । इस काल परिमाण को `मनुस्मृति` और सिद्धान्त मंदाकिनी तथा सूर्यसिद्धान्त ने माना है । यही प्रमाण कूर्म पुराण में भी प्राप्त होता है ।[2]

3. द्वापर युग :

2000 वर्ष का द्वापर युग काल होता है । इस काल परिमाण को पुराण, मनुस्मृति, सिद्धान्त मन्दाकिनी एवं सूर्यसिद्धान्त ने माना है ।[3]

----

1. चत्वार्याहु: सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् ।
-- कूर्म पुराण

2. (क) त्रीणि वर्ष सहस्राणि त्रेतायुगम् ।
-- मनुस्मृति

(ख) तृउसहस्र वर्ष त्रेता युग काल: ।
-- सिद्धान्त मंदाकिनी

3. (क) द्वे वर्ष सहस्र द्वापर: ।
-- मनुस्मृति - 1.70

(क्रमश:...)

4. कलियुग :

1000 वर्ष का कलियुग काल माना गया है । मनुस्मृति, सूर्य सिद्धान्त, सिद्धान्त मंदाकिनी एवं पुराणों में भी स्वीकार किया गया है ।[1]

युगों की सन्धि

लगभग 2000 वर्षों की युग सन्धि मानी गयी है । मनुस्मृति और सूर्य सिद्धान्त में युग सन्धि का योग न बताकर केवल पूर्व सन्धि और उत्तर सन्धि में विभक्त कर दिया गया है, जिनका योग 2000 वर्ष ही होगा । परन्तु कूर्म पुराण में इन युग सन्धियों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है ।[2]

1. सतयुग की सन्धि

सतयुग की पूर्व सन्धि 400 वर्ष की होती है । और 400 वर्ष की

(ख) द्विसहस्र वर्ष द्वापर: काल: ।

-- सिद्धान्त मंदाकिनी, पृ० 51

(ख) सूर्य-सिद्धान्त -- मध्य० 1, पृ० 10.

1. (क) वर्ष सहस्र कलि: । -- मनुस्मृति - 2-70, पृ० 23

(ख) देवनां सहस्रवर्ष कलियुग काल: ।

--सिद्धान्त मंदाकिनी, प्रभा टीका, पृ० 51

(ग) सूर्य: सिद्धान्त - मध्य० - 2, पृ० 20.

2. (क) युगानां सन्धि द्विसहस्र वर्षाणां भवन्ति ।

सिद्धान्त मंदाकिनी, पृ० 51

(ख) त्रिद्वेक साहस्र मतो बिना संध्यांशकेन तु ।

त्रेताद्वापर तिष्यागां काल ज्ञाने प्रकीर्तितम् ।।

--कूर्म पुराण 2.5.17-20

ही उत्तर सन्धि होती है । इस प्रकार सतयुग की सन्धि का योग 800 वर्ष होता है । क्योंकि चारों युगों की सन्धियों का योग 2000 वर्ष होना चाहिये । सिद्धान्त मंदाकिनीकार ने उत्तर सन्धि का उल्लेख नहीं किया है । किन्तु अन्य ग्रन्थों के आधार पर सतयुग की उत्तर सन्धि का उल्लेख किया गया है । मनुस्मृति, सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्त मंदाकिनी में कूर्मपुराण के समान ही पूर्व सन्धि और उत्तर सन्धि का नाम उल्लेख न करके इनके स्थान पर संध्या एवं सन्ध्यांश शब्द का प्रयोग किया गया है ।[1] जिनका योग 400 - 400 वर्ष माना गया है ।

अत: सतयुग की सन्धि 800 वर्ष की होती है ।

2. त्रेता युग की सन्धि

त्रेता युग की पूर्व और उत्तर सन्धि को 300 - 300 वर्ष का माना है । इस प्रकार दोनों योग 600 वर्ष हुआ । मनुस्मृति और सूर्य सिद्धान्त में भी सन्ध्या और संध्यांश का इतना ही योग प्राप्त है ।[2]

3. द्वापर युग की सन्धि

द्वापर की पूर्व और उत्तर सन्धि 200-200 वर्ष की होती है ।[3]

----

1. (क) सतयुगस्यपूर्वसन्धिर्चतुश्शतं वर्षाणां भवन्ति ।

-- सिद्धान्त मन्दाकिनी, पृ0 51

(ख) तस्य तावच्छती सन्ध्या संध्यांशश्च कृतस्य तु ।

-- कूर्म पुराण - 2.5.2.8

2. त्रेता पूर्वसन्धि: त्रिशतवर्षात्मक: । उत्तर सन्धिकाल त्रिशतवर्षात्मक: ।

-- सिद्धान्त मंदाकिनी, पृ0 29

3. द्वापरस्यपूर्वसन्धिकालोद्विशतवर्षात्मक: । उत्तरसन्धिकालो द्विशत वर्षात्मक: ।।

-- वही, पृ0 51

दोनों का योग 400 वर्ष होता है । इतना ही समय मनुस्मृति और सूर्य-सिद्धान्त में माना गया है ।

4. कलियुग की सन्धि

कलियुग की पूर्व और उत्तरसन्धि 100-100 वर्ष मानी गयी है । मनुस्मृति और सूर्य-सिद्धान्त ने भी इसी सन्धि काल को माना है । कूर्म पुराण में भी इन सभी सन्धियों का उल्लेख किया गया है ।[1] इस प्रकार चारों युगों की पूर्व सन्धि और उत्तर सन्धि का योग 2000 वर्ष होता है । चारों युगों के 2000-2000 वर्ष का ब्रह्मा का एक दिन एवं एक रात्रि समझना चाहिये । विष्णु पुराण, और मनुस्मृति, ने भी इतना ही समय का उल्लेख किया है । ब्रह्मा के एक दिन में 24 मनु तथा इन्द्र सप्तर्षि हैं, और प्रत्येक का एक-एक युग मात्र से स्थिति काल होता है ।

`कूर्म पुराण` एवं `शब्द कल्पद्रुम` के अनुसार 14 मनुओं के नाम इस प्रकार हैं -- स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, तथा आज के मनु भी वैवस्वत हैं । सावर्णि, दशावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि । इस प्रकार प्रत्येक मन्वन्तर में भगवत् अवतार होने पर इन्द्र, देवगण, सप्तर्षि, मनु और मनु पुत्र अलग-अलग

----

1. (क) तस्य तावच्छती संन्ध्या सन्ध्यांश्च कृतस्य तु ।
त्रिशती द्विशती सन्ध्या तथा चैकशती क्रमात् ।
अपार्कं षट्शतं तस्मात् कृत सन्ध्यांशकं विना ।।
-- कूर्म पुराण - 1,5,2,9.

(क्रमशः...)

हो जाते हैं ।[1]

प्रलय के प्रकार एवं विशिष्टता

वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार जिस क्रम से भूत और भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है, ठीक इसके विपरीत क्रम से उनका संहार होता है -- अर्थात् जो पदार्थ सृष्टिकाल में जिस पदार्थ से सृष्ट होता है, वह उसी पदार्थ में संहार काल में लीन भी होता है ऐसा सिद्धान्त है । वेदान्त में उत्पत्ति का

(ख) कलियुगस्य पूर्व सन्धि काल एक शत वर्षात्मक: ।
उत्तर सन्धिकाल एक शत वर्षात्मक: ।।
-- सिद्धान्त मंदाकिनी

1. (क) कृतं त्रेताद्वापर च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने ।।
-- विष्णु पुराण - 3-1-15

(ख) देविकानां युगानां तु सहस्रंपरिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकम दृश्येवं तावतीं रात्रिमेव च ।।
-- मनुस्मृति - 1-72.

(ग) ब्रह्मणो दिवसे विप्रा मनव: स्यश्चतुर्दश ।
स्वायंभुवादय: सर्वे तत: सावर्णि कादय: ।।
मन्वन्तरेण चैकेन सर्वाण्येवान्तराणि वै ।
व्याख्यातानि न संदेहा कल्पं कल्पेन चैव हि ।।
-- कूर्म पुराण - 1-5-17-14

अर्थ है व्यक्ति और संहार का तात्पर्य है लय । कोई भी पदार्थ असत् होकर उत्पन्न नहीं होता, और न सद्रूप से किसी पदार्थ का नाश ही होता, किन्तु कारण ही कार्य रूप से प्रतिभासित होता है । कारण की सत्ता के अतिरिक्त कार्य की कोई सत्ता नहीं है, कारण की सत्ता ही कार्य की वास्तविक सत्ता है । उदाहरण के लिये घट की कोई सत्ता नहीं है । यदि घट की सत्ता मृत्तिका की सत्ता से भिन्न होती तो मृत्तिका का नाश होने पर भी घट उसी रूप में बना रहता, नष्ट नहीं होता, किन्तु ऐसा नहीं होता, मृत्तिका के नष्ट होते ही घट भी नष्ट हो जाता है । अत: यह सिद्ध है कि कारण की सत्ता ही कार्य की वास्तविक सत्ता है । इसी तरह किसी पदार्थ का नाश भी अपने कारण में लीन हो जाना ही है, अन्य कुछ नहीं । घट का नाश अपने उपादान मृत्तिका में लीन हो जाना ही समझा जाता है । जो पदार्थ जिसमें नहीं रहता, वह उससे उत्पन्न नहीं हो सकता, तिलों से ही तैल उत्पन्न होता है, क्योंकि उनमें वह है । यदि यह नियम नहीं होता तो बालू से भी तैल उत्पन्न हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता, तिलों से ही तैल उत्पन्न होता है, जैसे दूध से ही मक्खन पैदा होता है । अत: निर्विवाद हम यह कह सकते हैं कि संहार का अर्थ उस पदार्थ का सर्वथा नाश नहीं है, किन्तु अपने उपादान में लीन हो जाना ही उसका संहार है । यह है संहार के विषय में वेदान्त का सिद्धान्त । यह संहार ही वेदान्त में `प्रलय` शब्द से व्यवहृत है अर्थात् संहार ही वेदान्त में `प्रलय` कहा जाता है । प्रलय का अर्थ है -- त्रैलोक्यनाश । जिसमें इस त्रिलोकी का नाश हो जाता है वह है प्रलय । वह शास्त्रों में चतुर्विध माना गया है । शब्दकल्पद्रुम में भी प्रलय के प्रकारों को चार रूपों में विभक्त किया गया है, जो निम्नलिखित हैं --

1. नित्य
2. नैमित्तिक

3. प्राकृत

4. आत्यन्तिक ।

किन्तु कतिपय पुराणों में नैमित्तिक एवं प्राकृतिक प्रलयों का अति दु:खावह वर्णन पाया जाता है । सिद्धान्त मंदाकिनी में इन्हीं दो प्रलयों का उल्लेख किया है । परन्तु विशिष्टाद्वैत वेदान्त के आचार्य वुच्चिवेंकटाचार्य ने वेदान्त कारिकावली में 3 प्रलयों का वर्णन किया है ।[1] जिनकी विस्तृत व्याख्या कूर्म-पुराण में भी की गयी है । जिनका क्रम इस प्रकार से है --

1. नित्य प्रलय
2. नैमित्तिक प्रलय
3. प्राकृत प्रलय

----

1. (अ) नित्य नैमित्तिक प्राकृत लया: कालहेतुका: ।
एवं प्रकाशितं कालस्वरूपस्य निरूपणम् ।
-- वेदान्त कारिकावली

(ब) (1) शब्दकल्पद्रुम -- तृतीय भाग, पृ0 210.
(2) सिद्धान्त मंदाकिनी -- स0 प्रभा टीका, पृ0 51

(स) योऽयं संदृश्यते नूनं नित्यं लोके दायस्त्विह ।
नित्य: संकीर्त्यते नाम्ना मुनिभि: प्रति संचर: ।।
ब्राह्मो नैमित्तिको नाम कल्पान्ते यो भविष्यति ।
त्रैलोक्यस्यास्य कथित: प्रतिसर्गो मनीषिभि: ।।
महदादि विशेषान्तं यदा संयाति संक्षयं ।
प्राकृत: प्रतिसर्गोऽयं प्रोच्यते काल चिन्तकै: ।।
-- कूर्म पुराण - 2.43,16, पृ0 162

1. नित्य प्रलय :

जो प्रलय प्रतिदिन होता है, उसको नित्य प्रलय कहते हैं । वह है सुषुप्ति, इसमें सकल कार्यों का प्रलय हो जाता है, एक भी कार्य व्यक्त रूप से नहीं रहता । अत: सकल कार्य प्रलय रूप होने से सुषुप्ति ही नित्य प्रलय है । वह सदा हम लोगों का प्रलय किया करती है । अर्थात् सुषुप्ति-काल में जब सब कार्य अपने कारण में लीन हो जाते हैं, उस समय तमोगुण से आवृत्त मनुष्य सुख रूप को प्राप्त करता है । सुषुप्ति समय में समग्र कार्यों का अपने कारणों में लय हो जाता है, अत: सुषुप्ति भी प्रलय है । यह नित्य होती है, इसलिये इसे `नित्य प्रलय` के नाम से शास्त्रों में उल्लेख किया गया है । यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब सुषुप्ति अवस्था में सकल कार्य नष्ट हो जाते हैं, तो फिर सोकर उठने के बाद सुख-दु:ख आदि का अनुभव कैसे होता है ? सुषुप्ति से उठकर जो मनुष्य यह कहता है कि मैं सुख सोया, यह क्यों होता है ? सुख दु:ख के कारण धर्माधर्म का तो सुषुप्ति में लय हो जाता है, तो फिर उसके कार्य से सुख-दु:ख क्यों उत्पन्न होते हैं ? और स्मृति का कारण संस्कार भी सुषुप्ति में नष्ट ही रहता है । अत: इसका कार्य सुख-दु:ख का स्मरण भी उठने के बाद नहीं होना चाहिये । तात्पर्य यह है कि जब सुषुप्ति काल में सब कुछ विलीन हो जाता है, तो फिर मनुष्यों को जो यह अनुभव होता है, मैं सुख से सोया, मैं दु:ख से सोया - वह नहीं होना चाहिये । क्योंकि वहां सुख एवं दु:ख के कारण धर्म और अधर्म नहीं रहते और न वहां उठने के बाद उन सुख दु:ख आदि की स्मृति ही होनी चाहिये, क्योंकि स्मृति का कारण संस्कार भी वहां नहीं रहता ।

किन्तु यह प्रश्न कुछ सूक्ष्म विचार करने पर उसी समय विलीन हो जाता है । यद्यपि सुषुप्ति में कार्य रूप से सबका विलय हो जाता है, तथापि कारण

रूप से धर्म, अधर्म और संस्कार आदि की सत्ता वहां रहती ही है । इसलिए न तो वहां धर्माधर्म - कार्य सुख दु:ख आदि के अनुभूत होने का ही प्रश्न उठ सकता, और न सोकर उठने के बाद उनकी स्मृति ही अनुपपन्न हो सकती है । क्योंकि वहां सुख दु:ख के कारण धर्माधर्म और स्मरण का कारण संस्कार कारण रूप से विद्यमान रहता है । अब दूसरी शंका यह उठ सकती है कि जब सुषुप्ति में सबके विनाश के साथ-साथ अन्त:करण का भी विनाश हो जाता है, तो फिर उस अवस्था में प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान आदि क्रियायें कैसे हो सकती हैं ? प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सोये हुये मनुष्य का भी अन्न पचता है, श्वास, प्रश्वास आते जाते रहते हैं ।

इस शंका का समाधान शास्त्रकारों ने इस प्रकार से किया है कि अन्त:करण की दो शक्तियां हैं -- 1. ज्ञान शक्ति, 2. क्रिया शक्ति ।

सुषुप्तावस्था ज्ञान शक्ति विशिष्ट अन्त:करण का ही लय होता है, न कि क्रिया शक्ति विशिष्ट अन्त:करण का । जब सुप्त मनुष्य स्वप्न नहीं देता तब वहां केवल प्राण ही एक रहता है, सब नामों के साथ वाक् भी उसी प्राण में प्रविष्ट हो जाती है ।[1] और उस समय पुरुष सत् से सम्पन्न हो जाता है, अपने आप को प्राप्त कर लेता है ।[2]

----

1. यदा सुप्त: स्वप्नं न कञ्चन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति, अथैनं वाक् सर्वैर्नामभि: सहाप्येति ।
-- कौषीतकि उपनिषत् - 3.2

2. सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति ।
-- छान्दोग्य उपनिषत् - 6.8.1

अत: क्रिया शक्ति विशिष्ट अन्त:करण का लय न होने से प्राण, अपान, व्यान आदि क्रियायें अनुपपन्न नहीं हो सकतीं ।

2. नैमित्तिक प्रलय :

इस प्रलय में ब्रह्मा का जब एक दिन समाप्त होने पर हो तब विश्व का नाश होता है जिसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं । अर्थात् कार्य ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) के दिन के समाप्त हो जाने पर जो तन्निमित्तक तीन लोकों -- भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक का नाश होता है । चतुर्युग जितने समय में एक हज़ार बार बीतते हैं, उतना समय `हिरण्यगर्भ` का दिन कहलाता है ।[1] यह नैमित्तिक प्रलय उतने काल तक रहता है जितने समय तक हिरण्यगर्भ का दिन रहता है । क्योंकि हिरण्यगर्भ का दिन जितना बड़ा है, उतनी ही बड़ी उसकी रात्रि भी है । अत: `नैमित्तिक प्रलय` वह कहलाता है जब विश्वस्रष्टा भगवान हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण त्रैलोक्य को अपने में लीन करके सदा शेष शय्या पर सोते हैं ।[2]

3. प्राकृत प्रलय :

इस प्रलय में जब प्रत्येक वस्तु प्रकृति में विलीन हो जाती है, तो उसे प्राकृत प्रलय कहते हैं । अर्थात् कार्य ब्रह्म के नष्ट हो जाने पर तन्निमित्तक समग्र

----

1. (क) `चतुर्मुखस्य सायंकालो नैमित्तिक प्रलय काल: ।`
-- सिद्धान्त मंदाकिनी, स० प्रभा टीका, पृ० 51

(ख) `चतुर्युग सहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।`
-- विष्णु पुराण

2. एष नैमित्तिक: प्रोक्त: प्रलयो यत्र विश्व सृक् ।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम् ।।
-- कूर्म पुराण

कार्यों का नाश होता है । यहां यह सदा स्मरणीय है कि `नाश` शब्द यहां जो भी प्रयुक्त हुआ है वह सभी जगह उसका `लय` ही अर्थ है, प्रध्वंस अर्थ नहीं है । सुषुप्ति काल में कार्य ब्रह्मविनाश निमित्तक सकल कार्यों का नाश नहीं होता, अत:वहां अतिव्याप्ति दोष नहीं आ सकता । कार्य ब्रह्म का अर्थ है-- हिरण्यगर्भ । प्रथम जीव वही है, वही आदिकर्ता और ब्रह्मा भी वही है ।[1] हिरण्यगर्भ को जब परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तब उसको ब्रह्माण्डाधिकार-लक्षण प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाने पर विदेह कैवल्य नामिका परमामुक्ति प्राप्त हो जाती है, और साथ-साथ हिरण्यगर्भ-लोक में रहने वाले भी परब्रह्म का साक्षात्कार होने के अनन्तर विदेह मुक्त हो जाते हैं । अर्थात् प्राकृत प्रलय प्राप्त होने पर जब हिरण्यगर्भ की मुक्ति होती है, तब सत्य लोक निवासी भी ब्रह्म साक्षात्कार करके विदेहमुक्त हो जाते हैं ।[2] प्राकृत प्रलय को व्यक्त करते हुये कहा जा सकता है कि निमेष का आरम्भ होने से प्राकृत प्रलय के अन्तर्गत प्रकृति से उसका कार्य और उत्पत्ति एवं लय उसका आधार है । जैसे -- राम - रावण का युद्ध त्रेता युग में हुआ । यहां युग का अधिकरण आधार त्रेता युग है, न कि खण्डकाल है । इसी प्रकार `कंस` का वध द्वापर में हुआ । यहां भी कंस वध का अधिकरण आधार द्वापर काल हुआ, न कि खण्ड काल । खण्ड काल को महाकाल का उपादेय काल मानकर प्राकृत वस्तुओं का आश्रय स्वीकार करके, वस्तु का आधार होता है -- ऐसा जाना जाता है । निमेष आदि कालों की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है, और प्रलय के समय निमेष आदि उसी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं ।

----

1. स वै शरीरी प्रथम: स वै पुरुष उच्यते ।
   आदि कर्ता च भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ।।

2. ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
   परस्यान्ते कृतात्मान: प्रविशन्ति परं पदम् ।।

अभिप्राय यह है कि समग्र कार्यों का तो प्रकृति `माया` में लय हो जाता है, और कार्यब्रह्म `हिरण्यगर्भ` का परब्रह्म में लय होता है, एवं उसके साथ ही उस लोक में रहने वालों का भी उसी परब्रह्म में लय होता है । यही प्राकृत प्रलय `महाप्रलय` भी कहा जाता है ।

प्रलय के समय `काल` भगवान का सहकारी कारण

नैयायिकों के अनुसार कारण लय क्रम से कार्यों का लय नहीं होता, क्योंकि वेदान्त में नैयायिकों का सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है । नैयायिकों के सिद्धान्त में तो पहले कारण लय होता है, पीछे कार्य । किन्तु विचारणीय वार्ता यह है कि जब कारण का नाश हो गया, तब कारण के विना कार्य बाद में कैसे हो सकता है । जब मृत्तिका नष्ट हो गयी तब घट क्या रह सकता है ? यदि ऐसा नहीं तो फिर बताईये कारण लय क्रम से सब पदार्थों का लय कैसे होगा ? अत: ठीक सृष्टिक्रम के विपरीत क्रम से सब पदार्थों का अपने कारण में लय होता है । जैसे जिस क्रम से सीढ़ियों पर चढ़ा जाता है, उसके ठीक विपरीत क्रम से उतरा भी जाता है । उसी तरह पृथिवी का जल में लय होता है, जल का तेजस् में तेजस् का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का जीवाहंकार में, जीवाहंकार का हिरण्यगर्भाहंकार में प्रलय होता है । यही बात विष्णुपुराण में कही गयी है -- कि जगत्प्रतिष्ठाभूत यह पृथिवी जल में लीन होती है, और जल तेजस् में, तेज वायु में लीन होता है । वायु आकाश में लीन होता है, आकाश अव्यक्त में और अव्यक्त निष्कल पुरुष में प्रलीन हो जाता है ।[1]

----

1. जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सुप्रलीयते ।
   तेजस्याप: प्रलीयन्ते तेजो वायौप्रलीयते ।।
   वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते ।
   अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले सम्प्रलीयते ।।
   विष्णु पुराण

इस प्रकार काल ईश्वर के साथ स्थित रहता है । ईश्वर की सर्वत्र व्यापकता और कालकी सर्वत्र-व्यापकता में विरोध नहीं क्योंकि ईश्वर और काल साथ-साथ रहते हैं । परन्तु भगवान का धाम `वैकुण्ठ` - `विगता कुण्ठा इति वैकुण्ठ` कुण्ठा अर्थात् जड़ता एवं माया रहित है । यह काल द्वारा प्रभावित नहीं होता । यहां काल सर्वदा सुन्दर, सौम्य एवं सुरम्य रहता है ।[1] काल यहां नित्य रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता । इस स्नान के समय, पूजा के समय, प्रसाद के समय आदि का बोध होता है ।

वरवरमुनि काल को तत्व गुण रहित प्रकृति मानते हैं, परन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में काल को ईश्वर के स्वरूप में उनकी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं जिसे हम `काल` को प्रलय के समय में भी भगवानं के सहकारी कारण के रूप में कह सकते हैं ।

0

----

1. नित्य विभूतौ तु कालस्य विधमानत्वेऽपि तस्य न स्वातन्त्र्यम् केचितु तत्र कालो नास्तीति वदन्ति ।

-- यतीन्द्रमतदीपिका

चतुर्थ अध्याय

नित्य विभूति स्वरूप विशिष्टाद्वैत सम्मत

नित्यविभूति लक्षण

विशिष्टाद्वैत दर्शन में स्वीकार किया जाता है कि परमात्मा की दो विभूतियां हैं -- 1. श्री विभूति, 2. नित्य विभूति ।

नित्य विभूति श्री भगवान् के दिव्य वैकुण्ठ धाम को कहते हैं । नित्य विभूति को शुद्ध सत्व तथा त्रिपाद विभूति भी कहा जाता है । पुरुष सूक्त का यह मन्त्र भी परमात्मा की इन दोनों विभूतियों का निर्देश करता है ।[1] अर्थात् परमात्मा की पाद विभूति में यह सम्पूर्ण जगत् है, तथा परमात्मा की अमृत त्रिपादविभूति द्युलोक वैकुण्ठलोक में है । यह परमात्मा का ऐश्वर्य है तथा परमात्मा का परमपुरुष उससे महान् है । यह अजड़त्व स्वयं प्रकाशत्व रूप है ।[2] स्वयं प्रकाश उसे कहते हैं, जो अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशक पदार्थ की अपेक्षा न रखे । इसी प्रकार स्वयम्प्रकाशत्व नित्य विभूति में है । नित्य विभूति को शुद्धसत्व भी कहा जाता है ।[3] क्योंकि इस विभूति में रहने वाला सत्वगुण

----

1. एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्चपूरुष: ।
   पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।`
   -- यजुर्वेद संहिता, 32.3
2. `शुद्धसत्वधर्मभूतज्ञानजीवेश्वर साधारणं लक्षणमजडत्वम् ।`
   -- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 104
3. शुद्धसत्वे धर्मभूतज्ञानजीवेश्वरेषु च ।
   अजडत्वं भवेल्लक्ष्म तत्पुन: स्वप्रकाशता ।।
   -- वेदान्तकारिकावली - का0 सं0 1, पृ0 59

प्राकृतिक न होकर दिव्य है । प्रकृति में रहने वाला सत्वगुण रजोगुण एवं तमोगुण से मिश्रित रहता है ।

परन्तु नित्यविभूति में पाये जाने वाले सत्वगुण में रजोगुण व तमोगुण का मिश्रण नहीं है । अत: इसे शुद्ध सत्व कहते हैं । शुद्ध सत्व में अजड़त्व होते हुये पराक्त्व भी है ।

पराक् का अर्थ है -- `परस्मै अ चति` अर्थात् जो अपने से भिन्नों के लिए प्रकाशित हो । इस प्रकार नित्य विभूति भी अपने से भिन्न ईश्वर तथा नित्य मुक्त जीवों के लिए प्रकाशित होती है ।

प्रथम लक्षण में बताया कि जो त्रिगुण द्रव्य से व्यतिरिक्त होकर जो सत्व गुण पदार्थ हो, वह नित्य विभूति है ।

द्वितीय लक्षण में कहा गया है कि जो स्वयंप्रकाश होता हुआ पदार्थ सत्वगुण वाला हो वह नित्य विभूति है ।

तीसरे प्रकार के लक्षण में जो पदार्थ तमोगुण से रहित हो, तथा सत्वगुण वाला हो, वह नित्य विभूति है ।

चतुर्थ लक्षण को स्पष्ट करते हुये कहा गया कि जहां पहुंचने में मुक्तात्मा पर अमानव का कर स्पर्श होता है, वहां मुक्तात्मा की सम्पूर्ण अविद्या अर्थात् कर्म नष्ट हो जाते हैं । ऐसा वह प्रदेश नि:शेषाविद्या निवृत्त देश माना जाता है तथा चेतन और धर्मभूत ज्ञान से व्यतिरिक्त जो स्वयं प्रकाशने वाला पदार्थ है, वह नित्य विभूति है ।[1]

----

1. `त्रिगुणद्रव्य व्यतिरिक्त सत्वे सति सत्ववत्त्वम्, स्वयंप्रकाशत्वे सति

(क्रमश:...)

लाक्षणिक खण्डन एवं मण्डन

इस प्रकार इन लक्षणों को देखते हुये प्रश्न बनता है कि 'निःशेषाविद्या निवृत्तदेशत्वम्' इतना ही नित्यविभूति का लक्षण क्यों नहीं माना जाता ?

अतएव भाव यह है कि जहां मुक्त के पहुंचने पर सम्पूर्ण अविद्या अर्थात् कर्म नष्ट हो जाते हैं, वह नित्य विभूति है । इस प्रकार यह लक्षण मानने पर निर्वाह हो जाता है । नित्यविभूति में पहुंचते ही जीव के सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि 'निःशेषाविद्या निवृत्ति देश विजातीयान्यत्वम्' ऐसे गुरुभूत लक्षण की क्या आवश्यकता है । किन्तु वस्तुतः बात ऐसी है कि यदि निःशेषाविद्या निवृत्ति देशत्व ही नित्यविभूति का लक्षण माना जाय तो उस देश में विद्यमान नित्यसूरि विग्रह आदि को लेकर अव्याप्ति दोष उपस्थित होगा, क्योंकि वे विग्रह निःशेषाविद्या निवृत्ति देश नहीं है, बल्कि उस देश में रहते हैं। वे विग्रह भी नित्य-विभूति के अन्तर्गत ही हैं । उनमें यह लक्षण नहीं घटता, अतः अव्याप्ति दोष होगा । इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिए - 'निःशेषाविद्याविवृत्तिदेश विजातीयान्यत्वम्' यह लक्षण माना गया है । इसी प्रकार का लक्षण उन विग्रहों में भी इस तरह रहता है कि जहां जाने पर जीवात्मा के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं । वह देश निःशेषाविद्या निवृत्ति देश है । प्रकृति एवं काल इससे विजातीय हैं । वे विग्रह उस देश से विजातीय नहीं हैं, बल्कि उस देश से सजातीय है, क्योंकि उस देश तथा विग्रह में एक नित्यविभूति जाति रहती है । उस देश से विजातीय पदार्थ

सत्वकत्वम्, तमोरहितत्वे सति सत्ववत्त्वम्, निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेशे विजातीयान्यत्वम्, इत्यादि तल्लक्षणम् ।।

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, 4.474.

तो प्रकृति और काल ही हैं । अत: उन विजातीय पदार्थों से जो अन्य पदार्थ हों वह नित्य विभूति है । इस प्रकार लक्षण करने पर समन्वय ऐसा हो जाता है कि उन विजातीय प्रकृति तथा काल पदार्थों से वह देश एवं वे विग्रह पदार्थ अन्य हैं ।

अत एव पुन: यहां पर शंका होती है कि `नि:शेषाविद्यानिवृत्ति-देशसजातीयत्व` यही नित्य विभूति का लक्षण क्यों नहीं माना जाता । इसे लक्षण मानने पर भी समन्वय इस प्रकार सम्पन्न हो जाता है कि उस नि:शेषाविद्या निवृत्ति देश के वे विग्रह पदार्थ सजातीय ही हैं, क्योंकि उस देश तथा उन विग्रह पदार्थों में एक नित्यविभूतित्व जाति रहती है, उस जाति को लेकर वे सब पदार्थ सजातीय बन जाते हैं । अत: `नि:शेषाविद्या निवृत्ति देशं जातीयत्व` इस लघु लक्षण से ही जब यहां निर्वाह हो जाता है, तब `नि:शेषाविद्यानिवृत्तिदेशविजातीयान्यत्व` ऐसे इतने बड़े लक्षण को मानने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है `नि:शेषा-विद्यानिवृत्तिदेशसजातीयत्वम्` ऐसा लक्षण करने पर यह जिज्ञासा उठती है कि किस प्रकार का साजात्य विवक्षित है । यदि जिस किसी रूप से साजात्य विवक्षित हो तो प्रकृति में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि प्रकृति भी पदार्थस्वरूप से नि:शेषाविद्यानिवृत्तिदेश की सजातीय होती है । यदि नित्य विभूति रूप को लेकर साजात्य विवक्षित हो तो यह अतिव्याप्ति दूर हो सकती है, फिर भी आत्माश्रय दोष प्राप्त होगा, क्योंकि नित्यविभूति के इस लक्षण में साजात्य प्रयोजक रूप से नित्य विभूतित्व को मान लेने पर आत्माश्रय दोष होगा ही । अत: सिद्ध होता है कि `नि:शेषाविद्या निवृत्ति देश सजातीयत्व` यह लक्षण समीचीन नहीं हैं ।

प्रश्न यह उठता है कि `नि:शेषाविद्यानिवृत्तिदेशविजातीयान्यत्व` ऐसा लक्षण करने पर भी यह आत्माश्रय दोष होगा ही, क्योंकि नित्यविभूतित्व

भिन्न जाति से युक्त पदार्थ ही विजातीय शब्द से अभिहित होगा । और इस नित्यविभूति के लक्षण में नित्यविभूतित्व का समावेश हो जाने से आत्माश्रय दोष होगा, अब इसका समाधान कैसे करोगे । इसका समाधान हम इस प्रकार करते हैं कि जिस प्रकार आप लक्षण में नित्य विभूतित्व का समावेश करते हो ऐसा नित्यविभूति का समावेश लक्षण में नहीं किया जाता है, लक्षण का तात्पर्य यह माना जाता है कि त्रिगुणद्रव्य, काल, जीव, ईश्वर, धर्मभूत ज्ञान और अद्रव्य से विलक्षण जो पदार्थ है, वह नित्यविभूति है । इस प्रकार का लक्षण करने में कोई दोष उत्पन्न नहीं होगा, अत: जो लक्षण ग्रन्थकार का है वह लक्षण ही नित्यविभूति का उपयुक्त लक्षण माना जायेगा ।[1]

नित्य विभूति विषयक प्रमाण

नित्य विभूति के विषय में इस प्रकार के प्रमाणों से प्रमाणित किया जाता है कि प्रकृति के ऊपर आदित्य के समान वर्णयुक्त दिव्यमंगलविग्रह से सम्पन्न भगवान् का प्रतिपादन करता है । इससे शुद्ध सत्व मय नित्यविभूति में भगवद्विग्रह सिद्ध होता है । स्वर्ग शुद्ध से भी नित्य विभूति का प्रतिपादन किया गया है । और भी इस रजोगुण युक्त प्रकृति के ऊपर श्रीभगवान् निवास करते हैं । इससे भी दिव्य मंगल विग्रह विशिष्ट भगवान् का प्रकृति के ऊपर विद्यमान नित्य विभूतित्व सिद्ध होती है । आगे इन लक्षणों से भी नित्य विभूति की प्रामाणिकता इस प्रकार से सिद्ध है -- इस प्रपंच का अध्यक्ष परमाकाश में विराजमान है । वह परमात्मा अक्षर अर्थात् अविनाशी परमाकाश में विराजमान है । यहां पर यह परमाकाश नित्यविभूति ही है । तथा च सहस्रस्तम्भयुक्त अपरमिति दृढ और बलिष्ठ मण्डप में भगवान् विराजमान् हैं । इसमें भी नित्य-

----

1. 'श्रीनीलमेघाचारीयुक्त टिप्पणी' -- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ० 473.74

विभूति के अन्तर्गत मण्डप विशेष का वर्णन है । अतः इन सभी सम्पन्न लक्षणों की प्रामाणिकता से नित्यविभूति सिद्ध होती है ।[1]

शुद्ध सत्त्व ही नित्यविभूति है --

एक ही सत्तात्मक शुद्ध सत्त्व को वेदविद् विप्र - ब्रह्म, ज्ञानीगण, इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् अनेक नामों से पुकारते हैं । एक ही सत्तात्मक परमात्मा विष्णु के ये अनेक नाम हैं । ये अपनी योगमाया - शक्ति प्रकृति के द्वारा इस प्राकृतिक एकपाद् विभूति में असंख्य ब्रह्माण्डों का निर्माण किया है, तथा त्रिपाद् विभूति जो परम अक्षर, कालातीत, सदा नित्य, अप्राकृत, सर्वश्रेष्ठ है, उसमें सर्वोपरि मोक्षधाम या वैकुण्ठ या विष्णुपद या परम-पद को निवेशित किया है । इस प्रकार वेदत्रयी में एक समान शुद्ध सत्त्व नित्यविभूति वर्णित है ।[2] सृष्टि रचना के पूर्व भी ये ही शुद्धसत्त्वमय गुणातीत रूप से स्थित था, एवं सृष्टिसंहारोपरान्त यही अवशिष्ट रहेगा तथा इस वर्तमान सृष्टि के समय में भी यही सद्रूप में स्थित

----

1. 'आदित्यवर्णतमसः परस्तात्, ते ह नाकम्, क्षयन्तमस्य रजसः पराके, योऽस्याध्यक्षः परमेव्योमन्, तदक्षारे परमेव्योमान्, सहस्रस्थूणे विमिते-दृढ उग्रे ।'

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ० 475.

2. (अ) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

-- ऋग्वेद - 1.164-46.

(क्रमशः...)

है ।[1] त्रिपाद्विभूतिमय भगवद्धाम में जो हैं, वे न तमोगुणी हैं, न रजोगुणी हैं और न तमोगुण से मिश्रित सत्वगुणी हैं । वहां पर शुद्ध सत्वमय, परमानन्द, शान्तिमय, सत्-चित्-आनन्द ही आनन्द है । जहां पर श्रीभगवान् के अनन्य प्रेमी भक्तगण आनन्दमग्न हो विहार करते हैं वहां त्रिगुणमयी माया भी नहीं है तथा काल का विक्रम वहां नहीं है, तब अन्य कामक्रोधादि बाधायें वहां हो ही नहीं सकती हैं । ऋग्वेद में भी कहा गया है कि भूत, वर्तमान, भविष्यत् रूप में जितना भी जगत् है वह इस पुरुष की महिमा का द्योतक है । किन्तु वह पुरुष तो इससे भी बहुत बड़ा है, अपार महिमा वाला है । जिस प्राकृतिक ब्रह्माण्ड का कुछ भी ओर-छोर नहीं मालूम हो सकता, ऐसे अखण्ड ब्रह्माण्ड उस परम पुरुष के चतुर्थांश में परमाणुवत् दिखायी पड़ते हैं । यह तो एकपाद् विभूति की लीला है । इनका त्रिपाद् विभूति तो अनन्त अपार मन-बुद्धि-वाणी

(ब) विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं, यः पार्थिवानि विममेरजांसि ।
यो अस्कमायदुत्तरं सध , विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवेत्वा ।।
-- यजुर्वेद - 5-18.

(स) विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं, यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कमायदुत्तरं सधस्थं , विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ।।
-- ऋग्वेद - 1-154-1
एवं अथर्ववेद - 7-26-1.

1. अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ।।
-- श्रीमद्भागवतम्, 2.9.32

का अविषय तुरीयावस्थामय है । वह अमृत मय अविनाशी परमशुद्ध सत्वमय गुणातीत है ।[1] सर्वव्यापक श्री भगवान् ने इस चराचर समस्त विश्व को विभक्त करके एकपादविभूति में धारण कर रखा है, तथा त्रिपाद्विभूति में अपने पद या धाम को निर्धारित किया है । इन श्री भगवान् का नित्यधाम त्रिपाद्विभूति अविनाशी, अमृत सच्चिदानन्द स्वरूप है । और यह चराचर एकपाद्विभूति लीलामयीसृष्टि है, लीला तो मनोविनोद है । अत: यह भगवत् लीला भी नित्य है ।

इस संसार का उपादान-कारण ब्रह्म सत्य है, और जगत् मिथ्या है, परिवर्तन शील है यह सभी उस सत्वब्रह्म की लीलामात्र है ।[2] वस्तुत: मूल रहस्य यह है कि श्रीभगवान् धर्म विग्रह सत्वराशि हैं । सत्व में सर्वतोभाव से धर्म की प्रधानता है । इसी शुद्ध सत्वस्वरूप को वेदान्ती ब्रह्मरूप में सांख्यवादी पुरुष रूप में नैयायिक कर्तारूप में मीमांसक कर्मस्वरूप में योगदार्शनिक योगी परमतत्वरूप में मानते हैं ।

नित्यविभूति अनाद्यन्त हैं

यह नित्यविभूति वह है जो परमपद अनादि है क्योंकि वह कभी बनता नहीं । नित्य होने के कारण उसके उदय और अस्त नहीं होते, वह नित्योदित है । छान्दोग्य उपनिषद् ने उसे अकृत बताया है -- अर्थात् अ = नहीं । कृत = रचित । अभिप्राय यह हुआ कि यह नित्यविभूति रचित नहीं है, अत: यह शरीर

----

1. एतावानस्यमहिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुष: ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।
-- ऋग्वेद - 10.90.3

2. 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर: ।'

को त्याग कर कृतकृत्य हो अकृत = नित्य ब्रह्म लोक को प्राप्त होता हूं ।[1]

नित्य विभूति अप्राकृत है --

यह नित्यविभूति परमपद त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति का बना हुआ नहीं है । वह तो चेतन है स्वयंप्रकाश है । वह शुद्ध-सत्ता एवं शुद्ध-सत्व है । वह सत्व रजोगुण और तमोगुण का सहवर्ती सत्व गुण नहीं है, प्रत्युत इससे विलक्षण है । प्राकृत सत्व जड़ सत्ता है और अप्राकृत सत्व अजड़ सत्ता है । जड़ पदार्थ परत: प्रकाश: होता है, और अजड़ स्वयंप्रकाश है । परमपद अथवा नित्य विभूति स्वयंप्रकाश सत्ता है ।[2] अत एव उसकी ज्ञानादि षड्गुण विलासमयता स्वयंसिद्ध है । ब्रह्मतन्त्र में इस रहस्य को इस प्रकार से प्रकट किया गया है ।[3] रजस् शब्द का अभिप्राय यह है कि त्रिगुणमयी प्रकृति है,

----

1. `धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म लोकमभिसम्भवामि ।`
-- छांदोग्योपनिषद् - 8.13.1

2. (अ) `स्वसत्ताभासकं सत्वं गुण सत्वाद् विलक्षणम्`

(ब) पराक्त्वे सव्यजडता लक्षमपृथग्योर्मतम् ।
परस्मैभासमानत्वं पराक्त्वमिति गद्यते ।।
-- वे० का० - का० सं० 2, पृ० 61

3. लोकं वैकुण्ठनामानंदिव्यं षाड्गुण्यसंयुतम् ।
अवैष्टावानामप्राप्यं गुत्रत्रय विवर्जितम् ।।
-- ब्रह्मतंत्र

क्योंकि सत्व और तमस् के बिना केवल रजोगुण नहीं रह सकता । तीन गुणों वाली इस प्रकृति के मण्डल से परे दिव्य धाम है, और वहीं श्री भगवान् निवास करते हैं, जिसे हम नित्यविभूति कहते हैं ।[1] श्रीभगवान् की वासभूमि होने के कारण दिव्यधाम का यद्यपि व्यतिरेक - विभक्ति से शास्त्र में निर्देश है[2] तथापि फिर भी वह भगवान् के ही स्वरूप में अन्तर्निहित है । नित्य-विभूति भगवान् की अपनी ही महिमा है, छान्दोग्य उपनिषद् में इसका स्पष्ट रूप से कहा है कि वह भगवान् कहां रहता है - जो नित्यविभूति धाम है वही उसका वास है ।[3] परम दयालु भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार सोच कर उन गोपों को मायान्धकार से अतीत अपना परम धाम दिखलाया । भगवान् ने पहले उनको उस ब्रह्म का साक्षात्कार करवाया जिसका स्वरूप सत्य, ज्ञान, अनन्त, सनातन और ज्योति: स्वरूप है तथा समाधिनिष्ठ गुणातीत पुरुष ही जिसे देख सकता है, वह धाम ही नित्यविभूति है ।[4]

----

1. 'क्षायन्तमस्य रजस: पराके ।'

-- ऋग्वेद - 7.110.5

2. 'तद्विष्णो: परमं पदम्'

-- वही - 1.22.20

3. 'स भगव: कस्मिन् प्रतिष्ठित: स्वे महिम्नि' ।

-- छान्दोग्य उपनिषद्

4. (अ) 'स्वेमहिम्नि स्थितं देवं निर्विकारं निरञ्जनम् ।'

-- ब्रह्मतन्त्र:

(ब) इति संचिन्त्य भगवान महाकारुणिको हरि: ।
दर्शया मास लोकं स्वं गोपानां तमस: परम् ।।

(क्रमश:...)

नित्यविभूति के विभिन्न नाम

अचित कहते हैं ज्ञान शून्य तथा विकारी पदार्थ को । वह तीन प्रकार का होता है -- शुद्ध सत्त्व, मिश्र सत्त्व और सत्त्व शून्य । शुद्ध सत्त्व का अर्थ है -- जिसमें रजोगुण तमोगुण मिला हुआ न हो । केवल सत्त्वस्वरूप ही हो वह शुद्धसत्त्व नित्य विभूति है ।[1] जिसे भगवल्लोक, त्रिपाद् विभूति, परम पद कहते हैं । परमपद अर्थात् भक्तजन श्री विष्णु भगवान् के उस परमपद का दर्शन करते हैं ।[2] श्री विष्णु भगवान् के परमपद में माधुरी का निर्झर है ।[3] ऐसा वह परमपद अत्यन्त प्रकाशमान है ।[4] परमपद समस्त कार्यों के भी पूर्व

सत्यंज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिस्सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिता: ।।
-- श्रीमद्भागवतम्, 10.28.14-15

1. अचितपदार्थ -- पृ0 90.
- `विशिष्टाद्वैत तत्व दिग्दर्शन`

2. `तद्विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सू ।`
-- शुक्लयजुर्वेद - 6.5

3. `विष्णो: पदे परमे मध्व उत्स: ।`
-- ऋग्वेद - 1.154.5

4. `परमं पदमवभाति भूरि ।`
-- वही - 1.154.6

विद्यमान कारण है, सब वाणियों का सर्वोत्तम वाच्य है, और योगियों का परमासिद्धि है ।[1] इस प्रकार विज्ञान-सारथि साधक श्री विष्णु के उस परमपद को प्राप्त करता है ।[2] इस परम पद नित्यविभूति को कई नामों से जाना जाता है -- परमव्योम, त्रिपाद् विभूति, महाविभूति, सनातन आकाश, दिव्य स्थान, परम-स्थान, पर-स्थान, परागति, अनामय पद, शाश्वत पद, ब्रह्मलोक, ब्रह्म पुर, वैकुण्ठ -- ये सभी परम पद नित्यविभूति के पर्याय माने जाते हैं ।

1. परमव्योम --

इस स्थान विशेष में श्री भगवान् को विराजमान् दिखाते हुये उन्हें प्रणाम किया गया है ।[3] आगे भी कहा गया है कि जो परमव्योम निवासी परमात्मा को जान लेता है, वह उनके साथ उन्हीं के-से कल्याण गुणों का उपभोग करता है ।[4] अत: यह भी नित्यविभूति है ।

----

1. कार्याणां कारणं पूर्वं वचसां वाच्यमुत्तमम् ।
   योगिनां परमांसिद्धिंपरमं ते पदं विदु: ।।
   -- ब्रह्मतन्त्र
2. `स तु तत्पदमाप्नोति तद्विष्णो: परमं पदम् ।`
   -- कठोपनिषद् - 1.3.9
3. `स्थिताय परमे व्योम्नि भूयो-भूयो नमो नम: ।`
   -- ब्रह्मतन्त्र
4. `यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
   सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।।`
   -- तैत्तरीय उपनिषद् - 2.1.1

2. त्रिपाद्विभूति --

यहां पर भगवान् की एकपाद विभूति का दर्शन होता है जिसे 'लीला-विभूति' भी कहते हैं। इस लीलाविभूति का संहार होने से यदा-कदाचित् इसके संरक्षणार्थ प्रभु का शुभागमन होता है।[1] त्रिपाद् विभूति उस प्रकाशमान लोक में है।[2] त्रिपाद विभूति को ही बैकुण्ठधाम कहते हैं। वह भगवान् के भोग के लिये है। वैकुण्ठ में भगवान् विशेष दिव्य-रूप में सदा विराजते हैं। इस प्रकार यह भगवान् का विशेष स्थान है।

3. महाविभूति --

यह महाविभूति श्रीबैकुण्ठनाथ का दिव्य शरीर है। जो महालक्ष्मी के सुन्दर कान्ति वाले दोनों नेत्रों का लक्ष्य बना रहता है।[3] श्रीभगवान् के दिव्यविग्रह में समर्पित अनुपम एवं अपरमित आभूषण ही कबाड़ी का काम करते हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् के दिव्य शरीर के फैले हुये सुगन्ध बैकुण्ठ को

----

1. 'भोगे नित्यस्थितिस्तस्य लीलां संहरते कदा।
भोगे लीला ह्युभौतस्य धार्ये ते शक्ति मतया।।'
-- पद्म पुराण - उ० ख०

2. 'त्रिपादस्यामृतंदिवि।'
-- साम्वेद मंत्र - 619.

3. 'श्रीमहालक्ष्म्याः सुन्दरकान्तिमद्दीर्घनेत्रयोर्नित्यंलक्ष्य भूतत्वात्।'
-- अर्चिरादिमार्ग - पृ० 88.

सर्वत्र सुगन्धित करते हैं ।[1] अत: हे पुरुषोत्तम महाविभूति में निवास करने वाले आपको प्रणाम करता हूं ।[2]

4. सनातन आकाश --

इस नित्यविभूति को परमव्योम तथा परमाकाश यह सनातन आकाश इसलिये कहा जाता है कि यह सभी लोकों से ऊपर एवं परम प्रकाशस्वरूपा है । यहां सूर्य, चन्द्रमा आदि किसी का भी प्रकाश नहीं होता, अत: इस विभूति को सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि कोई भी प्रकाशित नहीं करते ।[3] इसलिये यह पद सनातन आकाश है ।[4]

5. दिव्य स्थान --

यह वह दिव्य स्थान है, जो आध अजर और अप्रमेय है । अन्य उपायों से दुर्विज्ञेय है, किन्तु आगम अर्थात् पंचरात्र संहिताओं द्वारा ज्ञेय है ।[5]

----

1. 'विसृमर दिव्यविग्रह परिमलेन श्रीवैकुण्ठं सर्वत्र परिमलिनम् ।'
-- अर्चिरादिमार्ग, पृ0 89.
2. 'महाविभूति संस्थाय नमस्ते पुरुषोत्तम् ।'
-- ब्रह्मतन्त्र
3. 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक: ।'
-- गीता
4. 'तच्चाकाशं सनातनम् ।'
-- वाल्मीकि रामायणम्
5. 'दिव्यंस्थानमजरं चाप्रमेयं दुर्विज्ञेयं-यागमैर्गम्यमाद्यम् ।'
-- महाभारत

इस स्थान को ब्रह्मचिन्तक योगाभ्यासी और एकान्तभाव से भगवदुपासक उसी परमस्थान को प्राप्त करते हैं, जिसका दर्शन नित्यमुक्त सूरि निरन्तर करते रहते हैं।[1] यह स्थान ब्रह्माजी के लोक से भी ऊपर स्थित है, जिसका दर्शन करने में देवगण भी असमर्थ हैं। वह पवित्र सूर्य और अग्नि से भी अधिक प्रकाशमान, निश्चल, अक्षय और अव्यय स्थान परमात्मा श्रीविष्णु का धाम है।[2] ऐसे इस आद्यपरम दिव्य स्थान को योगी पुरुष प्राप्त करते हैं।[3] अतः यह वह स्थान है, जहां पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता, जो कुछ भी परिणाम होता है वह श्री भगवान् की इच्छा से ही, वह नित्य, मुक्त तथा ईश्वर के साक्षात्कार का विषय है। श्रीभगवान् के उस परमपद को सदा नित्य सूरिगण देखते हैं।[4] वह परम शुद्ध सत्वमय है। वहां रजोगुण, तमोगुणादि का लेश भी नहीं है। इसी कारण इसे नित्यविभूति का दिव्य स्थान कहते हैं।

----

1. 'एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनश्च ये।
'तेषां तु परमस्थानं यत्तत् पश्यन्ति सूरयः।'
-- विष्णु पुराण - 1.6.39

2. 'ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं परं स्थानं प्रकाशते।
देवापि यन्न पश्यन्ति सर्वतेजोमयं शुभम्॥
अत्यर्कानलदीप्तं तत् स्थानं विष्णोर्महात्मनः।
स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम्॥'
-- महाभारत - वनपर्व.

3. 'योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्' -- गीता - 8.28.

4. 'तद्विष्णोः परमंपदं सदा पश्यन्ति सूरयः।'
-- वेदान्तकारिकावली - टि0 - पृ0 60.

रामानुज सम्प्रदाय में वैकुण्ठ धाम लीला वर्णन

यह `श्री वैकुण्ठ धाम` `अर` एवं `ण्य` नाम वाले दो अमृतमय समुद्रों के मध्य तथा मणि पर्वत नामक नदी के और विरजा नामक नदी के पार, व ऐरम्मदीय अमृत सरोवर, मनोहर सोम-सवन नामक अश्वत्थ वृक्ष के समीप है।[1] श्री वैकुण्ठ दिव्य नगरी का नाम अपराजित पुरी भी है। ब्रह्मज्ञानियों को छोड़कर दूसरे किसी से वह नगरी जीती नहीं जा सकती इसलिये उसका नाम अपराजित पुरी पड़ा।[2]

श्री पराशर भट्ट स्वामी जी ने श्री वैकुण्ठ नगरी का वर्णन करते हुये लिखा है कि हे श्री रङ्गमन्दिर में विराजमान महालक्ष्मी जी क्या श्री वैकुण्ठ दिव्य नगरी आप और श्रीमन्नारायण भगवान की राजधानी है। वहां नगर-पालक सूरिगण आज्ञा करते समय भय कर तथा अनुग्रह करते समय सौम्य दिखाई देते हैं। यह नगरी भक्तों का परम प्राप्य फल है। श्रुति ने अयोध्या और

----

1. (अ) तेषामसौ विरजो ब्रह्म लोकः।`

-- प्रश्नोपनिषद् - 1.16

(ब) अरश्चह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितोदिवि।
तदैरम्मदीयं सरः तदश्वत्थः सोमसवनः।

-- छान्दोग्योपनिषद् - 8.5.3

(स) `इल्यो वृक्षः।`

-- कौषीतकि

2. `तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः।`

-- छान्दोग्योपनिषद् - 8.5.3

अपराजिता शब्द से इस नगरी का ही निर्देश किया है । यह नगरी स्वर्ग और सत्य लोकों से अत्यन्त ऊपर है । इस नगरी में अमृत बहाने वाले तथा अद्भुत आनन्द से परिपूर्ण पदार्थ भरे पड़े हैं । यही नगरी आप दोनों की प्रधान राजधानी है । एवं विधि महिमान्वित श्री वैकुण्ठ नगर के समीप मुक्त पुरुष पहुंचते हैं ।[1] ये पुरुष ध्वज आदि से अलंकृत प्राकारों से सुशोभित गोपुर के समीप पहुंचते हैं । वहां पर `इन्द्र` एवं `प्रजापति` नाम के दो द्वारपाल विद्यमान होते हैं । ये मुक्त पुरुषों को आता हुआ देखकर किंचित् हटकर मार्ग संकेत करते हुये कहते हैं कि श्री वैकुण्ठ नाथ भगवान् के दास आप लोग हमारे स्वामी हैं । हमारे स्थान पर पधारिये, हमारी सेवा स्वीकार कर हमें अनुगृहीत करें ।[2] श्री वैकुण्ठ नगर के दिव्य द्वार का किवाड़ आश्रितों के लिये सर्वदा खुला रहता है । मुक्त पुरुष उस द्वार को लांघकर अन्दर प्रविष्ट होते हैं । वहां से श्रीवीथी प्रारम्भ होती है, जिसके दोनों पार्श्वों में अत्यन्त उच्चकोटि के विशाल भवन ऐसे दिखाई देते हैं कि मानों दोनों तरफ रत्न पर्वत एकत्रित करके रखे गये हों । ऐसे उस दिव्य महावीथी के मध्य से होकर मुक्त पुरुष संचार करते हैं ।[3] अत: वैकुण्ठ धाम की शोभा अत्यन्त महत्वपूर्ण, अलौकिक

----

1. `आज्ञानुग्रहभीम कोमलपुरी पालाफलं भेजुषां ।
   याऽयोध्येत्यपराजितेति विदिता नाकं परेण स्थिता ।।
   भावैरद्भुत भोगभूमिगहनै: सान्द्रा सुधास्यन्दिभि: ।
   श्रीरंगेश्वरगेह लक्ष्मि युवयोस्तां राजधानीं विदु: ।।`

   -- श्रीगुणरत्नकोश -

2. `स आगच्छतीन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ, तावस्मादपद्रवत: ।`

   -- परमपद सोपान - टिप्पणी - 338.

3. `श्री वैकुण्ठनगर दिव्यद्वारकवाटमतीत्य प्रविश्य पक्षद्वयेऽपि संभृतमणिपर्वताय मानभवनाढ्यमहाश्रीवीथ्यामध्येसंचरति ।।`

   -- श्री परमपद सोपान -

श्री वैकुण्ठ दिव्य स्थल वर्णन.

एवं अवर्णनीय हैं ।

श्री महामणि मण्डप वर्णन

यह वह मण्डप है जो श्रीभगवान् के समान ही है । श्री भगवान् अनन्त कल्याण गुणों से पूर्ण हैं, उनके समान गुण अन्यत्र कहीं नहीं हैं । एवं विध श्रीभगवान् का यदि उपमान कोई हो सकता है, तो यह श्रीमहामणि मण्डप ही हो सकता है, श्री भगवान् विभु हैं, व्यापक हैं । यह मणि मण्डप भी उनके समान अत्यन्त विशाल है, तथा सम्पूर्ण मंगल पदार्थों से परिपूर्ण है । यही श्रीमहामणि मण्डप श्रुति में सभा शब्द से वर्णित है ।[1] श्री पराशर भट्ट स्वामी जी ने इस मण्डप के विषय में कहा है कि श्री भगवान् सभी जीवात्माओं के साधारण स्वामी हैं । सर्वस्वामी जगन्नाथ श्रीभगवान् की गोष्ठी में अपार भीड़ लगती है ।इस महामणि मण्डप में वैसी भीड़ लगने पर भी सम्पूर्ण भीड़ एक ही कोण में समा जाती है, खाली स्थान बहुत रह जाता है ।[2] इसी महामणि मण्डप का वर्णन उपनिषद् में इस प्रकार से किया गया है कि मण्डप में सहस्रों खम्भे लगे हैं , वह मण्डप विस्तृत सुदृढ़ और उग्र है, अर्थात् सर्वसाधारण उसको देखने में असमर्थ हैं, उसमें देवों के भी देव श्री भगवान् सदा विराजमान रहते हैं ।[3] इस प्रकार इस श्री महामणि

----

1. 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये ।'

-- परमपद सोपान - टि०, पृ० 341.

2. 'सर्वात्मसाधारणनाथगोष्ठीपूरेऽपि दुष्पूरमहावकाशम् ।
आस्थानमानन्दमयं सहस्रस्थूणादिनाम्नातमवाप्नुवन्ति ।।'

-- श्रीगुणरत्न कोषम्, प०प० सो०, टि०, पृ० 341

3. 'सहस्रस्थूणे वितते दृढउग्रे यत्र देवानामाधिदेव आस्ते ।'

-- तलवकार उपनिषद्, प०प०सो०, टि०, पृ० 341

मण्डप में पहुंचने पर अपार आनन्द का अनुभव होता है । इसलिये इसे आनन्दमय महामणि मण्डप कहते हैं । इस मण्डप के समीप प्रभु प्रेमी पवित्रतात्मा मुक्त पुरुष ही पहुंचते हैं ।वहां प्राची आदि दिशाओं में कार्य करने के लिए अधिकृत दिव्य पार्षदेश्वर विराजमान हैं जिनकी संख्या आठ है जो निम्नांकित हैं -- कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शंकुकर्ण, सर्वनेत्र, सुमुख, सुप्रतिष्ठित तथा इन्हीं सभी दिशाओं के द्वारों में कार्य करने के लिए आठ द्वारपाल भी विराजित हैं । जिनकी संख्या भी आठ है । नाम इस प्रकार से हैं -- चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र, जय, विजय, धाता और विधाता, इनमें जो वहां उपस्थित रहते हैं वे स्नेह और सम्मान के सहित मुक्त पुरुषों पर दृष्टिपात करते हैं ।[1] सेनापति श्री विश्वक्सेनसूरि जी के द्वारा नियुक्त - आस्थान निर्वाहक सूरिगण आकर इन मुक्त पुरुषों को श्री भगवद्दर्शन के लिए निमंत्रण देते हैं । ऐसे इन मुक्तात्माओं को आगवानी करके स्वागत पूर्वक लाने के लिए सर्वप्रथम पांच सौ अप्सराओं या दिव्य देवियों को भेजते हैं । वे अप्सरायें सौ-सौ का एक-एक झुण्ड बनाकर श्री दिव्य वैकुण्ठ नगरी से निकलती हैं जिनके हाथों में दिव्य माला, दिव्य अंजन, दिव्य चूर्ण, दिव्य वस्त्र, दिव्य पूर्ण कुम्भ और मंगल दीपों को लेकर आती हैं ।[2] ये देवियां और नित्य सूरिगण सम्मान के साथ मुक्त

----

1. श्रीमहामणि मण्डपमुपसृत्य तत्र कुमुदादिषु दिव्य पार्षदेश्वरेषु चण्डादिषु दिव्य द्वारपालेषु च सस्नेह महुमानम् अवलोकयत्सु ।

-- परमपद सोपान, पृ० 342.

2. आगमनार्थं प्रेषिता दिव्याप्सरस: पञ्चशतानि शतश: सङ्घीभूय दिव्य-माला जनचूर्णवास: प्रभृतीन्, समीचीन चूर्णपूर्ण कुम्भं दीपं च चन्द्र-मुखीषु स्त्रीषु कृत्वा प्रत्युद् गच्छन्तीषु ।

-- वही, पृ० 334, 340.

पुरुषों को श्री भगवान् के मन्दिर में ले जाते हैं। वास्तव में वह मन्दिर नित्य है, वह किसी भी भौतिक पदार्थ से निर्मित नहीं, स्वर्ण के समान उसकी आभा प्रकट हो रही है। उस दिव्य मंदिर के समीप पहुंचते ही ब्रह्म यश आकर मुक्तों के शरीरों में प्रविष्ट हो जाता है।[1] ब्रह्म यश प्रविष्ट हो जाने पर मुक्त पुरुष अत्यन्त उज्ज्वल हो जाते हैं। अनन्तर श्री महामणि मण्डप में पहुंचते हैं।

श्री वैकुण्ठ वासियों का वर्णन

श्री वैकुण्ठ धाम में पहुंचने पर सभी नित्य मुक्त जीव रसों से परे महा अमृत का आस्वादन करने से सदा सर्वदा समृद्ध रहते हैं। श्री वैकुण्ठनाथ के समान बने रहते हैं - अर्थात् चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा एवं पद्म से विभूषित रहते हैं। ब्रह्म पाप, जन्म, मृत्यु, जरा, क्षुधा और पिपासा से रहित सत्यकाम एवं सत्य संकल्प होते हैं। इस प्रकार नित्य मुक्त जीवों में इन आठ गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।[2] ये जीव भगवान् के सदा अनुभव-जन्य आनन्द के कारण

----

1. 'स आगच्छति विभुद्रम्भितं तं ब्रह्मयशः प्रविशति।'

-- परमपद सोपान, टि०, पृ० 340.

2. (अ) निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।

-- मुण्डकोपनिषद्, 3.1.3.

(ब) जगद् व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

-- ब्रह्मसूत्र - 4.4.27

(स) भोगमात्र साम्यलिङ्गाच्च।

-- ब्रह्मसूत्र - 4.4.21.

सामवेद का गान करते रहते हैं । ऐसे महापुरुष दिव्य स्थान पर पहुंचते हैं । यहां इस महासभा में भगवान् के सभी आयुध दिव्य पुरुषों के रूप में अपने-अपने मस्तकों पर अपने चक्रादि-कों के आकार को धारण कर दिव्य पुरुषों की भांति हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं । जो भगवत् इच्छा से सम्पूर्ण जगत् को सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करने में समर्थ हैं । वहां ऐसे श्री विष्वक्- सेव आदि भी क्रमश: प्रणाम करके अंजलि जोड़े खड़े रहते हैं । इस प्रकार संसार से गया हुआ मुक्त पुरुष भी उनकी समानता को प्राप्त हो जाता है ।

अत: इन पांच सौ अप्सराओं तथा नित्य सूरियों से सत्कृत होने के बाद मुक्तात्मा के पास श्रीगरुड़ जी विमान लेकर आते हैं । वह विमान असंख्य पताकाओं, मुक्तामालाओं, चांदनियों तथा दिव्य देवियों से अलंकृत एवं भगवत् संकल्प से निर्मित रहता है । उस विमान पर मुक्तात्मा को बैठाकर श्री गरुड़ आदि नित्य सूरिगण तिल्य वृक्ष के पास से ले जाते हैं -- अर्थात् वहां दिव्य अप्सरायें अनेक उपहार सामग्रियां लेकर मुक्तात्मा का स्तवन करती हुयी विशेष सत्कार करती हैं ।[1]

----

1. (अ) तं पञ्चशतान्यपसरसां प्रतिधावन्ति, शतं माला हस्ता:
शतमञ्जनहस्ता:, शतं चूर्ण हस्ता:, शतं वासो हस्ता:,
शतं फल हस्तास्तं बृसालङ्कारेणालंकुर्वन्ति ।
-- कौषीतकी उपनिषद्

(ब) दिव्या: स्त्रियो रत्नदण्ड्यामरोज्ज्वलपाणय: ।
शत रत्नदण्डोघतातपत्रलसत्करा: ।।
नर्तक्य: शतशस्तत्र गायका वादकास्तथा ।
दीपकालंकृताशमा माल्यगन्धानुलेपना: ।।

(क्रमश:...)

दिव्य पर्यंक वर्णन

बैकुण्ठ धाम में दिव्य सिंहासन के रूप में दिव्य पर्यंक विद्यमान रहता है। उसमें श्रीवैंकुण्ठनाथ भगवान् लीला विभूति और भोगविभूति इन दोनों विभूतियों के ऊपर एकछत्राधिपति के रूप में शासन करते हुये विराजमान रहते हैं, श्री भगवान के स्वरूप रूप और अवस्था को देखने पर प्रतीत होता है कि परमपद में युवराज के रूप में श्री भगवान् विराजमान रहते हैं। श्री भगवान् का सर्वविध उत्कर्ष उस सिंहासन में विराजते समय पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होता रहता है - अर्थात् त्रिपाद विभूति में भगवान् श्री वैकुण्ठनाथ का दिव्य सिंहासन सम्पूर्ण शोभाओं का धाम है। वह लीला और दिव्य भोग इन दोनों विभूतियों का विभाग करने वाला, भगवान् के स्वामित्व का प्रकाश करने वाला, सर्वैश्वर्यमय और महाप्रभावशाली है। उस दिव्य सिंहासन के ऊपर अनेक शक्तियों से युक्त बारह दलों वाला दिव्य कमल है। उसकी कर्णिका के ऊपर पुष्पों से बने हुये चित्र दिव्य योग पर्यंक - अर्थात् विविध भोगों से युक्त बिछौना है।[1] दिव्य

शतं माला करानार्यो वासो हस्ता: शतं तथा।
चूर्णाञ्जनादर्शकरा युवतय: शतशोऽन्विगु:।।
स्तुवत्योऽग्रे प्रनृत्यन्त्यो नमन्त्य: शतशोऽबला:।
गृहीत्वा सर्वसंभारान्हेमकुम्भपुरस्कृतान्।।
-- वृहद ब्रह्म संहिता

1. (क) 'स आगच्छत्यमितौसजम्।'
-- कौषीतकी उपनिषद् -
(परमपद सोपान - टि0, पृ0 348)

(क्रमश:..)

पर्यंक के ऊपर शेष शय्या है । श्री शेष जी का दिव्य मंगल विग्रह अनेक सहस्र चन्द्रों से बना हुआ शीतल कान्ति वाला है । वे अनन्त कल्याण गुणों से परिपूर्ण होने के कारण भगवान् के सर्वविध कैंकर्य करने के प्रधान अधिकारी हैं । अतएव अनन्त और शेष इन दोनों नामों से प्रसिद्ध हैं । वे भगवान् को अनुभव करने और अनुकूल करने के लिए सहस्र मुख से युक्त हैं । ज्ञान, बल, मृदुता और सौरभ आदि गुणों के निधि हैं ।

श्री यामुनाचार्य जी ने दिव्य पर्यंक वर्णन करते हुये लिखा है कि श्री शेष जी मंदिर, शय्या, आसन, पादुका, पीताम्बर, तकिया, वर्षा - धूप से बचने के लिए छाता आदि भगवत् सेवा के योग्य अनेक रूप धारण करते हैं । अत: उन सेवाओं के अनुसार शेष कहे जाते हैं ।[1] सेवा करने वाले को ही शेष कहा जाता है । ऐसे श्रीमान अनन्त जी के ऊपर चांदी के शिखरों पर उदय हुये हज़ारों सूर्यों के समान कणों के मण्डप मध्य में श्रीमन्नारायण विराजते

(ख) · तत्रचामरवद्भस्तैर्विमलादिभिरर्चितम् ।
पद्‌ममष्टदलं भाति तत्र शेषोऽस्ति धीमय: ।।
-- वेदान्त कारिकावली, का0 सं0 - 18.

1. तयासहासीनमनन्तभोगिनि, प्रकृष्ट विज्ञानबलैकधामनि ।
फणामणिव्रातमयूखमण्डलप्रकाशमानोदर दिव्य धामनि ।।
निवासशय्यासनपादुकांशुकोपधानवर्षातपवारणादिभि: ।
शरीर भेदैस्तव शेषतां गतैर्यथोचितं शेष इतीरिते जनै: ।।

हैं ।[1]

श्री वैकुण्ठधाम की तीनों देवियों का वर्णन --

श्रीमन्नारायण सम्पूर्ण जीवों के स्वामी हैं । वे शेष शय्या पर बैठे हुये हैं । उनके दक्षिण पार्श्व में महालक्ष्मी जी विराजमान हैं ।[2] श्री वैकुण्ठनाथ भगवान के वामपार्श्व में महालक्ष्मी जी से भी अधिक क्षमागुण वाली, अनिर्वचनीय, सुन्दरता वाली, उनकी काया के सदृश रहने वाली भू देवी और नीला देवी सुशोभित होती हैं । श्रीभाष्यकार स्वामी ने कहा है कि भगवान् लक्ष्मीपति होते हुये भी भूमि और नीला देवी के नायक हैं ।[3] इस प्रकार इन तीनों देवियों से सुसेवित श्रीभगवान् ही मुक्तों के प्राप्य हैं । वे ही मुक्तों के भोग्य हैं । तीनों देवियों से श्री भगवान् सदा सुसेवित होते हैं -- अर्थात् वैकुण्ठनाथ भगवान् आदि शेष सिंहासन पर विराजमान हैं, और श्री, भूमि, तथा नीला आदि से सेव्य हैं ।[4] श्री भगवान् की तीन महिषियां हैं ।

----

1. तत्रानन्दमय: साक्षात्सर्ववाचामगोचर: ।
अद्भुतज्योतिराकारो भाति नारायणात्मक: ।।
-- वेदान्तकारिकावली, का0 सं0 19.

2. `पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम् ।`
उपनिषद्, अर्चिरादि मार्ग, पृ0 76.

3. `एवंभूत भूमि नीलानायक: ।`
-- गद्यत्रय, वही, पृ0 79.

4. देवो वैकुण्ठनाथस्तु अनन्तासन संस्थित: ।
सेव्य: श्रीभूमिनीलाभि: प्रादुर्भावैस्तु चाखिलै: ।।
-- वल-पौष्करसंहिता, अर्चिरादि - मार्ग, पृ0 79

भगवान् को इन तीनों में अधिक अनुराग है ।[1] अत: ये तीनों श्री भगवान् के साथ सिंहासन पर विराजमान रहती हैं । इनमें श्री देवी प्रधान हैं । वह आश्रित जीवों को अपनाने के लिए श्री भगवान् से निवेदन करती हैं । भू देवी क्षमा गुण की निधि हैं । यह श्रीभगवान् से आश्रितों के अपराधों की क्षमा के लिए प्रार्थना करती हैं । तीसरी नीला देवी श्रीकृष्णावतार में नील नामक गोप कन्या के रूप में अवतीर्ण हुई हैं । ये अपने सौन्दर्य से श्री भगवान् को इस तरह मोहित किये रहती हैं कि वे आश्रितों के अपराधों को देख भी नहीं पाते । इस तरह ये तीनों देवियां आश्रितों की रक्षा करने के लिए श्री भगवान् को प्रेरित करती रहती हैं ।

अवतारवाद रहस्य विचार

भगवान् अनन्त हैं वे सर्वशक्तिमान् करुणामय परमात्मा अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी साधुपरित्राण, धर्म संरक्षण एवं जीवों पर अनुग्रह करने के लिए शरीर धारण कर लिया करते हैं -- अर्थात् अवतार लेते हैं । श्रीमद्भागवत में सूत जी ने व्यक्त किया है कि भगवान् के अवतरण और उनके अवतार-चरित्र भी अनन्त हैं ।[2] यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने भगवान् के स्वरूपों को पांच प्रकार से माना है -- पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार ।[3]

----

1. 'साहसिकानुरागवत्यो देव्य: श्रीदेवी भू देवी गोपमुग्ध देवीत्येतास्तिस्र: ।'

-- सहस्रगीतिपञ्चम शतक, 9.10.4

2. अवताराह्यसंख्येया हरे: सत्वनिधेर्द्विजा: ।
यथाविदासिन: कुल्या: सरस: स्यु: सहस्रस: ।।

-- श्रीमद्भागवत्, 1.3.36

3. 'ईश्वर: परव्यूह विभवान्तर्याम्यर्चावतार रूपेण पञ्च प्रकार: ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 83.

भगवान् के सजातीय अवतार रूप विग्रह को ही विभव कहते हैं । सत्य स्वरूप भगवान् का यह रूप सज्जनों की रक्षा के लिए उचित समय के आने पर अपने गुण समुदायों को त्यागे बिना, अपने सत्य स्वरूप विग्रह अंशों के द्वारा अवतार रूप ग्रहण करते हैं ।[1] उपनिषदों की भाषा में 'अवाङ्मनसगोचर' वह तत्त्व जब किसी विशेष परिस्थिति के कारण देवताओं, महर्षियों तथा मनुष्यों के दृष्टिगोचर होने के हेतु किसी विशेष रूप प्रकट होता है तब उसे परमात्मा का अवतार कहते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में अवतार के प्रमुख प्रयोजनों का बड़ी स्पष्टता के साथ वर्णन किया गया है - अर्थात् भगवान ने स्वयं कहा है कि हे अर्जुन जब-जब धर्म का ह्रास एवं अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपने आपकी सृष्टि करता हूं - सज्जनों की रक्षा, दुराचारियों के विनाश तथा धर्म की स्थापना के लिए युग-युग में अवतार लेता हूं ।[2]

अतएव इन परिस्थितियों में भगवान् ने कब-कब अवतार लिया तथा उन अवतारों में उन्होंने क्या किया, इस रहस्य का ज्ञान न तर्क से सम्भव है, न विज्ञान से, इस विषय का ज्ञान केवल दिव्य दृष्टि सम्पन्न महर्षियों को हुआ तथा उन्होंने मनुष्य जाति के कल्याणार्थ उसे पुराणों में लिपिबद्ध कर दिया । केवल भूत कालीन अवतारों के सम्बन्ध में ही नहीं, बल्कि भगवान के मानवीय रूपों का निरन्तर दर्शन होते रहने पर भी सामान्य मनुष्यों को

----

1. साधुत्राणादि हेतोः तदुचित समये विग्रहांशैः स्वकीयैः । स्वेच्छातः सत्य रूपो विमुखतर तिस्वान् गुणाधान् अनुज्झन् ।

-- तत्त्वमुक्ताकलाप, 3.69.

2. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

-- श्रीमद्भगवद्गीता, 4.7-8.

उनकी भगवत्ता का ज्ञान नहीं हो पाता । यहां तक कि राजा दशरथ को भी 'श्री रामचन्द्र - विष्णु के अवतार हैं' - इस बात का ज्ञान तब हुआ, जब वे रावण विजय के पश्चात् स्वर्ग से भगवान् शंकर के साथ विमान द्वारा लंका पधारे । वहां देवताओं के समागम से दशरथ जी को ज्ञात हुआ कि 'श्री रामचन्द्र रावण-वध के लिये अवतीर्ण हुये पुरुषोत्तम ही थे, जबकि यह बात महर्षि विश्वामित्र, महर्षि वशिष्ठ आदि ऋषियों को प्रारम्भ से ही ज्ञात थी ।

अत: अवतारों के सम्बन्ध में ऋषि प्रणीत शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण हैं । ऋषियों के अनुसार भगवान् ने दुष्टों के विनाशार्थ, सज्जनों के रक्षाणार्थ तथा धर्म की स्थापना के लिये परिस्थिति वश अनेक अवतार धारण किये हैं ।[1] तथापि उनमें दश अवतार प्रसिद्ध हैं -- मत्स्यावतार, कच्छपावतार, वराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, श्रीपरशुरामावतार, श्रीरामावतार, श्रीकृष्णावतार, बुद्धावतार, तथा कल्कि अवतार, यह दसवां अवतार कलियुग में अधर्म की पराकाष्ठा होने पर भविष्य में होने वाला है ।[2] इस प्रकार पृथ्वी देवी अपनी गोद में अति पीड़ित संतानों के कष्ट से दु:खी होकर अपने स्वामी श्रीमन्नारायण

----

1. पुरुषावतार, गुणावतार, कल्पावतार, युगावतार, पूर्णावतार, अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार आदि उनके अवान्तर भेद हैं । कल्प-भेद से भी प्रभु चरित्रों में भिन्नता आती है । श्रीमद्भागवतादि पुराण ग्रन्थों में सर्वसमर्थ कल्याण-विग्रह प्रभु के मुख्यतया चौबीस अवतारों का सविशेष वर्णन किया गया है ।

-- विष्णुपुराणाङ्क, पृ0 258.

2. (अ) मत्स्य: कूर्मवराहमानवहरिश्रीवामना भार्गव: ।
श्री रामो बलदेवदेवकी सुतो कल्की दशैते क्रमात् ।।

वैष्णवोपासना, - भवमङ्गलाष्टक स्तोत्रम्,

(क्रमश:...)

भगवान् की शरण लेती हैं, तब ऐसे समय में परम दयालु भक्तवत्सल भगवान् अपने दिव्य लोक को छोड़कर उस धरातल पर अनेक वैभवों समेत अवतार ग्रहण करते हैं। भगवान् के सभी अवतारों के विग्रह नित्य, दिव्य, शाश्वत, हानोपादान-रहित - अर्थात् जन्म विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय एवं विनाश रहित है[1]। आचार्य रामानुज के अनुसार भगवान् का शरीर उनके स्वरूप के अनुरूप; स्वेच्छामय, सदोज्वल एवं अप्राकृत है।[2] शास्त्रों के अनुसार षाड्गुणसम्पन्न भगवान् की

(ब) वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोल मुद्बिभ्रते ।
दैत्यं दारयते वलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते ।
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृति कृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ।।
-- गीत गोविन्द - 1.12

1. सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहातस्य परमात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ।।
-- ब्रह्मतन्त्र

2. देहः स तु स्वाभिमतः स्वानुरूपः सदोज्वलः ।
अप्राकृतो हरेस्तेन दोषः को पि युज्यते ।।
-- श्रीभाष्य वार्तिक - 1.1.1.

श्री विग्रह - करोड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रकाशवान् है ।[1] भगवान् का शरीर कर्मजन्य नहीं अत: उन्हें `अकायम्` कहा गया है ।[2] आचार्य वेदान्त देशिक ने अवतारों के सम्बन्ध में छ: रहस्यों का उद्‌घाटन किया है । जो निम्न प्रकार से हैं -- अवतारों की सत्यता, अजहत स्वभावता, शुद्ध सत्वमयता, स्वेच्छामय स्वरूपता, धर्माभ्युदयता, साधुसंरक्षता ।[3] भगवान के विभव या अवतारों के विग्रह कल्याण गुण युक्त एवं हेय गुण रहित हैं ।[4] भगवान् के अवतारों की यह विशेषता है कि वे सर्वस्वतन्त्र होते हुये भी धर्म एवं मर्यादा की स्थापना के लिए स्वयंनिर्मित, नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक आदर्शों के अनुरूप आचरण करते हैं । भगवद्‌गीता में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि उन्हें करने के लिए कुछ भी नहीं है, परन्तु फिर भी मनुष्यों के मार्ग दर्शन के लिए

----

1. `इन्दीवर दलश्याम: कोटिसूर्यप्रकाशवान् ।`

-- पद्‌मपुराण, उत्तर, 228.27

2. `अकायमव्रणमस्नाविरम् शुद्धमपापविधम् ।`

-- ईशावास्योपनिषद्, 8.

3. `अवतारस्य सत्यवस अजहत् स्वभावता शुद्ध सत्वमयत्वञ्च ।

स्वेच्छा मात्र निदानता धर्मग्लानौ समुदय: साधुसंरक्षणार्थता ।।`

-- रहस्यत्रय सार

4. (अ) `यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।`

-- वृहदारण्यकोपनिषद्, 5.15.1

(ब) `रागद्वेषादि विर्मुक्त समस्तगुणमूर्तिमान् ।`

-- सात्वत् संहिता, 7.25

भगवान् कार्य करते हैं ।[1] अत: सिद्ध है कि भगवान् का अवतार विग्रह निज इच्छा निर्मित है न कि पांच-भौतिक कर्मजन्य है ।[2] अत एव आचार्य रामानुज[3] के अनुसार विभूतिमान भगवान् अपनी लीला से अवतार रूप में प्रकट होते हैं । प्रभु के अनेक अवतारों में ये अधोलिखित दश अवतार प्रमुख हैं ।

1. मत्स्यावतार :

एक समय दैत्यों ने वेदों का अपहरण कर प्रलयार्णव में छिपा दिया । उस ब्रह्मा जी वेद विहीन हो गये थे । जैसे प्रगाढ़ अंधकार वर्तमान पदार्थ भी दिखायी नहीं पड़ता, वैसे ही वे अज्ञानान्धकार में पड़ गये थे । जगत् - सृजन का कार्य उनके लिए असम्भव सा हो गया था । उस समय भगवान् श्रीमन्नारायण ने मीन रूप धारण कर वेदों को प्रकट किया तथा मनु सत्यव्रत को मत्स्य रूप में दर्शन दिये । अर्थात् प्रलय कालीन समुद्र में ब्रह्मा जी जब सो गये थे, उनकी

----

1. न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
   ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश: ।।
   -- भगवद्गीता - 2.22-23

2. (क) अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य ।
   स्वेच्छामयस्य न तु भूत मयस्य कोऽपि ।।
   -- श्रीमद्भागवत् पुराण, 10.14.2
   (ख) जगतामुपकाराय न सा कर्म निमित्तजा ।
   -- विष्णु पुराण - 6.7.72

3. `विभूतिमत एव स्वेच्छया लीलार्थ विभूत्यन्तर्भावं उच्यते ।`
   -- वेदार्थ संग्रह, पृ0 197.

सृष्टि शक्ति लुप्त हो चुकी थी, उस समय उनके मुखों से निकली हुई श्रुतियों को चुराकर दैत्य हयग्रीव पाताल ले गया था । भगवान् ने उसे मारकर वे श्रुतियां ब्रह्मा जी को लौटा दीं एवं राजर्षि सत्यव्रत तथा सप्तर्षियों को ब्रह्मतत्व का उपदेश किया । ऐसे समस्त जगत् के परम कारण लीला - मत्स्य भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं ।[1]

2. कूर्मावतार --

भगवान् शंकर के अंशावतार महर्षि दुर्वासा के श्राप से देवराज इन्द्र का ऐश्वर्य एवं श्री राज्य सब कुछ नष्ट हो गया था ।[2] पुन: त्रैलोक्याधि--पतित्व प्राप्त करने हेतु ब्रह्मा जी के साथ अजित के धाम वैकुण्ठ लोक जाकर सभी देवताओं के द्वारा श्री भगवान् की स्तुति करते हुये प्रार्थना की गयी कि हे प्रभो हम आपके शरणागत हैं । आपका दर्शन चाहते हैं, कृपा कर हमें दर्शन दीजिये और दैत्यों से पराजित हुये हम लोगों को अपने तेज से हमें सशक्त

...

----

1. प्रलयपयसि धातु: सुप्तशक्तेर्मुखेभ्य: ।
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।
दितिजमकथयत् यो ब्रह्म सत्य व्रतानां,
तमहमखिल हेतुं जिह्ममीनं न तोऽस्मि ।।
-- श्रीमद्भागवत्, 8.24.61

2. मयादत्तामिमां मालां यस्मान्न बहु मन्यसे ।
त्रैलोक्यश्रीरतोमूढ विना शमुपयास्यति ।
मद्दत्ता भवता यस्मात् क्षिप्ता माला मही तले ।
तस्मात् प्रणष्टलक्ष्मीकं त्रैलोक्यं ते भविष्यति ।।
-- विष्णुपुराण, 1.9.14, 16

कीजिये ।[1] भगवान् ने सन्तुष्ट होकर समुद्र मन्थन की आज्ञा प्रदान की, जिस समय देव और दानवों दोनों मिलकर अमृत के लिए समुद्र मन्थन कर रहे थे, उस समय मन्दराचल गुरुत्व के कारण समुद्र में बैठने लगा उसी समय भगवान् ने कूर्म 'कच्छप' रूप धारण कर समुद्र मन्थन का कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न कराया था । अत: उस समय भगवान् के श्वास वायु की गति बढ़ गयी, जिसके कारण समुद्र के जल को धक्का लगा था, उसका संस्कार आज भी समुद्र में शेष है अर्थात् आज भी समुद्र उसी श्वास वायु के थपेड़ों के फलस्वरूप ज्वारभाटों के रूप में दिन रात चढ़ता-उतरता रहता है, उसे अब तक विश्राम नहीं मिला है । अत: ऐसे प्रभावशाली कूर्म भगवान् आप हम सबकी रक्षा करें ।[2]

3. वराहावतार --

जिस समय हिरण्याक्ष आदि राक्षसों ने इस पृथ्वी को हरण कर जल

----

1. (अ) सत्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करण गोचरम् ।
प्रपन्ना वां दिदृक्षाणां मतं ते मुखाम्बुजम् ।।
-- श्रीमद्भागवत, 8.5.45.

(ब) त्वामार्ता: शरणं विष्णोप्रयाता दैत्यनिर्जिता: ।
वयं प्रसीद सर्वात्मं स्तेसाप्यायस्य न: ।।
-- विष्णुपुराण - 1.9.72

2. पृष्ठे भ्राम्यदमन्द मन्दर गिरिग्रावाग्र कण्डूयनान्निद्रालो: कमठाकृतेर्भगवत: श्वासानिला: पान्तु व: ।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां
यातायान्तमतन्द्रितं जल निधेर्नायापि विश्राम्यति ।।
-- श्रीमद्भागवत, 12.13.2.

में डुबो दिया था । इसलिए कि पृथ्वी लोक में रहने वाले पुरुष यहां रहकर देवताओं का यजन करेंगे, जिससे उनका, बल , वीर्य, और तेज बढ़ जायेगा -- यह सोचकर महान् असुर हिरण्याक्ष ब्रह्मा जी द्वारा सृष्टि - रचना की जाने पर उसे धारण करने की भूमि में जो धारणा शक्ति थी, उसे ले जाकर जल के अन्दर ही रसातल में चला गया, आधार शक्ति से रहित होकर यह पृथ्वी भी रसातल में चली गयी ।[1] उस समय उसके उद्धार के लिए श्रीमन्नारायण भगवान् ब्रह्मा के नासिका छिद्रों से वाराह रूप में प्रकट हुये थे । तत्पश्चात् भगवान् वाराह बड़े वेग से जल को चीरते हुये रसातल में पहुंच कर सम्पूर्ण प्राणियों की आश्रयभूता पृथ्वी को देखा, प्रभु को सम्मुख उपस्थित देखकर पृथ्वी ने प्रसन्न होकर भगवान् वाराह की प्रार्थना की ।[2] इस प्रकार उस रूप में विशालकाय होकर

----

1. अथ भूम्युपरि स्थित्वा मर्त्या यजन्ति देवताः ।
तेन तेषां बलं वीर्यं तेजश्चापि भविष्यति ।।
इतिमत्वा हिरण्याक्षः कृते सर्गे तु ब्रह्मणा ।
भूमेर्या धारणाशक्तिस्तां नीत्वा स महासुरः ।।
विवेश तोयमध्ये तु रसातल तलं नृप ।
विना शक्त्या च जगती प्रविवेश रसातलम् ।।
-- नरसिंह पुराण, 39.7-9.

2. नमस्ते पुण्डरीकाक्ष शंखचक्रगदाधर ।
मामुद्धरास्मादद्यत्वं त्वत्तो हं पूर्वमुत्थिता ।
भवतो यत्परं तत्त्वं तन्नजानाति कश्चन ।
अवतारेषु यद्रूपं तदर्चन्ति दिवौकसः ।।
-- विष्णु पुराण - 1.4.12-17

भगवान् वाराह में हिरण्याक्ष आदि राक्षसों का संहार करके पृथ्वी को ऊपर लाकर जल में स्थापित कर दिया ।[1] इसी एक कार्य के लिये भगवान् ने वाराह का रूप धारण किया था ।

4. नृसिंहावतार --

हिरण्यकश्यप के अत्याचार से पीड़ित पुत्र भक्त प्रह्लाद के वचन को सत्य करने के लिये खम्भ को फाड़ कर भगवान् नरसिंह रूप में प्रकट हुये । उस समय भगवान् का रूप बड़ा भयावना था ।[2] उस समय हिरण्यकश्यप को मारकर भक्त प्रह्लाद द्वारा की गई स्तुति से नृसिंह भगवान् संतुष्ट हो गये, क्रोध समाप्त हो गया, प्रसन्नतापूर्वक भक्त प्रह्लाद को आशीर्वचन दिया ।[3] और देवताओं

----

1. ततः समुत्क्षिप्य धरां स्वदंष्ट्रया महावराहः स्फुटपद्मलोचनः ।
   रसातलादुत्पलपत्रसंनिभः समुत्थितो नील इवाचलो महान् ।।
   -- विष्णु पुराण - 1.4.26.

2. प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं स्फुरत्सटाकेशरजृम्भिताननम् ।
   कराल दंष्ट्रं करवालचञ्चलक्षुरान्त जिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम् ।।
   स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुतव्यात्तास्यनासं हनुभेद भीषणम्
   दिविस्पृशत्कायमदीर्घपीवरग्रीवोरुवक्षः स्थलमल्पमध्यमम् ।।
   चन्द्रांशुगौरैश्छुरितं तनूरुहैर्विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम् ।।
   -- श्रीमद्भागवत, 7.8.20-22

3. प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं ते सुरोत्तम ।
   वरंवृणीष्वाभिमतं काम पूरोऽस्म्यहं नृणाम् ।।
   मामप्रीणत आयुष्मन् दर्शनं दुर्लभं हि मे ।
   दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तु मर्हति ।।

(क्रमशः...)

को कष्ट से निवृत्त कर जन कल्याण के कार्य सम्पन्न किये । नृसिंह भगवान् का अवतार वैशाख शुक्ल पक्ष चतुर्दशी को सन्ध्या के समय हुआ था । श्री वैष्णव-गण उस दिन नरसिंह चतुर्दशी का व्रत एवं भगवान् नृसिंह का पूजन करते हैं ।

5. <u>वामनावतार</u> --

इस अवतार में भगवान् ने श्रीप्रह्लाद जी के पौत्र दैत्याधिराज राजा बलि जो भूमण्डल पर राज्य करते थे । एक बार अपनी शक्ति से स्वर्ग से देवताओं को हटाकर अपना आधिपत्य जमा लिया था । कोई भी शक्ति उसे वहां से हटा नहीं सकती थी । उस समय देवताओं की माता अदिति ने तपस्या की, भगवान् तपस्या से प्रसन्न होकर पुत्र रूप में प्राप्त होने का वरदान दिया [1]। समय आने पर भगवान् का प्राकट्य वामन स्वरूप में हुआ, और वे छोटे वटुक `ब्रह्मचारी` के वेष में राजा बलि के पास यज्ञ भूमि में पहुंचे, उस अतीव तेज स्वरूप को देखकर सभी महर्षि आश्चर्य चकित रह गये । वहां भगवान् वामन ने राजा बलि से तीन पग भूमि दान का संकल्प कराया ।[2] तथा दान का संकल्प

प्रीणन्ति ह्यथ मां धीरा: सर्वभावेन साधव: ।
श्रेयस्कामा महाभागा: सर्वासामाशिषां पतिम् ।।

-- श्रीमद्भागवत्, 7.9.52-54

1. कृत: प्रसादो हि मया, तव देवि यथेप्सितम् ।
स्वांशेन चैव तेगर्भे सम्भविश्यामि कश्यपात् ।।
तव गर्भसमुद्भूतस्ततस्ते ये सुरारय: ।
तानहं निहनिष्यामि निर्वृताभव नन्दिनि ।।

-- वामन पुराण - 28.10-11

2. गजाश्वभूहिरण्यादि तदर्थिभ्य: प्रदीयताम् ।
एतावदेव सम्प्रार्थी देहि राजन् पदत्रयम् ।।

-- वही, 92.15

होते ही विराट स्वरूप धारण कर त्रैलोक्य का नाप लिया स्वर्ग का राज्य देवताओं को लौटा दिया था। इसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए भाद्र शुक्ल पक्ष द्वादशी तिथि के मध्याह्न समय में भगवान् वामन का अवतार हुआ था।

6. परशुरामावतार -- यह अवतार उस समय हुआ जिस समय भूमण्डल के क्षत्रिय ब्राह्मणद्रोही होकर आर्य मर्यादा का उल्लंघन करने लगे थे, धर्म विरुद्ध उनके आचरण से पृथ्वी देवी विशेष कष्ट का अनुभव करने लगी थी, उस समय श्री भगवान् महर्षि जमदग्नि की पतिपरायणा पत्नी महाराज रेणु की पुत्री - रेणुका के गर्भ से पांच पुत्र हुये थे, जिनमें पांचवें पुत्र के रूप में निखिल सृष्टि नायक श्री विष्णु के आवेशावतार भगवान परशु राम हैं। श्री परशु राम जी महान् वीर थे उन्होंने अन्यायी क्षत्रियों का संहार करके पृथ्वी को भार मुक्त किया था। पृथ्वी को इक्कीस बार आततायी क्षत्रियों से हीन कर दिया था। सब को एकत्रित कर कुरुक्षेत्र में ले जाकर उनके रक्त से पांच सरोवर भर दिया था और इसी रक्त से अपने पितरों का तर्पण करके ऋचीक आदि पूर्वजों को प्रसन्न करके आशीर्वाद रूप में क्षत्रिय वंश विध्वंस रूपी पाप से मुक्त होने तथा उस स्थान को भूमण्डल में प्रसिद्ध तीर्थ के रूप में प्राप्त किया था।[1]

----

1. यदि मे पितरः प्रीतायथनुग्राह्यता मयि।
यच्च रोषाभि भूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया।।
अतश्च पापान्मुच्येऽहमेणमे प्रार्थितो वरः।
हृदयश्च तीर्थ भूता में भवेयुर्भुवि विश्रुताः।।
-- महाभारत, आदिपर्व, 2.8-9.

7. श्रीरामावतार --

त्रेता युग में रावण आदि राक्षसों के अत्याचार से जन-जीवन विशेष कष्टमय हो गया था। साधु, सन्त, देवता आदि पूर्ण रूप से सताये जा रहे थे। उस समय भक्तों की आर्त प्रार्थना पर परम दयालु, भक्त-वत्सल, भक्तभयहारी ॐ स्वरूप, जो निश्चय ही षड्विध ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् हैं, अद्वितीय परमानन्द स्वरूप परमात्मा हैं। जो सच्चिदानन्द द्वैत शून्य एक, चित्-स्वरूप हैं, भूः भुवः स्वः - ये तीनों लोक हैं, ऐसे उन रामचन्द्र भगवान् को बारंबार नमस्कार है।[1] यह श्रीमन्नारायण भगवान् ने राजा दशरथ, कौशल्या के घर श्री अयोध्या में अवतार लिया था। उनका आद्योपान्त सारा चरित्र मर्यादानुकूल था। इसीलिये वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते थे। भगवान् राम को शत्रु पक्षीय राक्षस कुम्भ कर्ण ने भी अत्यन्त आदर और प्रीति के साथ रावण को श्रीराम की भक्ति करने की प्रेरणा दी। उनका भजन कर जीवन सफल बनाने का सदुपदेश देते हुये उसने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कहा था कि भगवान् विष्णु के अनेकों अवतार हुये हैं, और उन सबने भगवान् की लीलाओं के अनुसार ही लीला की थी। किन्तु यह शिवस्वरूप ज्ञानमय रामावतार वैसे एक सहस्र अवतारों के समान है। जो चतुर लोग रात-दिन मन और वचन से भगवान् राम का भजन करते हैं वे बिना प्रयास ही संसार को पार कर श्री हरि

----

1. ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान द्वैत परमानन्द आत्मा।

य: सच्चिदानन्दा द्वैतैक चिदात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै नमो नमः ।।

-- रामोत्तर तापिनी उपनिषद्

के परम धाम को जाते हैं ।[1] रावण ने स्वयं उन्हें भगवान् माना है ।[2] भगवान् ने अत्याचारी राक्षसों का संहार करके इस धरातल पर ग्यारह हज़ार वर्ष तक राज्य किया । उनका अवतार चैत्र शुक्ल पक्ष नवमी तिथि को मध्याह्न में हुआ था । उस दिन मेष राशि पर सूर्य थे पुनर्वसु नक्षत्र तथा कर्क लग्न थी ।

8. श्रीकृष्णावतार --

द्वापर युग में दैत्यों की अनीति और अत्याचार से पीड़ित धरित्री दुःख से अत्यन्त व्याकुल होकर गौ के रूप में रोती हुई कमलोद्भव ब्रह्मा के समीप पहुंचकर अत्यन्त करुण स्वर में विधाता से कहा -- हे चतुरानन पूर्व काल में देवासुर-संग्राम में मारे हुये दैत्य-दानव अब कंस आदि राक्षसों के रूप में उत्पन्न हो गये हैं । उनके क्रूर कर्मों के बोझ से पीड़ित होकर अत्यन्त दुःखी हूं, मेरा दुःख दूर कीजिये । ब्रह्मा जी पृथ्वी की करुण-क्रन्दन को सुनकर शंकर आदि देवताओं को साथ लेकर भगवान् श्रीमन्नारायण की प्रार्थना करते हैं ।

----

1. अवताराः सुबहवो विधोर्लीलानुकारिणः ।
तेषां सहस्रदृशो रामोज्ञानमय शिवः ।।
रामं भजन्ति निपुणा मनसा वचसा निशम् ।
अनायासेन संसारं तीर्त्वायान्ति हरेः पदम् ।।
-- अध्यात्म रामायणम् - 6.7.68-69.

2. नमामि देवं नरनाथमच्युतं नारायणं लोक गुरुं सनातनम् ।
अनादिमव्यक्तमचिन्त्यमव्ययं वेदान्तवेद्यं पुरुषोत्तमं हरिम् ।

(क्रमशः...)

अत: कंस आदि राक्षसों के उत्पीड़न से त्रस्त मानव तथा देवताओं के रक्षार्थ भक्तों की प्रार्थना से प्रसन्न होकर श्रीमन्नारायण भगवान् मथुरा के कारागार में श्री वसुदेव की पत्नी देवकी के गर्भ से प्रकट हुये, वसुदेव जी एवं देवकी ने गद्गद् कण्ठ से श्री हरि की स्तुति की ।[1] अवतार लेने के पश्चात् बालक रूप बनाकर श्री नन्द की पत्नी यशोदा के पास चले गये । पूर्व वरदान स्वरूप अपनी पूरी बाल लीला गोकुल में नन्द बाबा के घर ही दिखलायी । श्रीकृष्ण ने बाल्यकाल में ही अनेक मानवातीत कार्य किये थे । राक्षसों का संहार करते हुये भगवान् श्रीकृष्ण बलराम के साथ चतुर्भुज रूप धारण कर जरासंघ की तेईस अक्षौहिणी सेना का विनाश किया । बलराम ने जरासन्ध को पकड़कर मूसल से मारना चाहा, दयावश कृष्ण ने छुड़ा दिया था, अपमानित होकर लौट गया था ।[2] इसके साथ ही भगवान् की रासलीला भक्त मनमोहिनी थी । अतएव धरातल पर लीला विहारी के रूप में जाने जाते थे । प्राकट्य

हत्वासुरान् पाति युगे-युगे सुरान् स्वधर्म संस्थान् भुवि-संस्थितो हरि:
करोति सृष्टिं जगत: क्षयं यस्तं वासुदेवं प्रणतो स्मि केशवम् ।।
यथा तु वाराह नृसिंह रूपै: कृतं त्वया देवहितं सुराणाम् ।
तथाद्यभूमे: कुरुभारहानिं प्रसीद विष्णो भगवन्नमस्ते ।।

-- नरसिंह पुराण, 53.11.16.24

1. (क) जातो सि देवदेवेश शङ्खचक्र गदाधरम् ।
दिव्यरूप मिदं देव प्रसादे नोपसंहर ।।
अधैवदेव कंसो यं कुरुते मम घातनम् ।
अवतीर्ण इति ज्ञात्वा त्वमस्मिन्मम मंदिरे ।।

-- विष्णु पुराण - 5.3.10-11.

(ख) उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
शङ्खचक्र गदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ।।

-- श्रीमद्भागवत, 10.3.30.

2. चतुर्भुजवपुर्भूत्वा शङ्खचक्रगदासिभृत ।
किरीटी कुण्डली स्रग्वी संग्रामाभिमुखं ययौ ।। -- पद्मपुराण, उ0 ख0, 273.14

भाद्रपद कृष्णपक्ष अष्टमी तिथि रोहिणी नक्षत्र बुधवार को हुआ था। ग्यारह हज़ार वर्ष इस भूलोक में रहकर मानव-कल्याण का सर्वांगीण कार्य पूरा करके त्रिपाद् विभूति लीला में चले गये।

9. बलरामावतार --

श्री बलरामजी कृष्ण के सौतेले बड़े भाई थे। उनका प्रादुर्भाव श्री वासुदेव की पत्नी रोहिणी से हुआ था। बलराम का नामकरण संस्कार आदि श्रीकृष्ण के साथ ही हुआ था। राक्षस संहार भी बलराम ने नन्दनन्दन श्री कृष्ण के साथ किया। पृथ्वी का भार उतारने में भी श्री बलदेव जी अभूतपूर्व चमत्कार दिखलाते थे। वे श्रीकृष्ण के शेषावतार थे। बलराम का प्रादुर्भाव श्रीकृष्ण के विशेष सहयोग के लिये ही हुआ था। श्री बलराम जी विभिन्न युगों में अनेक नाम रूपों से अवतरित होते रहते हैं।[1]

10. कल्कि अवतार --

सर्वव्यापक भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। वे सर्वस्वरूप होने पर भी चराचर जगत् के सच्चे शिक्षक सद्गुरु हैं। वे साधु-सज्जन पुरुषों के धर्म की रक्षा के लिए, उनके कर्म का बन्धन काटकर उन्हें जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुड़ाने के लिए अवतार ग्रहण करते हैं।[2] अभी तो कलि का प्रथम चरण है। इतने दिनों में मानव जाति का कितना मानसिक ह्रास एवं नैतिक पतन हो गया है, यह सर्वविदित

----

1. प्रथमो नन्तरूपश्च द्वितीयो लक्ष्मणस्तथा।
तृतीयो बलरामश्च कलौ रामानुजो मुनिः।।

-- विशिष्टाद्वैततत्व दिग्दर्शन, पृ0 112.

2. चराचर गुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः।
धर्मत्राणाय साधूनां जन्म कर्मापनुत्तये।।

-- श्रीमद्भागवत, 12.2.17.

है । धर्म, तीर्थ, माता-पिता और गुरुजन उपेक्षित और तिरस्कृत होंगे । मनुष्य जीवन का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ होगा - उदर-भरण । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में जो शक्ति सम्पन्न होगा वही शासन करेगा । उस समय के नीच राजा अत्यन्त दुष्ट एवं निष्ठुर होंगे । समय पर वृष्टि नहीं होगी, वृक्ष फल नहीं देंगे, भयानक सूखा, अतीव सर्दी, अत्यन्त गर्मी पड़ेगी । प्राणि मात्र धर्म की मर्यादा त्याग कर स्वच्छन्द मार्ग का अनुसरण करेंगे । मनुष्यों की परमायु बीस वर्ष की हो जायेगी । लोग विषयी हो जायेंगे, मनुष्य जप रहित नास्तिक और चोर होंगे । पुत्र पिता का और पिता पुत्र का वध करके भी उद्विग्न नहीं होंगे, उस समय सारा जगत् म्लेच्छ हो जायेगा । इसमें संशय नहीं ।[1] अधर्म बढ़ेगा, धर्म विदा हो जायेगा । स्त्रियां अपने पतियों की सेवा छोड़ देंगे ।

उस समय सम्भल ग्राम में `विष्णुयशा` नामक एक अत्यन्त पवित्र, सदाचारी एवं श्रेष्ठ ब्राह्मण होंगे, वे भगवान् के अत्यन्त अनुरागी भक्त होंगे, उन्हीं अत्यन्त भाग्यशाली ब्राह्मण के यहां समस्त, सद्गुणों के एक मात्र आश्रय, निखिल सृष्टि के सर्जक, पालक एवं संहारक परब्रह्म परमेश्वर भगवान् कल्कि के रूप में अवतरित होंगे । विष्णुयशा के बालक रूप में कल्कि के चिन्तन करते ही उनके पास इच्छानुसार वाहन, अस्त्र-शस्त्र, योद्धा और कवच उपस्थित हो जायेंगे,

----

1. पुत्र: पितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा ।
निरुद्वेगो बृहद्वादी न निन्दामुपलप्स्यते ।।
म्लेच्छीभूतं जगत् सर्वं भविष्यति न संशय: ।
हस्तोहस्तं परिमुष्णीद् युगान्ते समुपस्थिते ।।
-- महाभारत, वनपर्व, 190.28.38

कलियुग का अन्त करने के लिए ही उनका प्रादुर्भाव होगा ।[1]

भगवान् शंकर स्वयं कल्कि भगवान् को शस्त्रास्त्र की शिक्षा देंगे और भगवान् परशुराम उनके वेदोपदेष्टा होंगे । वे देवदत्त नामक शीघ्रगामी अश्व पर आरूढ़ होकर राजा के वेश में छिपकर रहने वाले, पृथ्वी में सर्वत्र फैले हुये दस्युओं एवं नीच स्वभाव वाले सम्पूर्ण म्लेच्छों का संहार कर डालेंगे -- अर्थात् वीरवर कल्कि भगवान् के करकमलों से पृथ्वी के सम्पूर्ण आततायियों का विनाश और अधर्म का नाश हो जायेगा, फिर स्वाभाविक ही धर्म का उत्थान प्रारम्भ होगा । भगवान् कल्कि का यश तथा कर्म - सभी परम पावन होंगे । फिर इस जगत् के निवासी उनके शील-स्वभाव का अनुकरण करेंगे । भगवान् मर्यादाओं की स्थापना करके तपस्या हेतु वन में प्रवेश कर जायेंगे ।[2]

----

1. मनसातस्य सर्वाणि वाहनान्यायुधानि च ।।
उपस्थास्यन्ति योधाश्च शस्त्राणि कवचानि च ।
स धर्म विजयी राजा चक्रवर्ती भविष्यति ।।
स चेमं संकुलं लोकं प्रसाद मुपनेष्यति ।
उत्थितो ब्राह्मणो दीप्तः क्षयान्तकृदुदारधीः ।।
-- महाभारत, वनपर्व, 190.94-96

2. स्थापयित्वा च मर्यादाः स्वयम्भुविहिताः शुभाः ।।
वनं पुण्ययशः कर्मा रमणीयं प्रवेक्ष्यति ।।
तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ति मनुष्या लोकवासिनः ।।
-- महाभारत, वनपर्व, 191.2-3.

इस प्रकार सर्वभूतात्मा सर्वेश्वर भगवान् कल्कि के अवतरित होने पर पृथ्वी में पुन: सत्ययुग प्रतिष्ठित होगा ।

अत: श्रीभगवान् के सभी अवतार दिव्य तथा अप्राकृत होते हैं । केवल इच्छा मात्र से भगवान् अनेक शरीर धारण करते हैं । कर्मानुसार जीव शरीर के समान उनका शरीर नहीं होता । श्रीमन्नारायण विश्वकल्याण के लिये अपनी इच्छा से अप्राकृत शरीर धारण करते हैं ।[1]

चतुर्व्यूह विचार :

वैकुण्ठाधिपति परस्वरूप श्रीभगवान ही सृष्टि, पालन, संहार, सांसारिक चेतनों की रक्षा और उपासकों के ऊपर अनुग्रह के लिये लीला विभूति से लीला निमित्त धारण किया हुआ भावद्रूप `व्यूह` कहलाता है -- अर्थात् यह वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध भेद से चार प्रकार का है, जिसे `चतुर्व्यूह` कहते हैं ।[2]

----

1. श्रीपतेर्व्यूहविभवार्यावतारतया सत: ।
अप्राकृतशरीराणि प्रतिष्ठानन्तरं हरे: ।
प्रसादोन्मुखतापन्नौप्रकटानिभवन्ति हि ।
तच्च प्रकटनं तस्य संकल्पाधीनमीर्यते ।।

-- वेदान्तकारिकावली, नित्य विभूति निरूपणम्,
का0 सं0 - 8-9.

2. (क) `व्यूहोनाम पर एवोवासनार्थं जगत्सृष्ट्याद्यर्थं च वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धभेदेन चतुर्धा वस्थित: ।`

-- यतीन्द्रमत दीपिका, पृ0 8.

(क्रमश:...)

वासुदेव --

वासुदेव व्यूह रूप परस्वरूप की भांति पूर्ण षाड्गुण्य विग्रह वाला होता है, उस समय वे व्यूह वासुदेव कहलाते हैं। ये शशिगौर और पीताम्बर धारी हैं, एवं चार कर कमलों में शंख, चक्र, गदा और अभय मुद्रा धारण करते हैं। गरुड़ उनकी ध्वजा का चिह्न है। इस प्रकार भगवान् के चार - व्यूह होते हैं जिनमें षाड्गुण्यमूर्ति परतत्व श्रीभगवान् भी व्यूहों में सम्मिलित होते हैं। अन्य तीनों रूपों में दो गुणों का प्रकाशन होता है। और अन्य चार गुणों का निगूहन।

संकर्षण --

श्रीपरतत्व भगवान् के यद्यपि अनन्त कल्याण गुण हैं, तथापि उनमें से छ: मुख्य हैं। उन्हीं छ: गुणों में से जब वे ज्ञान और बल का प्रकाशन करते हैं, तब उनका नाम `संकर्षण` होता है। अर्थात् संकर्षण व्यूह रूप में ज्ञान और बल का प्रकाशन एवं वीर्य, ऐश्वर्य, तेज तथा शक्ति का निगूहन होता है न कि अभाव। संकर्षण जीव के अधिष्ठाता बनते हुये ज्ञान गुण से शास्त्र का प्रवर्तन करते हैं और बल नामक गुण से जगत् का संहार।

प्रद्युम्न --

जब वे ही भगवान् वीर्य और ऐश्वर्य का प्रकाश करते हैं, तब उनका नाम

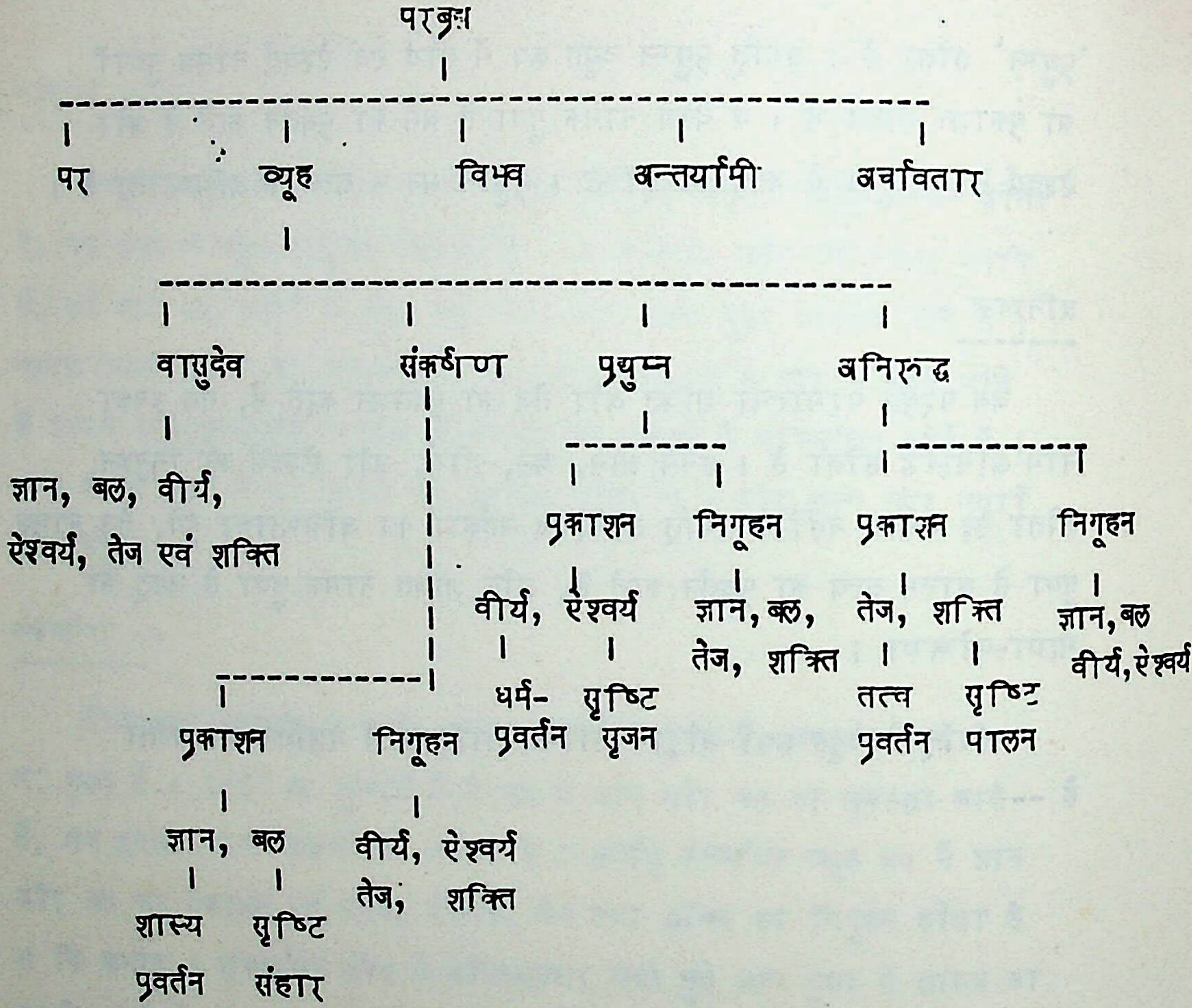
(ख) `व्यूहा: वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धाख्याश्चत्वार:।`
-- वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ० 64.

'प्रद्युम्न' होता है। अर्थात् प्रद्युम्न व्यूह रूप में वीर्य एवं ऐश्वर्य नामक गुणों का प्रकाशन होता है। वे वीर्य नामक गुण से धर्म का प्रवर्तन करते हैं और ऐश्वर्य नामक गुण से जगत् की सृष्टि। प्रद्युम्न मन - तत्व के अधिष्ठाता हैं।

अनिरुद्ध --

जब परब्रह्म परमात्मा शक्ति और तेज का प्रकाशन करते हैं, तब उनका नाम अनिरुद्ध होता है। इनमें ज्ञान, बल, वीर्य, और ऐश्वर्य का निगूहन होता है, अभाव नहीं। अर्थात् अनिरुद्ध अहंकार का अधिष्ठाता हुये, तेज नामक गुण से आत्म तत्व का प्रवर्तन करते हैं, और शक्ति नामक गुण से जगत् का भरण-पोषण।

भगवान् के व्यूह रूपों को निम्नांकित तालिका से दर्शाया जा सकता है --



निष्कर्ष यह है कि संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध में जो दो गुण बतलाये गये हैं, वे अभिव्यक्ति वैषम्य के कारण हैं न कि अभाव के कारण ।[1]

----

1. 'व्यूहे संकर्षणादौ गुण नियतिरभिव्यक्ति वैषम्यमात्रात् ।'

-- तत्वमुक्ताकलाप, 3. 69

वस्तुत: भगवान् वृद्धि एवं ह्रास से रहित होने के कारण सर्वदा पूर्णषाड्गुणशाली हैं।[1]

व्यूहों की गणना

पाञ्चरात्र साहित्य में भगवान् संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन तीन व्यूहों वाले बतलाये गये हैं, और कहीं भगवान् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध इन चार व्यूह वाले कहे गये हैं।[2] इस पर पूर्वपक्षी ने आक्षेप किया है कि पाञ्चरात्र के वचनों में परस्पर विरोध हो जाने के कारण न तो त्रिव्यूहवाद को स्वीकार किया जा सकता है और न चतुर्व्यूहवाद को। अत: व्यूहवाद को कल्पना मात्र समझना चाहिये।[3]

इस शंका का निरास करते हुये आचार्य वेदान्त देशिक कहते हैं कि वस्तुत: व्यूह तो चार ही हैं। प्रथम जो त्रिव्यूहवाद है, उसके विषय में यह समझना चाहिये कि गुणों के प्रकाशन और निगूहन के आधार पर चिंतन किया गया है।

चतुर्व्यूह वाद में परस्वरूप के सदृश्य षाड्गुण सम्पन्न वासुदेव भी सम्मिलित किये गये हैं। इस प्रकार वासुदेव में और परतत्व में पूर्ण साम्यता है, अत: उनमें अभेद विवक्षित करने के लिये त्रिव्यूहवाद और भेद प्रदर्शित करने के लिए ही

----

1. 'वृद्धिह्रासाद्यभावात् सहि भवति सदा पूर्णषाड्गुण्यशाली।'
-- तत्वमुक्ताकलाप, 3.69.

2. त्रिव्यूह: क्वापिदेव: क्वचिदपिहि चतुर्व्यूह उक्तस्तदेवम्।
-- वही, 3.71.

3. 'व्याघाते न्योन्यबाधात् उभयभिदमसत्कल्पनामात्रमस्तु।'
-- वही.

'चतुर्व्यूहवाद' का वर्णन किया गया है ।[1]

व्यूहों में शिष्यत्व एवं आचार्यत्व का तात्पर्य --

भगवान् के वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध रूपों के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी ने शंका की है कि भगवान् अपने व्यूहों में कभी आचार्य बनकर उपदेश देते हैं और कभी शिष्य बनकर उपदेश ग्रहण करते हैं । प्राय: यह सर्वसम्मत है कि आचार्य शिष्य से अधिक बुद्धिमान् एवं विद्वान् होता है, अत: यहां दो विभिन्न चैतन्य हैं जिनके ज्ञान का तारतम्य है । ईश्वर के विषय में भी जब वे अपने से भिन्न संकर्षण, आदि रूप वाले व्यूह को उपदेश देते हैं, तो उपदेश ग्रहण करने वाले को जीव विशेष समझना चाहिये ।

आचार्य वेदान्त देशिक ने इस शंका का समाधान करते हुये कहा है कि भगवान् सर्व-वेत्ता हैं, वे अपनी इच्छा से स्वच्छन्द लीला करते हैं । वे सर्ववेदी होते हुये भी अपने एक रूप से उपदेश देते हैं और दूसरे रूप से उपदेश ग्रहण करते हैं । यह सर्वज्ञ ईश्वर की स्वच्छन्द लीला है ।[2] भगवान् के अपने ही एक रूप से शिष्य तथा दूसरे रूप से आचार्य के अभिनय का उद्देश्य संसार में सज्जनों को शिष्य और आचार्य के व्यवहार के विषय में शिक्षा प्रदान करना है ।[3] गुरु और शिष्य की मर्यादा एवं आचार संहिता भगवान् अपने विभिन्न रूपों में स्वयं स्थापित करते हैं । यही कारण है कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम

----

1. 'तन्नाथे व्यूह भेदे त्रिगुणगुणतया चिन्तनीये परस्मात् ।'

-- तत्वमुक्ताकलाप - 3.71

2. 'स्वच्छन्दलील: स्वयमभिनयति स्वान्यतां सर्ववेदी ।'

-- वही, 3.74

3. 'तद्वत् शिष्यादिवृत्ति प्रवृतिमिह सतां शिक्षयन् सानुकम्प: ।'

-- वही

सर्ववेत्ता होते हुये भी गुरु वशिष्ठ के घर में विद्या पढ़ने गये ।[1] लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने भी आचार्य संदीपनी ऋषि के आश्रम रहकर विद्या अध्ययन किया । ये सब भगवान् के लीला विलास हैं । वे ऐसी लीलाएं करते हैं, जिनको सुनकर, देखकर भक्तों का मन उनकी ओर आकर्षित हो जाता है, और वे भगवान् के अनन्य उपासक बन जाते हैं ।[2]

0

----

1. गुरुगृह पढ़न गये रघुराई ।
   अल्पकाल विद्या सब पाई ।।
   -- श्रीरामचरित मानस - 1.203.2
2. भजते तादृशीः क्रीड़ायाः श्रुत्वा तत्परोभवेत् ।
   -- श्रीमद्भागवत, 10.33.37

पञ्चम् अध्याय

विशिष्टाद्वैतसम्मत धर्मभूत ज्ञान विश्लेषण

धर्मभूत ज्ञान का लक्षण :

विशिष्टाद्वैत दर्शन में ज्ञान को धर्मभूतज्ञान से अभिहित किया जाता है। क्योंकि आत्माज्ञान स्वरूप है। ज्ञान आत्मा स्वयं ज्ञान का आश्रय है। जो ज्ञान आत्मा का धर्म होता है, उसे धर्मभूत ज्ञान कहते हैं। इस धर्मभूत ज्ञान को ही बुद्धि, संवित्, ज्ञान तथा मति आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार धर्मभूत ज्ञान विशिष्टाद्वैत का एक मौलिक तत्व है, जिससे जीवात्मा की नित्यता एवं अपरिवर्तनशीलता सिद्ध की गई है। यह आत्मा का गुण है जिसमें जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था एवं मृत्यु के समय विकार उत्पन्न होता है। आत्मा का चैतन्य अंश वृद्धि या क्षय को प्राप्त नहीं होता। धर्मभूतज्ञान रूपी बुद्धि ही जीव को सद् असद् का निर्देश करती है, इसी के निर्देशन में वह जीवन-यापन करता है। प्रत्येक जीव अपनी शारीरिक रचना में, प्रधान क्रियाओं एवं शक्तियों में समान है परन्तु धर्मभूतज्ञान सबका भिन्न होता है, अत: यह ही एक व्यक्ति को दूसरे से पृथक् करने का माध्यम है। धर्मभूत ज्ञान अनुभव व्यावर्तक है।[1]

----

1. 'विषय प्रकाश वेलायां स्वाश्रयस्यैवात्मन: स्वयंप्रभा। अन्य कालान्य पुरुषगता तु स्मृत्यनुमानादि विषय: संसारिणाम्, इतरेषां तु सर्वज्ञतया अन्य कालान्यपुरुषनिष्ठापि स्वकीयेन प्रत्यक्षेण विषयी क्रियते।' -- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 496

ज्ञान का लक्षण

आचार्य श्रीनिवास यतीन्द्रमतदीपिका में ज्ञान के तीन लक्षणों को उद्धृत किया है -

प्रथम लक्षण में कहा गया है कि जो स्वयं प्रकाश तथा अचेतन होते हुए सविषय हो उसे धर्मभूत ज्ञान कहते हैं। ज्ञान स्वयं प्रकाश है, क्योंकि वह अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा नहीं करता है।[1]

द्वितीय लक्षण - इस प्रकार से है कि विभु होते हुये प्रभावान् द्रव्य का गुण होना यह धर्मभूत ज्ञान का दूसरा लक्षण है। यहां पर विभु शब्द से सभी द्रव्यों से संयोग के योग्य होना ऐसा विवक्षित है। ज्ञान सभी द्रव्यों से संयोग के योग्य है। प्रभावान् द्रव्य का गुण प्रभा है। प्रभा जैसे प्रसरण शील होती है, तथा घट-पट आदि को अपना विषय बनाती है, उसी तरह ज्ञान भी प्रसरण शील तथा सभी विषयों को अपना विषय बनाता है।[2]

तृतीय लक्षण में विषयों के प्रकाशक को ज्ञान कहते हैं।[3]

ज्ञान के अर्थ विषय में विद्वानों एवं दार्शनिकों में मतभेद है। शब्दकल्पद्रुम में 'ज्ञा' धातु से निष्पन्न ज्ञान का अर्थ 'अवबोध' माना गया

----

1. 'संवित् स्वयंप्रकाशत्वे सत्य चेतन द्रव्यत्वे सति विषयत्वम् (स्वयंप्रकाशाचेतनद्रव्यत्वे सति विषयित्वम्)।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 116.

2. 'विभुत्वे सति प्रभावद्द्रव्यगुणात्मकत्वम्।'

--वही, पृ0 116

3. 'अर्थप्रकाशो बुद्धिरित्यादि तल्लक्षणम्।'

-- वही, पृ0 116

है ।[1] अमरकोषकार ने मोक्ष विषयक बुद्धि को ज्ञान एवं शिल्प शास्त्र विषयक बुद्धि को विज्ञान की संज्ञा दी है ।[2] न्यायवैशेषिक के अनुसार बुद्धि या ज्ञान समस्त व्यवहार का हेतु है ।[3] तर्कसंग्रह की प्रख्यात टीका तत्वदीपिका के अनुसार `मैं जानता हूं` यह अध्य व्यवसाय ही ज्ञान का लक्षण है ।[4] न्यायबोधिनी के अनुसार ज्ञान के बिना शब्द प्रयोग असम्भव होने के कारण शब्दप्रयोगरूप व्यवहार ही `बुद्धि है ।[5]

विशिष्टाद्वैत के आद्य आचार्य नाथमुनि ने बुद्धि के चार लक्षण बतलाये हैं[6] -- अत्यन्तवेगिता, अत्यन्तसूक्ष्मता, अत्यन्तलाघवता, एवं अत्यन्तप्रकाश ।

----

1. `ज्ञानं विशेषेण सामान्येन चावबोध: ।`

-- शब्दकल्पद्रुम, खण्ड 2, पृ0 587.

2. `मोक्षेधीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयो: ।`

-- अमरकोष, 1.5.6

3. `सर्वव्यवहारहेतुबुद्धिर्ज्ञानम् ।`

-- तर्कसंग्रह, पृ0 34

4. `जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वमेनलक्षणमित्यर्थ: ।`

-- तत्वदीपिका, पृ0 22

5. `ज्ञानं विना शब्द प्रयोग संभवाच्छब्दप्रयोग रूप व्यवहार हेतुत्वं- बुद्धेर्लक्षणम् ।`

-- न्यायबोधिनी, पृ0 22

6. अत्यन्तवेगिताऽत्यन्तसौक्ष्म्यं निर्भरता तथा ।
स्वसत्ता कालभाव्याप्तिर्ज्ञाने लक्ष्यचतुष्टयम् ।।

-- न्यायतत्व, उद्धृत - न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 495.

अत्यन्त वेगिता : वेग के कारण ही मुक्त पुरुष की बुद्धि उभय विभूतिरूप्य पदार्थों से संयुक्त हो जाती है ।

अत्यन्त सूक्ष्मता : इस सूक्ष्मता के कारण ही वह बुद्धि जो सबको व्याप्त करने की क्षमता रखती है, संसार दशा में मसक आदि क्षुद्र जन्तुओं के शरीर में अनुप्रविष्ट होकर रहती है ।

अत्यन्त लाघवता : अत्यन्त हल्की होने के कारण ही बुद्धि अत्यन्त वेग से सम्पन्न रहती है ।

अत्यन्त प्रकाश : अपने रहते समय प्रकाश में से होकर रहना बुद्धि का चतुर्थ लक्षण है ।

आचार्य रामानुज के अनुसार ज्ञान कर्तृ कर्म विषयक है ।[1] वस्तुतः ज्ञान किसी विषय के सम्बन्ध में होना है और किसी विषयी या ज्ञाता को होता है । विषय के बिना ज्ञान असम्भव है और विषयी के बिना ज्ञान की कोई सत्ता नहीं है ।[2]

----

1. 'जिज्ञासाया: कर्मविदात्वेन कमर्थित्वं सिद्धि ।'

-- श्रीभाष्य, 1.1.1, पृ० 3

2. 'अस्ति तावत् सर्वसिद्धान्तिनाम्, इदमहंवेदयेति कर्मकर्तृ घटित क्रिया विशेषणावभास: ।'

-- सर्वार्थसिद्धि, 4.1

आचार्य वेदान्त देशिक के अनुसार कर्मकारक एवं कर्तृ कारक को लेकर होने वाला जो प्रकाश है वह बुद्धि है।[1] ज्ञान वह है जो विषय की प्रकृति का यथार्थ बोध कराये और वह बोध फलप्रद हो।[2] न्यायसिद्धाञ्जनकार ने `द्रव्य विभागीकरण` में ज्ञान को अजड़, पराक् द्रव्य माना है। ज्ञान अजड़ है क्योंकि वह स्वयं प्रकाश युक्त है। अजड़ द्रव्यों में ज्ञान पराक् या `परस्मैभासमान` है क्योंकि वह सर्वदा अन्य अर्थात् ज्ञाता के लिए अपने विषय का प्रकाशन करता है। जीव प्रत्यक् या `स्वस्मैभासमान्` द्रव्य है क्योंकि वह स्वयं विषय का ज्ञान करता है।[3] ज्ञान द्रव्य है क्योंकि वह जीवों की बहुलता के कारण अनेक अवस्थाओं से युक्त है और संकोच एवं विस्तार को प्राप्त होता रहता है।[4] जब जीव सांसारिक अवस्था में अनेक बुराइयों में फंस जाता है तो धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता है, परन्तु जब वह सात्त्विक जीवन बिताते हुये शुभ कर्म करता है, तो धर्मभूत ज्ञान का विस्तार हो जाता है। मुक्तावस्था में जब जीव भगवत्साक्षात्कार रूपी सुख का अनुभव करता है तो धर्मभूत ज्ञान का पूर्ण विकास हो जाता है।

----

1. `अथ मतिर्निरूप्यते सकर्मकावभासत्वं सकर्तृकावभासत्वम्।`

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ० 495

2. `अर्थ प्रकाशो बुद्धिः।`

-- तार्किक रक्षा, पृ० 124 एवं न्यायपरिशुद्धि, पृ० 86

3. `प्रत्यक् स्वस्मै भासमानम्। पराक् परस्मा एव भासमानम्।`

-- सर्वार्थ सिद्धि, 1.6

4. `ज्ञानं धर्मः संकोच विकाशयोग्यं स्वव्यतिरिक्त प्रकाशकं विभुं च।`

--तत्त्वत्रय, पृ० 35

ज्ञान की द्रव्यत्वसिद्धि

विशिष्टाद्वैत में ज्ञान को द्रव्य एवं जीव का धर्म स्वीकार किया गया है । श्रीयामुनाचार्य जी ने अपने `सिद्धित्रय` नामक ग्रन्थ में कहा है कि ज्ञान अपने आधारभूत आत्मा से अलग रहता है, अत: वह द्रव्य है ।[1] परन्तु वह आत्मा द्वारा समाश्रित है और आत्मा के अन्दर है अत: वह आत्मा का गुण है । लोकाचार्य के अनुसार द्रव्य का लक्षण है क्रिया एवं गुणों से युक्त होना ।[2] ज्ञान द्रव्य है क्योंकि वह क्रिया एवं गुणों का आश्रय है एवं जड़ नहीं है । यहां प्रश्न हो सकता है कि यदि ज्ञान अजड़ है, तो सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि के समय उसकी चेतना की प्रतीति क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर है उसके प्रसारण का अभाव । अर्थात् उस समय ज्ञान का प्रसार नहीं होता; अत: सुषुप्ति अथवा मूर्च्छा के समय में चेतना की प्रतीति नहीं होती ।

वेदान्त देशिक ने ज्ञान की द्रव्य सिद्धि के लिए दो अनुमान प्रस्तुत किये हैं --

----

1. आश्रयादन्यतो वृत्तेः आश्रयेण समन्वयात् ।
   द्रव्यत्व च गुणत्वं च ज्ञानस्यैवोपपद्यते ।।
   -- सिद्धित्रय, का० सं० 1.

2. द्रव्यत्वं कथमिति चेत् ? क्रियागुणनामाश्रयत्वाच्चद्रव्यम्भवति ।
   अजड़त्वं चेत्सुषुप्ति मूर्च्छाऽऽदिषु कुतो न प्रकाशत् इति चेत ?
   प्रसरणाभावान्न प्रकाशते ।
   -- तत्वत्रय, पृ० 34

1. ज्ञान द्रव्य है, क्योंकि उसमें अवस्था परिवर्तन रूपी विकार होते हैं-- मृत्तिका आदि द्रव्यों के समान ।

2. ज्ञान द्रव्य है क्योंकि वह जड़ नहीं, ज्ञाता आत्मा के समान ।[1]

यदि ज्ञान को द्रव्य न मानें तो उसमें संकोच एवं विकास सम्भव नहीं हो पायेंगे ।[2] क्योंकि संकोच एवं विकास रूपी अवस्थायें अपने आश्रय द्रव्य के बिना नहीं रह सकतीं । श्रीभाष्य के सुविख्यात टीकाकार सुदर्शन भट्ट ने अपनी श्रुति प्रकाशिका में ज्ञान को संकोच एवं विकास नामक दो अवस्थाओं से युक्त होने के कारण `द्रव्य` स्वीकार किया है ।[3]

`प्रश्न यह बनता है कि जब ज्ञान द्रव्य है तो उसे आत्मा के गुण के रूप में स्वीकार कर सकते हैं या नहीं ? नैयायिक आत्मा को द्रव्य मानते हैं और बुद्धि या ज्ञान को उसका गुण । अत: ज्ञान यदि द्रव्य है तो गुण कैसे हो सकता है ? -- वेदान्त देशिक के सिद्ध किया है कि ज्ञान को द्रव्य

----

1. `बुद्धिर्द्रव्यं विकारान्वयत इतरवत्, वोद्धृवच्चाजडतात् ।`
-- तत्त्वमुक्ताकलाप, 4.7.

2. `संकोचादि प्रयोगावहब इह तथा न ह्यमुख्याभावेयु: ।`
-- वही, 4.7

3. `ज्ञानं हि द्रव्यं, तस्य स्वरूपातिरेकेण संकोच विकासात्मकं अवस्था द्रव्यं अभ्युपेतम् ।`
-- श्रुतप्रकाशिका, 1.1.1

मानने पर भी वह गुण हो सकता है।[1] क्योंकि हमारे मत में गुण का लक्षण यही है कि जो स्वभावत: जिसका आश्रय लेकर रहे वह उसका गुण है।[2] ज्ञान आत्मा का इस अर्थ में गुण है कि गुण का अर्थ धर्म स्वभाव है, न्याय की भांति 24 गुणों वाला अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है।[3]

यतीन्द्रमतदीपिकाकार आचार्य श्रीनिवास ने भी कहा है कि ज्ञान आत्मा का गुण होते हुये द्रव्य भी है, क्योंकि उसमें संकोच एवं विकास की क्रिया रूप अवस्थायें होती हैं। जो अवस्थाओं का आश्रय होता है वही द्रव्य होता है।[4] उदाहरणार्थ - पिण्ड, घट, कपाल, चूर्ण आदि अवस्थाओं का आश्रय मृत्तिका द्रव्य है। ज्ञान में भी संकोच एवं विकास की अवस्थायें होती हैं, अत: ज्ञान भी द्रव्य है।

इस समस्या का एक ही ज्ञान गुण और द्रव्य दोनों कैसे हो सकता है? समाधान यह है कि गुण दो प्रकार के होते हैं -- 1. द्रव्यात्मक गुण,

----

1. 'एवं नास्या गुणत्वं गलति।'

-- तत्वमुक्ताकलाप, 4.7

2. 'यो यदाश्रितस्वभाव: स तस्य गुण इति हि गुण लक्षणम्।'

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 522

3. 'न खलु तत् तन्त्र सङ्केत सिद्धम्।'

-- तत्वमुक्ताकलाप:, 4.7

4. 'यतस्सङ्कोचविकासावस्थावत् अतो द्रव्यमपि भवति।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 126

2. केवल गुण ।[1]

द्रव्यात्मगुण -- ज्ञान तथा प्रभा आदि द्रव्यात्मक गुण हैं । जो द्रव्यात्मक गुण हैं, उनमें गुण शब्द का प्रयोग गौण होता है ।

केवल गुण -- सत्व, रजस्, तमस आदि केवल गुण हैं । जो केवल गुण होते हैं, उनमें गुण शब्द का - मुख्याभिधान होता है ।

अतएव ज्ञान द्रव्यात्मक गुण है । अत: जिस प्रकार द्रव्यात्मक गुण प्रभा अपने प्रभावान् द्रव्य दीपादि का गुण होते हुये द्रव्य भी स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार आत्मा के गुण -भूत ज्ञान को भी संकोच - विकासादि सम्पन्न होने के कारण द्रव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है । द्रव्य का इतना ही लक्षण है कि वह अवस्थाओं का आश्रय है । द्रव्य होने के लिए गुण न होना कोई आवश्यक नहीं है । किसी गुण में भी यदि द्रव्य का लक्षण पाया जाय तो उसे द्रव्य-कोटि में स्वीकार करना चाहिये । ज्ञान में भी द्रव्य का लक्षण अवस्थाश्रयत्व है, अत: उसे द्रव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।

यदि ज्ञान आत्मा का गुण है तो उसे अपने आश्रय द्रव्य को छोड़कर उसी तरह से अन्यत्र नहीं रहना चाहिये क्या जैसे - गन्ध पृथिवी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, शब्द आकाश में ही उपस्थित रहता है, किन्तु ज्ञान का

----

1. 'आत्मा गुण भूतस्य ज्ञानस्य द्रव्यत्वं कथमिति न शङ्कनीयम् । प्रभावद्देकस्यैव द्रव्यत्व गुणत्वयोर्विरोधाभावात् । अवस्थाश्रयो द्रव्यमिति हि द्रव्य लक्षणम् । स्वाश्रयादन्यत्र वर्तमानत्वमपि प्रभावदुपपद्यते ।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 126

तो तत्-तत् विषयों से सम्बन्ध होता है, यह कैसे सम्भव है ? इसका प्रत्युत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रभा अपने आश्रय प्रभावान् द्रव्य से भिन्न घट-पट आदि प्रदेशों में भी जाकर उनका प्रकाशन करती है, जबकि वह अपने प्रभावद् द्रव्य का गुण है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान गुण भी रूप, रसादि का प्रकाश किया करता है, इसमें कोई भी विरोध नहीं है ।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने ज्ञान के द्रव्यत्व सिद्धि के लिए दो अनुमानों का आश्रय लिया है --

1. आत्मा का गुणभूत बुद्धि द्रव्य है, क्योंकि वह प्रसरण आदि क्रियाओं से सम्पन्न है । जो भी प्रसरणादि क्रियाओं से सम्पन्न होते हैं, वह ही द्रव्य होते हैं, जैसे प्रभाद्रव्य ।

2. ज्ञान 'बुद्धि' द्रव्य है, क्योंकि वह संयोग एवं अदृष्ट से भिन्न है, साथ ही भावनाख्य संस्कार का कारण भी है । जिस प्रकार संयोग एवं अदृष्ट से भिन्न होने वाली आत्मा भावनाख्य संस्कार का कारण होते हुये भी द्रव्य है, उसी प्रकार ज्ञान भी संयोग एवं अदृष्ट से भिन्न तथा भावनाख्य संस्कार का कारण भूत ज्ञान भी द्रव्य है ।[1]

इस प्रकार लोक में भी यह सिद्धान्त माना जाता है कि जो धर्म होता

----

1. 'प्रयोगश्च, गुण भूता बुद्धिर्द्रव्यम्, प्रसरणादिमत्वात् प्रभावत् । ज्ञानं द्रव्यम्, संयोगादृष्टान्यत्वे सति भावनाकारणत्वात् आत्मवदिति । मुक्त ज्ञानस्य युगपदनन्त देशसंयोगो नयनसूर्यादितेजोवत् संभवति ।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 126

वही गुण कहलाता है । गुण का यह सर्वमान्य लक्षण दीप की प्रभा की भांति सिद्ध है ।[1]

आचार्य रामानुज ने भी प्रभा को द्रव्य मानते हुये प्रदीप का गुण स्वीकार किया है, इसी प्रकार ज्ञान द्रव्य होते हुये भी आत्मा का गुण माना जाता है ।[2]

ज्ञान विषयक अवधारणा विमर्श --

प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञान भिन्न-भिन्न होता है । यदि सभी व्यक्तियों का ज्ञान एक जैसा हो तो उनमें विचारों का आदान-प्रदान संभव नहीं । ज्ञान की जो प्रत्यक्षावस्था, परोक्षावस्था एवं अनुभवावस्था आदि देखी जाती हैं वे भी ज्ञान में भेद को सिद्ध करती हैं ।[3]

अद्वैत मत में संवित् एक है क्योंकि यह उत्पत्ति विनाशरहित है जिसका उत्पत्ति विनाश होता है वह एक नहीं होता जैसे घट ।[4]

----

1. `लोके धर्मस्वभावो गुण इति विदितं, सा पिसिद्धा प्रभावत् ।`

-- तत्वमुक्ताकलाप, 4.7

2. `प्रभाद्रव्यस्य प्रदीपगुणभूतस्येव, ज्ञानस्यपि आत्मगुणभूतस्य द्रव्यत्वं अविरुद्धं इति ।`

-- श्रीभाष्य, 2.2.27, पृ0 540.

3. `दृष्टादृष्टव्यवस्थाक्वचिदिह पुरुषो बुद्ध्यवस्थाभिरेव ।`

-- तत्वमुक्ताकलाप, 4.5

4. संवित् न नाना अनुत्पन्नत्वात् नाशरहित्वात् यथा घट: ।`

-- शतदूषणी, का0 सं0 23

वेदान्तदेशिक को यह तर्क मान्य नहीं क्योंकि हमें अनुभव से ज्ञात होता है कि ज्ञान का उदय और अस्त होता है ।[1] ज्ञान का संकोच और विकास भी होता है । प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात होता है कि वह किस वस्तु का ज्ञान रखता है और किसका नहीं ।

अद्वैत का उत्पत्ति और विनाश रहित्व पर आधारित ज्ञान का एकत्व साधक अनुमान असिद्ध है, क्योंकि ज्ञान उत्पत्ति रहित भले ही हो पर विनाश रहित नहीं । स्वयं चित्सुखाचार्य ने देवदत्त आदि में रहने वाली प्रभा को अनादि भाव रूप अज्ञान की विनाशिका बतलाया है । अत: अद्वैत ने भी अनादि भाव रूप घटादि के ज्ञान में भेद स्वीकार किया है ।[2]

विशिष्टाद्वैत का तर्क है जीव अनन्त है अतएव उनमें रहने वाला ज्ञान एक नहीं हो सकता । प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के ज्ञान से भिन्न होता है । यदि ऐसा न हो तो ज्ञानी और मूर्ख में क्या अन्तर होगा । आचार्य रामानुज के अनुसार ज्ञान में भेद ज्ञान के विषयों की विभिन्नता से भी सिद्ध होता है ।

----

1. 'उत्पत्यादेरभावान्न यदिह-शिभिदा नो दशाभेददृष्टे: ।'
-- तत्वमुक्ताकलाप, 4.5

2. 'त्वदिष्ट देवदत्तादि भेद प्रतिनियत प्रभा निर्वर्त्यापारिभाव रूपं घटाधज्ञानं चत्वयैव भेद वत्तयाऽङ्गीक्रियते ।'
-- सर्वार्थसिद्धि, 4.5

ज्ञान में भिन्नता स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा एक पुरुष द्वारा दृष्टवस्तु का सभी पुरुषों द्वारा दृष्ट होने का प्रसंग होगा । यदि ज्ञान को उत्पत्ति विनाश रहित मानें तो `मैं इसको नहीं जानता था`, `मेरा ज्ञान नष्ट हो गया` इत्यादि व्यवहार भी नहीं हो पायेगा । यदि सभी में एक जैसा ज्ञान है तो कोई अज्ञानी, या मूर्ख है, या कैसा है, यह भेद कैसे संभव होगा ।[1]

अद्वैत मत में ज्ञान को निर्धर्मक सिद्ध करने के लिए दो अनुमान प्रस्तुत किये गये हैं --

1. ज्ञाननिर्धर्मक है, क्योंकि यह ज्ञान जो सधर्मक होता है,[2] वह ज्ञान नहीं होता है जैसे घट ।

2. धर्मज्ञान में नहीं रहते क्योंकि वे दृश्य हैं ।[3] यदि ज्ञान में दृश्य या विषय स्वीकार किया जायेगा जो ज्ञान, ज्ञान ही नहीं रहेगा ।

वेदान्त देशिक ने इन दोनों - अनुमानों का निराकरण किया है । खण्डन का मुख्य तर्क यह है कि ज्ञान के सभी धर्मों का निराकरण नहीं

----

1. `ज्ञत्वाज्ञत्वादिभेद: कथम्वि घटते सर्वथैकामतिश्चेत् ।`
-- तत्वमुक्ताकलाप, 4.5

2. `भेदादिदृश्यभावान्न दृशि दृशितया ।`
-- तत्वमुक्ताकलाप. 4.6

3. `दृश्य धर्मा न दृक् ।`
-- तत्वमुक्ताकलाप, 4.6

किया जा सकता । अद्वैत के विद्वानों ने स्वयं ज्ञान में `नित्यता` धर्म को स्वीकार किया है ।[1] वेदान्त देशिक प्रश्न करते हैं कि अद्वैती ज्ञान में नित्यता का निषेध करते हैं या नहीं , यदि करते हैं तो यह असिद्धान्त होगा, और यदि नहीं करते तो उनका अनुमान असिद्ध होगा ।[2]

किसी भी निर्णय में विषय को आश्रय से सम्बन्धित माना जाता है । अत: ज्ञान निर्विषय या निर्धर्मक है यह उक्ति परस्पर विरुद्ध है । अद्वैत में भी ज्ञान के सत्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व धर्म स्वीकार किये जाते हैं ।

ज्ञान के संकोच और विकास का अभिप्राय

ज्ञान के संकोच एवं विकास के कहने का अभिप्राय यह है कि धर्मभूत ज्ञान प्रत्येक पुरुष में रहता है । तथा प्रति पुरुष भिन्न-भिन्न है, प्रत्येक पुरुष के धर्मभूत ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह सभी पदार्थों का ग्रहण करता है । इस प्रकार का स्वभाव होने पर भी ज्ञान संसारावस्था में संकुचित रहता है, अतएव वह सभी पदार्थों का ग्रहण नहीं कर पाता है, अर्थात् यही धर्मभूत ज्ञान की संकोचावस्था है ।[3]

----

1. `पूर्वस्मिन् नित्यताधेरनियति विहन्ती ।`

-- त० मु० क०, 4.6

2. `वाग्विरोधादि शेषे ।`

-- वही, 4.6, पृ० 21

3. `इयं च प्रतिपुरुष नियता सर्वगोचरस्वभावापि संसारावस्थायां कर्मणा संकुचिता ।`

-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ० 513

पुरुषार्थों में कर्मों के अनुसार ज्ञान की मात्रा अल्प एवं अधिक होती है। ज्ञान का विकास इन्द्रियों के आधीन होता है। इन्द्रियाधीन विकास होने के कारण ही ज्ञान तत्-तत् इन्द्रियों के व्यवस्थित विषयों को अपना विषय बनाता है। प्रसरणों की भिन्नता के अनुसार ही बुद्धि की भिन्नता का अभिधान होता है। प्रसरण उत्पन्न होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है अर्थात् विकास होता है। प्रसरण के विनष्ट होने पर बुद्धि का विनाश कहा जाता है।

अतः अभिप्राय यह है कि धर्मभूत ज्ञान स्वरूपतः नित्य है, फिर भी उसका प्रसार इन्द्रिय सापेक्ष होता है।[1]

ज्ञान का संकोच ही नाश है उत्पत्ति ही विकास

धर्मभूत ज्ञान का जीवात्मा में नित्यता का प्रतिपादन श्रुतियों में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है - अर्थात् - ज्ञाता के ज्ञान का नाश नहीं होता, दृष्टा के दृष्टि का नाश नहीं होता, क्योंकि ज्ञाता एवं दृष्टा

----

1. (क) 'ज्ञानस्य संकोचविकासावस्थामादाय तत्सम्भवात्।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 116

(ख) 'संकोच इन्द्रिय द्वारा ज्ञानं संकोच्यते यदि।
विकास इन्द्रियद्वारा ज्ञानप्रसराद्भवेत्।।'
-- वेदान्त कारिकावली, पृ0 73

(ग) 'तमिमभिन्द्रियद्वारा ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योदयास्तमयव्यपदेशः प्रवर्तते।'
-- श्रीभाष्य, उद्धृत - न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 513

की आत्मा अविनाशी है ।[1] इस प्रकार ज्ञाता के अविनाशी होने से उसका धर्मभूत ज्ञान भी अविनाशी है । जीवात्मा के ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन करते हुये महर्षि शौनक कहते हैं कि जिस प्रकार मणि के मल का प्रक्षालन करने से मणि में कोई नवीन प्रकाश उत्पन्न नहीं किया जाता, उसी प्रकार आत्मा के दोषों को विनष्ट करने पर आत्मा में कोई नवीन ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है । जलाशय के निर्माण में भी नया जल या आकाश को उत्पन्न नहीं किया जाता है, बल्कि पूर्वसिद्ध ही आकाश और जल प्रकाश में लाये जाते हैं ।[2] इसी प्रकार जीवों के दोषों को विनष्ट करने पर उनके

----

1. (क) 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् ।'
-- बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.23

(ख) 'नहिद्रष्टुर्दृष्टे र्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् ।'
-- बृ० उ०, 4.3.30

2. (क) 'यथा न क्रियतेज्योत्स्नामलप्रक्षालनान्मणेः ।
दोषप्रहाणान्न ज्ञान मात्मनः क्रियते तथा ।।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 118.

(ख) 'यथोदपानकारणात् क्रियते न जलाम्बरम् ।
सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः ।।'
तथा हेयगुणध्वंसादव बोधादयो गुणाः ।
प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते ।।'
-- वही, पृ० 119

ज्ञान आदि सद्गुण प्रकाश में लाये जाते हैं, वे उत्पन्न नहीं किये जाते, क्योंकि वे आत्मा के नित्य-सिद्ध गुण हैं ।

महर्षि बादरायण ने भी जीवों के ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन किया है कि श्रुति-प्रमाण से ही सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञानाश्रय है । ज्ञान आत्मा का यावदात्मभावी धर्म है । अर्थात् जब तक आत्मा रहता है, तब तक ज्ञान रहता है ।[1]

संशय यह है कि यदि ज्ञान नित्य है तो फिर उसकी उत्पत्ति या विनाश का व्यवहार कैसे होता है ? इसका समाधान यह है कि ज्ञान की संकोच एवं विकास की अवस्था को लेकर ही ज्ञान की उत्पत्ति तथा उसके विनाश का व्यवहार होता है । ज्ञान का संकोच ही उसका विनाश कहलाता है । ज्ञान का विकास ही ज्ञान की उत्पत्ति कहलाती है । जिस प्रकार मशक के छिद्र से पानी निकलता है, उसी प्रकार ज्ञान इन्द्रिय रूपी छिद्रों से निकलकर विषयों से सम्बद्ध होता है । तथा जिस प्रकार एक ही सर्प की फण में संकोच एवं विकास की अवस्थायें देखी जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञान

----

1. (क) 'ज्ञोऽत एव ।'

-- शा0 भी0, 2.3.19

(ख) 'यावदात्मभावित्वाच्च न दोषः तद्दर्शनात् ।'

-- शा0 भी0, 2.3.30

(ग) 'संकोचविकासाभ्यां नाशोत्पत्ति विपाकभाक् ।'

-- वेदान्तकारिकावली, पृ0 73

में भी आगन्तुक संकोच एवं विकास होते हैं ।[1]

ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व

ज्ञान स्वयं प्रकाश है क्योंकि बुद्धि विषय प्रकाशन के समय अपने आश्रय आत्मा के लिए स्वयं प्रकाशित होती है ।[2] स्वयंप्रकाशता ज्ञान का स्वरूप है, क्योंकि यह पदार्थ 'मैं जानता हूँ' यह प्रत्याभिज्ञा न केवल विषय का प्रकाशन करती है अपितु स्वयं को भी प्रकाशित करती है । आचार्य वेदान्त देशिक ने ज्ञान को 'ज्ञान के लक्षण' एवं 'ईश्वर के सर्वज्ञ ज्ञान' की भांति स्वयं प्रकाश माना है ।[3] यदि हम ज्ञान की परिभाषा बतलाते हुये यह कहें कि ज्ञान वह है जो पदार्थ के व्यावहारिक ज्ञान का कारण है तो ज्ञान के इस लक्षण में परिभाषा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का भी समावेश है । इसी प्रकार ईश्वर के सर्वज्ञ होने में उनका अपना ज्ञान भी समाविष्ट

----

1. 'दृते: पादाद्यथोदकं क्षरति । तथा ज्ञानमपीन्द्रिय द्वारा निस्सृत्यार्थेन सन्निकृष्यते । अहिकुण्डलवत् संकोचविकासौ ।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 116.

2. 'सा च विषय प्रकाशन वेलायां स्वाश्रयस्यैवात्मन: स्वयंप्रभा ।'
-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ० 495

3. 'बुद्धिलक्ष्मादिधीवत्, सर्वज्ञ धीवत् ।'
-- तत्वमुक्ताकलाप, 4.1

है । यह नहीं कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ ईश्वर[1] अपने ज्ञान के अतिरिक्त सभी का ज्ञान रखता है अन्यथा उसके सर्वज्ञत्व की हानि होगी । शास्त्रों[2] के अनुसार जिस प्रकार प्रभा स्वयं प्रकाशने वाला पदार्थ है, उसी प्रकार आत्मा और उसका धर्मभूत ज्ञान स्वयं प्रकाशने वाला पदार्थ है ।

अद्वैत के अनुसार ज्ञान के स्वयं प्रकाशत्व का अर्थ है कि ज्ञान का अपने स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है । ज्ञान को विषय के रूप में प्रतिबद्ध नहीं किया जा सकता अर्थात् यह ज्ञान है ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु आचार्य रामानुज के अनुसार ज्ञान के स्वयं प्रकाशत्व का अर्थ है कि ज्ञान स्वयं को एवं विषय को अपने आश्रय के प्रति अभिव्यक्त करता है[3] । आत्मा ज्ञान का आधार है । यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान केवल विषय को अभिव्यक्त करता है, और स्वयं विषय के रूप में अभिव्यक्त नहीं होता ।[4] भूतकाल का ज्ञान और किसी अन्य मस्तिष्क के अनुभव हमारे ज्ञान का विषय बनते हैं । यदि हम दूसरों के ज्ञान एवं अनुभवों को ज्ञान का विषय स्वीकार

----

1. 'यः सर्वज्ञः सर्ववित ।'

--मुण्डकोपनिषत्, 2.2.7

2. 'यथाप्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।'

--श्रीमद्भगवत्गीता, 13.33

3. 'यत्त्वनुभूतेः स्वयंप्रकाशत्वमुक्तम्, तद्विषय प्रकाशनवेलायां
ज्ञातुरात्मनस्तथैव, न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेतिनियमोऽस्ति ।'

--श्रीभाष्य, उद्धृत - न्यायसिद्धाञ्जनं, पृ० 496

4. 'वेद्मि इत्यत्र बोद्धविशेषणतया भाति ।'

-- सर्वार्थसिद्धि, 4.1

न करें तो हमारा क्रियात्मक जीवन गतिहीन हो जायेगा ।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार के अनुसार सभी ज्ञान स्वत: प्रमाण तथा स्वयम्प्रकाश होते हैं ।[1] अर्थात् विवादास्पद संवित् अपने विषय में होने वाले व्यवहारों के प्रति स्वाधीन प्रकाश है, क्योंकि वह अपने व्यवहार के लिये विषय, इन्द्रिय तथा दीपादि के समान अपने सदृश्य किसी प्रकाशकान्तर की अपेक्षा नहीं रखती है ।[2] कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे घट ज्ञान अपने प्रकाश के लिए अपने सजातीय किसी दूसरे घट के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु वह अपने से भिन्न विसजातीय आत्मा की अपेक्षा रखता है । इसी प्रकार इन्द्रियां अपने व्यवहार के लिए इन्द्रियान्तर की अपेक्षा नहीं रखती हैं । अपितु वह अपने से आलोक की अपेक्षा रखती है । यदि कहें कि चक्षुरिन्द्रिय को अपने व्यवहार के लिए अपने सजातीय प्रकाश की आवश्यकता होती है तो वह भी नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय तथा आलोक दोनों सजातीय नहीं अपितु विसजातीय हैं । चक्षुरिन्द्रिय सात्त्विकाहङ्कारोपादानक है तथा आलोक तैजस है । तेज तो चक्षुरिन्द्रिय का आप्यायक मात्र है, अत: वे दोनों परस्पर विसजातीय हैं ।[3]

----

1. 'सर्वं ज्ञानं स्वत एव प्रमाणम् । स्वयम्प्रकाशं च ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 119

2. 'विप्रतिपन्ना संवित् स्वगत व्यवहारं प्रति स्वाधीन किञ्चित्कारा । स्वसजातीय सम्बन्धानपेक्षा व्यवहारहेतुत्वात् ।'

-- वही, पृ0 119

3. 'न च चक्षुरालोकयोस्सजातीयत्वं, अहङ्कारिक तैजसयोर्भेदात् ।'

-- वही, पृ0 119

श्रीभाष्य में भी कहा गया है कि चेतन और अचेतन सभी पदार्थ ज्ञान से प्रकाशित होते हैं।[1] अत: वेदान्त देशिक ने बुद्धि को प्रकाशानुमेय न मानकर स्वयं प्रकाश सिद्ध किया है।[2]

विशिष्टाद्वैत सम्मत ज्ञान

विशिष्टाद्वैत के ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त की मुख्य विशेषता यह है कि ज्ञान जीवात्मा का स्वरूप एवं गुण दोनों है।[3] आचार्य रामानुज के अनुसार जिस प्रकार प्रभादीप का स्वरूप भी है और अनिवार्य गुण भी है उसी प्रकार ज्ञान भी जीवात्मा का स्वरूप एवं गुण है।[4] आचार्य

----

1. `प्रकाशस्य चिदचिद विशेषपदार्थ साधारणं व्यवहारानुगुण्यम्।`

-- श्रीभाष्य, उद्धृत - न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 502

2. `तदेवं न बुद्धि: प्रकाशानुमेया, किन्तु स्वयं प्रकाशैव।`

-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 503

3. (अ) `आत्माज्ञान स्वरूप एव।`

--श्रीभाष्य, 2.3.19

(ब) `प्रकाशत्वाच्य तेजोद्रव्यमेव।`

--वही, 1.1.1

4. `प्रभाद्रव्यस्य प्रदीपगुणभूतस्येव, ज्ञानस्यापि आत्मगुणभूतस्य द्रव्यत्वं अविरुद्धम्।`

-- श्रीभाष्य, 2.2.27

वेदान्त देशिक ने जीवात्मा के ज्ञान की मणि, सूर्य और दीप की प्रभा की साम्यता बतलायी है ।[1] श्रीनिवासाचार्य के अनुसार प्रभा की भांति ज्ञान का द्रव्यत्व एवं गुणत्व अविषादास्पद है ।[2]

ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध विशिष्टाद्वैत की ज्ञान-मीमांसा का मुख्य चिंतन है । कुछ विशेषताओं एवं गुणों के बिना तत्व का ज्ञान असम्भव है । विशिष्टाद्वैत को अपना नाम भी तत्वज्ञान के सविशेष विषयक प्रतिपादन करने के कारण प्राप्त हुआ है । यतीन्द्रमतदीपिकाकार श्री-निवासाचार्य के अनुसार सभी वैदिक एवं लौकिक ज्ञान से विशेष विषयक हैं ।[3] आचार्य रामानुज के अनुसार समस्त ज्ञान एक विशिष्ट या संश्लिष्ट वस्तु का निर्देश करता है, और यह वह तथाकथित निर्विकल्पक स्तर पर भी करता है । इसलिए किसी ऐसी वस्तु की कल्पना जो नितान्त आकारहीन हो, उचित नहीं ।

विशेषण-विशेष्य भाव विशिष्टाद्वैत की ज्ञान मीमांसा का मुख्य विषय है । यह परतत्व का मूक या निर्विशेष उपपादन नहीं करता और

----

1. 'मणितरणिदीपतत्प्रभासाधर्म्येण जीव तज्ज्ञान समर्थनानि च ।'

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 509.

2. 'प्रभावदेकस्यैव द्रव्यत्वगुणत्वयोर्विरोधा भावात् ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 126.

3. 'एवं वैदिक लौकिक रूप सर्व वाक्य जातं स विशेष विषयकं भेदविषयकं च ।'

-- वही, पृ0 33

न ही वास्तविकता विहीन आदर्श का समर्थक है । चिन्तन का यथार्थ के साथ सम्बन्ध विशिष्टाद्वैत की ज्ञान मीमांसा का मूलभूत सिद्धान्त है । शास्त्रों में निर्विशेषवस्तु या जगत् की भ्रांति का प्रतिपादन नहीं किया गया है ।[1] यदि ज्ञान को निर्विशेष मानें तो शून्य पर स्थिति पहुंच जायेगी । यदि ज्ञान को सविशेष विषयक न मानें तो शून्यवाद का निराकरण नहीं किया जा सकता । ज्ञान और परतत्व में वास्तविक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विशिष्टाद्वैत में सम्पूर्ण भ्रम के सिद्धान्त या 'अख्यातिवाद' को मान्यता प्रदान नहीं की। प्रत्येक बोध में कुछ न कुछ अंश अवश्य-निहित रहता है । अत: विशिष्टाद्वैत 'असत्ख्यातिवाद' को भी स्वीकार नहीं करता । अख्याति या भ्रम अपर्याप्त बोध है । वस्तु के कुछ अंश के ग्रहण कुछ के अग्रहण के कारण भ्रम होता है । अत: भ्रम की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । वह उत्पन्न नहीं होता केवल ज्ञान का अवरोध करता है । अवरोध के हट जाने पर भ्रान्ति का नाश और सत्य ज्ञान का उदय होता है, जैसे अंधकार के हट जाने पर रज्जु पर आरोपित सर्प का भ्रम समाप्त हो जाता है, और रज्जु रूपी सत्यज्ञान अवबोधित हो जाता है । आचार्य रामानुज के अनुसार कोई ज्ञान मिथ्या नहीं, सभी प्रकार के ज्ञान सत्य हैं, क्योंकि यह वेद प्रतिपादित सिद्धान्त है।[2] यहां तक कि भ्रांति भी असत् नहीं अपितु विषय का अपूर्ण अनुभव है । विषय का अपूर्ण अनुभव भ्रमात्मक नहीं बल्कि ज्ञान के विकास की क्रमिक सीढ़ी है । भ्रमात्मक ज्ञान से हम प्रमाणिक ज्ञान पर पहुंच जाते हैं । ज्ञान की उत्पत्ति सत्य ही होती है, मिथ्या नहीं ।

----

1. 'अत: शास्त्रेषु न निर्विशेष वस्तु प्रतिपादनमस्ति नाप्यर्थ जातस्य भ्रान्तत्व प्रतिपादनम् ।'

-- श्रीभाष्य, 1.1.1

2. 'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम् ।'

-- वही, 1.1.1

अख्याति में भी सत्य है । लोक विश्रुत है कि मनुष्य गलतियां करके ही विद्वान् बनता है । श्रीरामानुजाचार्य का यथार्थ सर्वविज्ञानं का यह सिद्धान्त भारतीय दर्शन में एक नवीन खोज है, जिसे विद्वानों ने विशिष्टाद्वैत की महान् उपलब्धि स्वीकार किया है ।

विशिष्टाद्वैत की अन्य विशेषता यह है कि इनमें इन्द्रिय ज्ञान को विशेष महत्व प्रदान किया है । प्रत्यक्ष ज्ञान शास्त्र का बाधक नहीं । शास्त्रज्ञान भी इन्द्रिय ज्ञान एवं तर्कज्ञान के सर्वथा विपरीत नहीं । यहां अध्यास या विवर्त को मान्यता प्रदान नहीं की गयी क्योंकि अध्यास से प्रत्यक्ष को आघात पहुंचता है ।

आचार्य वेदान्त देशिक ने ज्ञान के स्वरूप का विस्तृत विवेचन `तत्व-मुक्ताकलाप` नामक ग्रन्थ के `बुद्धिसर`, नामक अध्याय में किया है । उन्होंने ज्ञान के प्रमा और भ्रम नामक दो भेदों को स्वीकार किया है । भ्रम और प्रमा में यही अन्तर है कि भ्रम ज्ञान के व्यवहार का बाध होता है, और प्रमा ज्ञान के व्यवहार का बाध नहीं होता । आचार्य ने ज्ञान के स्मृति, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन चार भेदों का वर्णन किया है । ज्ञान के प्रामाण्य शब्द और अर्थबोध, स्फोटवाद, शब्द की शक्ति आदि विषयों का निरूपण किया गया है ।

अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत की मीमांसा उनके परतत्व चिन्तन के अनुरूप है । निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण अद्वैत का ज्ञान विषय-विषयी निरपेक्ष एवं अध्यास है, जबकि विशिष्टाद्वैत का ज्ञान विषय-विषयी सापेक्ष एवं वास्तविक है । आचार्य शंकर के अनुसार सब ज्ञान निर्विशेष के अनुभव में समाप्त हो जाते हैं, परन्तु आचार्य रामानुज के मत में - परतत्व के साक्षात्कार में ज्ञान अपने सम्पूर्ण विकास को प्राप्त होता है । अद्वैत का

ब्रह्म ज्ञान निरपेक्ष है, जबकि विशिष्टाद्वैत में ज्ञान ब्रह्म प्राप्ति में सहायक है। अद्वैतवाद के ब्रह्मप्राप्ति में ज्ञान नष्ट हो जाता है, क्योंकि अद्वैत की सिद्धि के लिए ज्ञान का नाश आवश्यक है, परन्तु विशिष्टाद्वैत में ज्ञान नित्य है, वह मुक्ति और सांसारिक अवस्था में भी बना रहता है।

नैयायिक, वैशेषिक तथा भाट्ट - मीमांसक आदि ज्ञान को परप्रकाश मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान स्वयं प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होते समय में स्वयं प्रकाशित होते हुये किसी को भी अनुभूत नहीं होता है, बल्कि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद दूसरे ज्ञान से प्रकाशित होता है। ज्ञान के विषय में नैयायिक एवं वैशेषिक मानते हैं कि उत्पन्न होने के पश्चात् ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष से पता चलता है। उदाहरण के रूप में प्रथम क्षण में 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है। उस समय वह ज्ञान प्रकाशित नहीं होता है, अपितु द्वितीय क्षण में 'मैं घट को जानता हूं' इस मानस प्रत्यक्ष के द्वारा पूर्व क्षण उत्पन्न घट ज्ञान प्रकाशित होता है।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में मानस प्रत्यक्ष का खण्डन करते हुये श्री पाराशर भट्ट कहते हैं कि मानस प्रत्यक्ष यदि ज्ञान का ग्राहक होता तो वह अनुभूति होता, परन्तु मानस-प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होता है। इस योग्यानुपलब्धि से सिद्ध होता है कि मानस प्रत्यक्ष ज्ञान का ग्राहक नहीं है। ज्ञान के प्रकाश के लिए मानस प्रत्यक्ष की कल्पना करना उचित भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान स्वयं ही अपने को प्रकाशित कर सकता है, तदर्थ -- मानस प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं है।[1]

----

1. 'योग्यानवग्रहात् स्वेन सम्भवादनवस्थिते।
इति बाधक हेतुभ्य: साधनद्वितीयस्य च।।

(क्रमश:...)

आचार्य रामानुज के ज्ञान का स्वयं की एवं विषय की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त प्रभाकर मीमांसा के 'त्रिपुति प्रत्यक्षवाद' के सिद्धान्त से मेल खाता है, जिसमें प्रत्येक प्रत्यभिज्ञा में तीन तत्त्व अर्थात् प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमिति को स्वीकार किया गया है ।

वेदान्त देशिक के अनुसार ज्ञान विषय को प्रकाशित करते समय अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता जैसे प्रभा अपने विषय को प्रकाशित करते समय अपने प्रकाशित होने के लिए किसी अन्य प्रभा की अपेक्षा नहीं रखती । नैयायिक 'यह घट है' इस प्रत्यक्ष ज्ञान को 'व्यवसाय' मानते हैं और जब 'मैं यह घट जानता हूँ' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है. इसे 'अनुव्यवसाय' कहते हैं । अर्थात् व्यवसाय होने पर मन जीव को ज्ञान कराता है । वेदान्त देशिक ज्ञान के स्वत: प्रकाश में व्यवसाय और अनुव्यवसाय को पृथक् नहीं मानते क्योंकि ऐसा मानने पर ज्ञान के प्रकाश में अनवस्था दोष उपस्थित होगा ।

अत: सिद्ध है कि ज्ञान स्वत: प्रकाशवान् है या स्वपर निर्वाहक है - ईश्वर ज्ञान, ज्ञान के लक्षण ये सभी दीपप्रभा के समान हैं[1] ।

असिद्धिव्यभिचाराभ्यां वैकल्यात् साध्यसाधने ।
इत्यसाधन वाधाभ्यां न धीमानिसगोचर: ।।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, टीका, पृ० 121

1. (क) 'तल्लक्षणविषयकं यत् ज्ञानं भवति तद्वत् । ज्ञानलक्षणलक्ष्यं हि ज्ञानसामान्यम् ।'

-- अलभ्यालाभ, 4.1

(ख) 'स्वप्रकाशं स्वतो मानमेतदित्यत्र संमतम् ।
स्वान्यनिर्वाहकत्वेन दीपवत्स्वप्रकाशता ।।'

-- वेदान्तकारिकावली, का० सं० 4, पृ०74

प्रपत्ति रहस्य चिंतन

ज्ञान के ही प्रकार विशेषों में भक्ति एवं प्रपत्ति की गणना की जाती है । महनीय विषय की प्रीति को ही भक्ति कहते हैं । भगवान् को ही एक मात्र शरण रूप से स्वीकार करके उनकी शरणागति करने को प्रपत्ति कहते हैं । शास्त्रों में कर्मयोग एवं ज्ञान योग को भी मोक्ष का साधन बतलाया गया है । किन्तु कर्म योग व ज्ञानयोग साक्षात् मोक्ष के साधन नहीं हैं । ये भक्ति के द्वारा ही मोक्ष प्रदान करते हैं । अतएव इनकी सद्वारक मोक्ष-साधनता है । मोक्ष के साक्षात् साधन भक्ति एवं प्रपत्ति ही हैं ।[1]

कर्मयोग एवं ज्ञान योग भक्ति के सहायक

वेदान्तदेशिक ने मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म और ज्ञान को भक्ति के सहायक के रूप में माना है ।[2]

कर्मयोग स्वरूप -- उपदेश के द्वारा जीवात्मा एवं परमात्मा के स्वरूप

----

1. (क) 'ज्ञान विशेषभूतयोर्भक्तिप्रपत्त्योः स्वरूपम् । अतस्तयोर्मोक्षो पापत्वम् । मोक्षोपापत्वेनोक्तानां कर्मयोग ज्ञानयोग प्रभृतीनां भक्ति द्वारैव साधनत्वम् ।'

यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 136

(ख) 'भक्तिप्रपत्तिसुप्रीत ईश्वरो मुक्तिदायकः ।
अतो भक्ति प्रपत्ति हि मुक्तौ परम कारणम् ।।'

-- वेदान्तकारिकावली, का0 सं0 9, पृ0 99

2. (अ) 'स्वधर्म-ज्ञान-वैराग्य-साध्य-भक्त्येकगोचरः ।'

-- गीतार्थ संग्रह, भूमिका, पृ0 1

(क्रमशः ...)

का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अपनी शक्ति के अनुसार फलाभिसंधिरहित अनिषिद्धकाम्य, नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान रूप कर्म विशेष ही कर्म योग कहलाता है।[1]

ज्ञानयोगस्वरूप -- कर्मयोग के अनुष्ठान से जिसका अन्त:करण स्वच्छ हो गया है, वह अपने को ईश्वर का शेष समझने लगता है। परमात्मशेषत्व ही जीवात्मा का स्वरूप शास्त्रों में वर्णित है। वह अपने स्वरूप से प्रकृति को वियुक्त रूप से जानने लगता है। इस प्रकार अपनी आत्मा के स्वरूप के चिन्तन को ही ज्ञान योग कहते हैं।[2]

(ब) 'ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्ति योगम्।'

--गीताभाष्य, 8.1

1. (क) 'उपदेशाज्जीवपरयाथार्थ्यज्ञानवता शक्त्यनुसारेण फलसङ्ग-रहितानिषिद्धकाम्यनित्यनैमित्तिकरूपपरिगृहीतकर्मविशेष:।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 137

(ख) 'कर्मयोग ज्ञानयोगौ भक्तौ साधनमूचिरे।
फलाभिसंधिरहितं कर्माराधनमीशितु:।।'

-- वेदान्त कारिकावली, का0 सं0 10, पृ0 78

2. (क) 'कर्मयोगान्निर्मलान्त:करणस्येश्वरशेषत्वेन प्रकृति वियुक्त - स्वात्मचिन्ताविशेष: ज्ञानयोगो नाम।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 138

(ख) 'विनिर्मलान्त:करणे चिन्तनं ज्ञानयोगक:।
साक्षादितरथा वापि भक्तौ कारण तानयो:।'

-- वेदान्तकारिकावली, का0 सं0 11, पृ0 79

विशिष्टाद्वैत में ज्ञान योग से अभिप्राय ईश्वर की समाधि और इन्द्रियों एवं मन के संयम से है । भगवद्गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया है कि मन बड़ा चंचल है, वह बलवान् एवं सबको मंथन करने वाला है ।[1] अत: उसे किस प्रकार वश में किया जा सकता है ? भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया है कि भगवन्नाम के अभ्यास से और ज्ञान रूपी वैराग्य से मन एवं इन्द्रियों का निग्रह किया जा सकता है ।[2] ज्ञान पूर्वक कार्य करने से मनुष्य कर्म बंधन से मुक्त हो जाता है ।[3] ज्ञान के द्वारा मनुष्य का हृदय एवं आचरण पवित्र होते हैं ।[4]

<u>भक्ति योग स्वरूप</u> -- पूज्य व्यक्ति के विषय में होने वाली प्रीति ही भक्ति कहलाती है ।

अत: श्री भगवान् ही ईश्वेतर समस्त जीवों के पूज्य हैं, अतएव भगवद्विषयणी होने वाली प्रीति ही भक्ति कहलाती है । ऐसी भक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुये यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने कहा है कि ध्येय श्री भगवान् - विषयक[5] तैलधारावदविच्छिन्न स्मृति संतान ही भक्ति शब्द का वाचक है । उस

----

1. 'चञ्चलं हि मन: कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढम् ।'
-- श्रीमद्भगवद्गीता, 6.34

2. 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।'
-- वही, 6.35

3. 'ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मात्कुरुते ।'
-- वही, 4.37

4. 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।'
-- वही, 4.38.

5. 'भक्तियोगो नाम । तैलधारावदविच्छिन्न स्मृति सन्तानरूप: ।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 138

स्मृति संतान को अष्टांग योग से समान्वित होना चाहिये। चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।[1]

योग के आठ अंगों के क्रम का वर्णन इस प्रकार से किया गया है --

1. यम
2. नियम
3. आसन
4. प्राणायाम
5. प्रत्याहार
6. धारणा
7. ध्यान
8. समाधि

इन आठ अंगों का समुदाय ही योग कहलाता है। इस अष्टांगयोग से सम्पन्न अधिकारी जब लगातार ध्येय श्रीभगवान् के स्वरूप का चिन्तन करने लग जाता है, तब उसके चिन्तन काल में मन से निश्चित ध्येय इष्ट श्रीभगवान् के स्वरूप का अपरोक्ष-सा होने लगता है तो उसे ही भक्तियोग कहते हैं।

----

1. 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः।'

-- योगसूत्र, 1.2

2. (अ) 'यम नियमासन प्राणायामप्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि-रूपाष्टाङ्गयुक्तः।'

--यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 138

(ब) 'भक्तियोगोऽयमष्टाङ्गोऽविच्छिन्नास्मृतिसंततिः।'

-- वेदान्तकारिकावली, पृ0 79.

यह भक्तियोग भी साधन सप्तकजन्य होता है । वे साधन सप्तक निम्न प्रकार से निरूपित किये गये हैं --

1. विवेक
2. विमोक
3. अभ्यास
4. क्रिया
5. कल्याण
6. अनवसाद
7. अनुद्धर्ष ।

इस प्रकार ये सात साधन हैं जो भक्ति योग के सहायक हैं ।[1]

भक्तियोग में तीन पर्वों का भी उल्लेख किया गया है --

1. परभक्ति
2. परज्ञान
3. परमभक्ति ।

परमभक्ति --

साधक को साधना के द्वारा प्रीति रूप को प्राप्त होने वाला तथा

----

1. (अ) 'स च विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणनवसादानुद्धर्षरूपसाधन-सप्तक जन्यः ।' -- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 138.

(ब) 'विवेकविमोकाभ्यास क्रिया कल्याणानवसादानुद्धर्षरूपसहकारि-कलापात्परिपोष्य दर्शन समानाकारतां प्रापिता स्मृतिसंततिरेव भक्तियोग इत्यर्थः ।' --वेदान्तकारिकावली, टीका, 80.

दर्शन के समान आकार वाला मोक्ष का कारणभूत स्मृति संतान ही परभक्ति कहलाती है ।

परज्ञान --

श्रीभगवान् के विषय में होने वाला वह परिपूर्ण साक्षात्कार जो ऐसे प्रेममय भगवद्ध्यान से - जिससे श्रीभगवान् का साक्षात्कार करने के लिए उत्कट उत्कण्ठा उत्पन्न होकर श्रीमन्नारायण से ऐसी प्रार्थना होती है कि हे भगवन् कृपया आप अपने निर्विकार-स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये - इस वन्दना से प्रसन्न होकर श्रीभगवान् के अनुग्रह कृपा प्रसाद से प्राप्त होने वाला ज्ञान ही परज्ञान कहलाता है ।

परमभक्ति --

परमभोग्य श्री भगवान् का साक्षात्कार होने के पश्चात् जो श्रीमन्नारायण को प्राप्त करने के लिए प्रेममय जो उत्कट त्वरा होती है वह परम भक्ति कहलाती है। यह परम भक्ति ही श्रीभगवान् को साक्षात प्राप्त कराती है । इन तीनों क्रमों वाली भक्ति ही प्रपत्ति का अंग बनती है ।[1] अत: ऐसी भक्ति भी दो स्वरूपों की बतायी गयी है -- 1. साधन भक्ति, 2. साध्य भक्ति ।[2]

----

1. 'परभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिरूपक्रमवती प्रपत्त्यङ्गिवाच ।'

-- य० म० दी०, पृ० 139.

2. 'सा द्विविधा - साधन भक्ति फल भक्ति भेदात् ।'

-- वही, पृ० 139.

साधन भक्ति --

शरीर पात काल में भी अपने ध्येय श्रीभगवान् के स्वरूप, रूप, ऐश्वर्य तथा सम्बन्ध आदि का स्मरण होते रहना ही अन्तिम प्रत्यय कहलाता है, जो शमादि साधनों तथा साधन सप्तक के अनुष्ठान से मुमुक्षु जीव में उत्पन्न होती है, उसे साधन भक्ति कहते हैं।[1]

साध्य भक्ति --

यह भक्ति वह है जो श्रीभगवान् की कृपा से उत्पन्न होती है, जिसे फलभक्ति भी कहते हैं -- जैसे श्री शठकोपसूरि की भक्ति। शास्त्रों में अष्टधा एवं नवधा भक्तियों की भी गणना की गयी है।[2] इस प्रकार अन्य

----

1. तच्छरीरावसान समये परिणामिनी।
   सेयं साधनभक्ति: स्यात्प्रत्यङ्गवती मता।।
   -- वेदान्तकारिकावली, का० सं० 13, पृ० 8

2. (अ) 'फलभक्तिस्तु, ईश्वर कृपा जन्या श्रीपराङ्कुशनाथादि निष्ठा।'
   -- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 139

   (ब) 'फलभक्तिस्तु भगवदनुग्रहकृता भवेत्।
   अत एव हरि: साक्षात्सिद्धोपायत्वमश्नुते।'
   -- वेदान्त कारिकावली, का० सं० 14.

   (स) मद्भक्तजनवात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम्।
   स्वयमभ्यर्चनं चैव मदर्थ दम्भ वर्जनम्।
   मत्कथाश्रवणे भक्ति: स्वरनेत्राङ्ग विक्रिया।

(क्रमश:...)

सभी भक्तियों को मुख्य रूप से इन तीन भक्तियों -- परभक्ति, परज्ञान, परमभक्ति में ही समाहित माना जाता है ।

न्यास विद्या का महत्व

प्रपत्ति को ही न्यास विद्या कहते हैं । प्रपत्ति का स्वरूप निरूपित करते हुये कहा गया है कि प्रपत्ति-व्यतिरिक्त किसी दूसरे साधन से नहीं प्रसन्न होने वाले, अपने अभीष्ट श्री भगवान् के विषय में महा विश्वास-पूर्वक श्रीभगवान् की ही एकमात्र प्राप्ति का साधन मानना तथा उसकी प्राप्ति के लिए श्रीभगवान् से प्रार्थना करना ही प्रपत्ति कहलाती है, उसे ही शरणागति कहते हैं ।[1] न्यासविद्यानामक शरणागति के स्वरूप का वर्णन करते हुये श्रीवात्स्य वरदाचार्य प्रपन्न पारिजात नामक ग्रन्थ के स्वरूप-पद्धति में कहते हैं कि प्रपत्ति को ही शरणागति कहा गया है । यह शरणा-गति या चा रूप है । इसमें प्रार्थना की जाती है कि - हे भगवन् आप अपनी ही कृपा से प्राप्त किये जा सकते हैं । आपको प्राप्त करने के लिए आपकी

ममानुस्मरणं नित्यं यश्च मां नोप जीवति ।
भक्तिरष्टविधा ह्येषा... ।

-- श्रीमद्भागवतम्, दृष्टव्य, य०म०दी०, पृ० 144

(द) श्रवणंकीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।

-- श्रीवाल्मीकि रामायणम्, दृष्टव्य, य०म०दी०, पृ० 145

1. न्यासविद्या प्रपत्तिः । सा च अनन्य साध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता या चा प्रपत्तिशरणागतिरित्युक्ता आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्णनम् ।

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 154.

प्रसन्नता से भिन्न अन्य कोई भी उपाय नहीं है । श्री भगवान् प्रपत्ति द्वारा ही प्रसन्न होते हैं ।[1] अतः श्रीभगवान् की प्रसन्नता प्रपत्ति से भिन्न किसी दूसरे साधन से नहीं प्राप्त होती है ।

शरणागति

शरणागति, मानव जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति का अत्यन्त सरल एवं सर्वजन सुलभ साधन है । शरणागति या प्रपत्ति का अर्थ है भगवद् शरण में जाना - यह इतनी सरल एवं हितकर है कि मात्र एक बार भगवान् की शरण में जाकर `मैं आपका दास हूं` कहना ही पर्याप्त है । भगवान् का यह व्रत है कि वे प्रपन्न को जन्म-मृत्यु के भय से अभय प्रदान कर देते हैं ।[2] शरणागति में जीव को माया से कोई भय नहीं रहता । भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है कि जो सब धर्मों को छोड़कर[3] मेरी शरण में आता है, उसे मैं सब पापों से मुक्त कर देता हूं ।

----

1. अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम् ।
   तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः ।।
   -- प्रपन्न पारिजात, स्वरूप पद्धति-2,
   द्रष्टव्य, यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 155

2. सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
   अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।।
   -- श्रीमद्भगवद्गीता, 6.19

3. (अ) दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
   मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।
   -- वही, 7.14

(क्रमशः...)

आचार्य श्री रामानुज ने अपने `श्रीभाष्य` आदि सभी ग्रन्थों में शरणागति के रहस्य को गोपनीय रखा परन्तु - `गद्यत्रय` के `शरणागति गद्य` में मुमुक्षुओं पर कृपा करने की इच्छा से `शरणागति` का मार्ग प्रशस्त किया ।[1]

आचार्य रामानुज के अनुसार जीव अनादि काल से भगवान् का शेष है । अत: उसका कर्त्तव्य है, अनन्य भाव से भगवान् का कैंकर्य तथा उनके प्रिय पात्र भक्तों की सेवा । भक्ति का सार है प्रपत्ति । प्रपत्ति का अर्थ है - आत्म निवेदन ।

जिस प्रकार यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा मनुष्य पवित्र होता है, यज्ञोपवीत संस्कार को ब्राह्मण का द्वितीय जन्म समझा जाता है । उसे `द्विज` कहा जाता है । इसी प्रकार शरणागत के लिए पंचविध संस्कारों का विधान है ।[2]

1. शंखचक्र धारण -- शंख-चक्र भगवान् विष्णु के चिह्न हैं अत: शरणागति के समय मानव को दायें कंधे पर चक्र तथा बायें कंधे पर शंख का चिह्न धारण करना चाहिये ।

(ब) सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ।।

भ0 गी0, 18.66

1. शारीरकेऽपि भाष्ये या गोपिता शरणागति: ।
अत्र गद्यत्रये व्यक्ता सा विधा प्रणतोऽस्म्यहम् ।।

-- गद्यत्रय भूमिका, पृ0 7

2. ताप: पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पंचम: ।
अमी हि पंचसंस्कारा: परमैकान्ति हेतव: ।।

-- अष्टांग रहस्यार्थ विवरण, पृ0 15

2. मस्तक पर तिलक धारण -- शरणागत को प्रतिदिन पूजा से पूर्व अपने मस्तक पर सफेद गोपी चन्दन या लाल रोली से उर्ध्व पुण्ड्र लगाना चाहिये ।[1]

3. नामकरण संस्कार -- शरणागति हो जाने पर भगवद् दासत्व सूचक पवित्र नाम धारण करना चाहिये, जैसे - रमादशी, रामदाश, विष्णुदासी, विष्णुदास, नारायणदास, कृष्णदास आदि ।

4. मंत्र-गृहण -- श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य से अष्टाक्षर नारायण-मन्त्र, द्वयाक्षर शरणागतिमन्त्र ग्रहण करके, प्रतिदिन पवित्र होकर आसन पर बैठकर मंत्र जाप करना चाहिये ।

5. प्रतिमा-अभिषेक -- भगवान् विष्णु की प्रतिमा या शालिग्राम को प्रतिदिन स्नान करवा के तुलसी पुष्प समर्पण करने चाहिये, भोग लगाना चाहिये और मंत्र जाप के उपरान्त भगवत् चरणामृत एवं प्रसाद ग्रहण करना चाहिये ।

अत: इस जीव के लिए अपने स्वामी नारायण के चरणाविंद में आत्मसमर्पण करने के अतिरिक्त अन्य कोई महनीय साधन नहीं है । सब धर्मों का परित्याग कर शरणापन्न होना ही प्रपत्ति का स्वरूप है ।

प्रपत्ति के विशेषण --

प्रपत्ति के तीन आकार या विशेषण हैं --

----

1. बाना बढ़ा दयाल का तिलक, छाप अरु माल ।
यम कांपें कालि डरे, भय माने भूपाल ।।
-- गुरुपरम्परा, पृ० 5

1. **अनन्य शेषत्व** -- अनन्य शेषत्व का अर्थ है -- भगवान् का ही दास होना।

2. **अनन्य साधनत्व** -- अनन्य साधनत्व से तात्पर्य है एकमात्र भगवान को तत्प्राप्ति में उपाय मानना।

3. **अनन्य भोग्यत्व** -- अनन्यभोग्यत्व का अभिप्राय है अपने को एक भगवत् को ही भोग्य समझना। प्रपत्ति की उपासना से भगवत्कृपा संपादित होती है, और इसी भगवत्कृपा से ही भगवत् प्राप्ति होती है।[1] उपनिषदों में कहा गया है कि जिसे भगवान् वरण करते हैं, उसको भगवान् प्राप्त होते हैं।

आचार्य रामानुज के अनुसार प्रियतम ही करणीय होता है और जिसे भगवान् में निरवधिक अतिशय प्रीति होती है, वही भगवान् का प्रियतम होता है।[2] अत: प्रपन्न जीव को विघ्न-बाधाओं को लात मार कर भगवान् के शरणापन्न होने का व्रत ले लेना चाहिये।

विशिष्टाद्वैत में प्रपत्ति के छ: अंगों का वर्णन किया गया है[3] --

----

1. यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते, तनूं स्वाम्।

-- कठोपनिषद्, 1.2.22

2. 'वरणीयश्च प्रियतम:, यस्य भगवति अनवधिकातिशयो प्रीति: जायते स एव भगवत: प्रियतम:।'

वेदार्थ संग्रह, पृ0 191.

3. 'आनुकूल्यस्य संकल्प: प्रतिकूल्यस्य वर्णनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो, गोप्तृत्वं वरण तथा आत्म निक्षेप, कार्पण्येति षड्विधा शरणागति:।'

-- अहिर्बुध्न्यसंहिता, 37.27.28

1. आनुकूल्यस्य संकल्प -- तन, मन, धन से केवल उन्हीं कर्मों का संकल्प एवं निष्पादन करना जो भगवदानुकूल हो ।

2. प्रतिकूलस्य वर्णनम् -- ऐसा कोई काम न करना जो भगवत् प्रतिकूल हो या शास्त्र प्रतिषिद्ध हो ।

3. रक्षा करेंगे यह विश्वास -- भगवान् मेरी हर समय हर सम्भव विपत्ति से रक्षा करेंगे ऐसा दृढ़ विश्वास रखना, भगवद् रक्षा के विषय में कभी संशय न करना ।

4. गोप्तृत्ववरण -- रक्षक के रूप में श्रीभगवान् का ही वरण करना, किसी अन्य देव या मनुष्य से रक्षा की कामना न करके, श्री भगवान् को ही रक्षा के लिए पुकारना ।[1]

5. आत्म निक्षेप --अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर देना ।

6. कार्पण्य -- अपने को दीन-हीन, अकिंचन समझना अर्थात् अपनी विद्वता, धन, पौरुष आदि का अभिमान न करना । सहनशील एवं विनम्र रहना ।

वेदान्त कारिकावलीकार वुच्चि वेंकटाचार्य ने प्रपत्ति के पांच ही भागों को स्वीकार किया है ।[2]

----

1. अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महा: विश्वासपूर्वकम् ।
तद् एकोपायता या चा प्रपत्ति: शरणागति: ।।
— अष्टांग रहस्यार्थ, विश्वरण, पृ० 3

2. न्यासविधाप्रपत्ति: स्यादङ्गप कयोगिनी ।
आनुकूल्यस्य संकल्प: प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।।

(क्रमश:...)

प्रपत्ति को भी दो भागों में विभक्त किया गया है -- आर्ता,
2. दृप्ता ।

1. आर्ता प्रपत्ति एवं आर्त प्रपन्न :

आर्ता प्रपत्ति की उपासना करने वाला आर्त प्रपन्न अपने शरीर से शीघ्रातिशीघ्र अपने शरीर से छुटकारा पाकर भगवद् सन्निधि में पहुंचना चाहता है । वह भगवद्-विरह एक क्षण के लिए भी सहन नहीं कर सकता ।

2. दृप्ता प्रपत्ति एवं दृप्त प्रपन्न :

दृप्ता प्रपत्ति की आराधना करने वाला दृप्त प्रपन्न अपने शरीर से दु:खी नहीं होता । वह मृत्यु पर्यन्त भगवद्दर्शन की प्रतीक्षा करता है ।[1]

0

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये अङ्गपञ्चकमीरितम् ।।
--वेदान्त कारिकावली, का० सं०, 16-17, पृ० 82

1. 'सेयं प्रपत्तिरार्ता दृप्ता चेति द्विविधा । तत्रार्ता प्रपत्ति हे स्वामिन् त्वत्कैंकर्य विरोधि हेयमिदं शरीरं शीघ्रमेव जाहीति या प्रार्थना दृप्ता प्रपत्तिस्तु यावद्देहमवस्थानम् ।
-- अर्थपञ्चक, पृ० 49-51

षष्ठ अध्याय

विशिष्टाद्वैत सम्मत - न्यायसिद्धाञ्जन-यतीन्द्रमत-दीपिका - वेदान्तकारिकावली के परिप्रेक्ष्य में अजड़ के अन्तर्गत जीव का विचार

जीव लक्षण

जीवतत्त्व के अध्ययन का प्रयोजन : दार्शनिक दृष्टि से 'जीव' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है, क्योंकि यह पाञ्चभौतिक जड़ पार्थिव शरीर को जीवित रखता है । जीव के बिना इस मृण्मय निर्जीव शरीर को अग्नि में समर्पित कर दिया जाता है । जीवतत्त्व का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि जब तक मनुष्य अपने स्वरूप को नहीं पहचानेगा तब तक वह माया मोह में लिपटा रहेगा । जब उसे ज्ञान हो जायेगा कि यह भौतिक शरीर नाशवान है, तब वह सांसारिक भोगों में लिप्त नहीं होगा ।[1]

भारतीय दर्शन में जीव तत्त्व : भारतीय दर्शन के आस्तिक एवं नास्तिक सभी सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में 'आत्मा' के अस्तित्व को स्वीकार किया है । चार्वाक ने देह को ही आत्मा माना है ।[2] परन्तु वेदान्तादि

----

1. शरीरादितो न्यान् स्वयंभासमानान् अण्वून् कर्तृ भोक्तृन् । असंख्याश्च जीवान् चतुर्भेदेतां तत्र भक्ति विमुक्तिश्च, मानैर्यथावज्जगाद् ।

-- व0 का0 - 2.75

2. पृथ्वी अप् तेज वायु इति तत्वानि तेभ्यंश चैतन्यं किण्वादिभ्योभद्रशक्तिवत् ।

-- बृहस्पतिसूत्र, 2-3.

अन्य दर्शनों ने इसे अप्रमाणित एवं निरर्थक माना है। विज्ञानवादी बौद्धों ने विधान को ही आत्मा माना है, और पांच स्कन्दों को स्वीकार किया है।[1] किन्तु उनका सिद्धान्त `मैं` के रूप में अनुभूति के विषय, आत्मा के स्मरण, पहचान, तर्क, अनुभूति एवं सौन्दर्यानुभूति आदि भावों की व्याख्या करने में असमर्थ है।

निर्विशेष अद्वैतवाद का आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त जीव की वास्तविक सत्ता स्वीकार न करके उसे `ब्रह्म` का आभास मानता है। जीव माया कल्पित है। वह वस्तुतः ब्रह्म है पर माया के कारण जीव प्रतीत होता है।[2]

आचार्य वेदान्त देशिक के अनुसार यह सिद्धान्त ठीक नहीं क्योंकि परमात्मा को भ्रम नहीं हो सकता और न भ्रम के द्वारा वह अनेक जीवात्माओं के रूप में प्रतीत हो सकता है। यदि ऐसा हो तो एक आत्मा की मुक्ति से समूचे विश्व प्रपंच की मुक्ति हो जाये परन्तु सिद्धान्त में ऐसा नहीं होता।

न्याय वैशेषिक ने सुख दुःखादि के आश्रय के रूप में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है।[3] परन्तु यह सिद्धान्त भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि

----

1. दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पंचप्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ।।
-- सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 88

2. `जीवो ब्रह्मैव नापरः।` -- ब्रह्मज्ञानवल्ली माला, 1.

3. (क) `सुखाद्याश्रयत्वं जीव लक्षणम्।`
-- तर्कदीपिका, पृ० 13.

(ख) `प्रत्यकत्वचेतनत्व आत्मत्व कर्तृत्वादी नीश्वरजीवसाधारणानि लक्षणानि।`
-- यतीन्द्रमत दीपिका, पृ० 67

आत्मा स्वत: सिद्ध है । `यह मैं हूं, `यह मेरा है` इस रूप में सबको आत्मा का अनुभव होता है । अपने अस्तित्व के विषय में किसी को संशय नहीं । आत्मा दिखाई नहीं देता क्योंकि वह अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्ष का विषय न होकर अनुभूति का विषय है ।

व्युत्पत्ति परक ज्ञान के अनुसार व्यापक सत्ता को आत्मा कहते हैं ।[1] वैदिक संहिताओं में आत्मा को मनुष्य की जीवन शक्ति या अन्त:स्थित तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है ।[2] ग्रासमन ने आत्मा को अव् (`वा`) वहना धातु से निष्पन्न माना है ।[3] कीथ भी ग्रासमन की अर्थ निष्पत्ति से सहमत हैं, क्योंकि ऋग्वेद में आत्मा शब्द का अर्थ वायु था । वायु से `श्वास` अर्थ ग्रहण हुआ `श्वास` से आत्मा अर्थ का अधिग्रहण होने लगा । आरम्भ में `आत्मा` शब्द जीव के अन्तर्यामी तत्व तथा परत्व दोनों के लिए प्रयुक्त होता था । परन्तु कालान्तर में व्यक्ति के `स्व` का मूल तत्व `जीव` या `जीवात्मा` और विश्व में व्याप्त तत्व `परमात्मा` नाम से अभिहित किया गया ।[4] ऋग्वेद में मनोन्द्रिय युक्त शरीर में स्थित आत्मा को `पतंग` कहकर पुकारा गया है ।[5] भगवद्गीता में `जीवात्मा` के

----

1. `आप्नोतीत्यात्मा, आत्मैवेदं सर्वम् ।`

-- छान्दोग्य उपनिषद्, 7.25.2

2. `आत्मा च तनुश्च मे ।`

-- वाजसनेयी संहिता, 18.3,
तैत्तरीय संहिता, 4.7.12.

3. `एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन्स एण्ड ऐथिक्स`, खण्ड 2, पृ० 195

4. कीथ, ए० बी० : रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ वेदास एण्ड उपनिषद्, 1, पृ० 126.

5. `पतंगो वांच मनसा बिभर्ति ।`

-- ऋग्वेद, 10.177.2

लिए 'क्षेत्रज्ञ एवं देही' शब्दों का प्रयोग किया गया ।[1] आचार्य वेदान्त देशिक ने जीवात्मा के लिए मुख्यतः 'जीव' शब्द का प्रयोग किया है । जीव वह है जो अल्प परिमाण वाला हो और ज्ञाता हो ।[2]

विशिष्टाद्वैत ने 'जीव' को दो प्रकार के लक्षणों से लक्षित किया है -- 1. सामान्य लक्षण, 2. विशेष लक्षण । सामान्य लक्षणों में प्रत्यक्त्व, चेतनत्व, आत्मत्व एवं कर्तृत्व हैं ।[3] विशेष लक्षणों में आधेयत्व, विधेयत्व एवं शेषत्व का निरूपण है ।

सामान्य लक्षण

प्रत्यक्त्व : प्रत्यक्त्व का अर्थ है आत्मा स्वयं ही अपने लिए प्रकाशित होता है ।[4]

----

1. 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत ।'
-- भगवद्गीता, 15.2.

2. (अ) 'भिन्ना जीवा स्वतः स्युः प्रतिनियतयाधीस्मृतीच्छासुखादे ।'
-- तत्वमुक्ताकलाप, 2.10.

(आ) 'अथ जीवः । अल्पपरिमाणत्वे सति ज्ञातृत्वम् ।'
-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ० 229.

3. 'प्रत्यक्त्वचेतनत्वात्मत्वकर्तृत्वादीनि ईशपरजीवसाधारणलक्षणानि ।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 159.

4. 'प्रत्यक्त्वं नाम स्वस्मै स्वयमेव भासमानत्वम् ।'
-- वही, पृ० 159.

चेतनत्व -- चेतनत्व का अर्थ है आत्मा ज्ञान का आश्रय है ।[1]

आत्मत्व -- आत्मत्व से जीव के शरीर से सम्बन्धित होने से अभिप्राय है ।[2]

कर्तृत्व -- कर्तृत्व से जीव के संकल्प एवं क्रियाशीलता का संकेत मिलता है ।[3]

विशेष लक्षण

आधेयत्व -- आधेयत्व से जीव के ईश्वर आश्रित होने का बोध होता है ।[4]

विधेयत्व -- विधेयत्व से जीव के ईश्वर द्वारा नियमित एवं नियन्त्रित होने का संकेत मिलता है ।[5]

----

1. 'चेतनत्वं नाम ज्ञानाश्रयत्वम् ।'

-- य० म० दी०, पृ० 159.

2. 'आत्मत्वं शरीर प्रति सम्बन्धित्वम् ।'

-- वही, पृ० 159.

3. 'कर्तृत्वं सङ्कल्प ज्ञानाश्रयत्वम् ।'

-- वही, पृ० 159.

4. 'आधेयत्वमाश्रितत्वम् । विधेयत्वं नियाम्यत्वम् । शेषत्वं यथेष्ट विनियोगार्हत्वम् ।'

-- तत्वत्रय, 23.

5. 'नियाम्यत्वं नामेश्वरबुद्ध्यधीनसकलव्यापारत्वम् ।'

-- वही, 21.

शेषत्व -- शेषत्व का अर्थ है ईश्वर द्वारा उपयोग में आने के योग्य होना । लोकाचार्य के अनुसार शेषत्व का अर्थ है किसी भी प्रकार का अपना स्वार्थ न रखना ।[1] जिस प्रकार चन्दन, पुष्प, पान आदि पदार्थ दूसरे के उपयोग में आते हैं, किन्तु उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता ।

तत्वत्रयकार के अनुसार जीव अजड़, आनन्द स्वरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय एवं ईश्वर द्वारा नियम्य, धार्य एवं शेष है ।[2] जीव के इन लक्षणों से स्पष्ट है कि विशिष्टाद्वैत ने जीव को वास्तविक सत्ता प्रदान की है और उसके बंध एवं मोक्ष को, नैतिकता एवं धर्माचरण को स्वीकार किया है जिसकी भारतीय आलोचकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है ।

प्राय: सभी भारतीय दर्शनों ने आत्मा को जन्म, मरण से रहित स्वीकार किया है । यह अज, नित्य शाश्वत एवं पुरातन है, शरीर के नाश हो जाने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता ।[3] जीव अनादिकाल से ईश्वर से सम्बद्ध है, वह ईश्वर का सनातन अंश है ।[4] जीव ईश्वर से भिन्न है

----

1. 'शेषत्वं नाम चन्दनकुसुमाताम्बूलादिवत् तस्येष्ट विनियोगार्हत्वम् ।'

-- तत्वत्रय, 23.

2. 'देहेन्द्रियमन: प्राण बुद्धिभ्यो विलक्षणमजड़मानन्दरूपं नित्यमण्वव्यक्तमचिन्त्यं निरवयवं निर्विकारं ज्ञानाश्रयं ईश्वरस्य नियाम्यं धार्यम् शेषम् ।'

-- वही, 23.

3. 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय: ।
अजो नित्य: शाश्वतो यं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।'

-- श्रीमद्भगवद्गीता, 2.20

4. 'ममैवांशो जीव लोके जीव भूत: सनातन: ।' -- वही, 15.7

क्योंकि ईश्वर एक है, जीव अनेक । ईश्वर सर्वस्वतन्त्र है, जबकि जीव कर्म-परतंत्र है ।[1] जीव प्रकृति से भी भिन्न है, क्योंकि प्रकृति जड़ है, जीव चेतन । प्रकृति ईश्वर के सर्वथा अधीन है उसकी प्रत्येक चेष्टा ईश्वर द्वारा संचालित है, वह स्वयं कुछ नहीं कर सकती । परन्तु जीव बुद्धियुक्त है । वह अच्छे बुरे कर्म करने में स्वतन्त्र है, किन्तु उनका फल भोगने में परतंत्र है ।

आत्मा के अस्तित्व को सभी दार्शनिकों ने एक मत से स्वीकार किया है । लेकिन उसके स्वरूप कोसम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं । न्याय के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न, नित्य एवं विभु है ।[2]

अद्वैत ने जीव को विभु एक एवं निर्विशेष माना है ।[3] विशिष्टाद्वैत के मतानुसार जीव अणु, अनेक, कर्त्ता, भोक्ता एवं ज्ञाता है ।[4] आचार्य वेदान्त देशिक के अनुसार जीव स्वयं प्रकाश, ज्ञान स्वरूप अजड़ तत्व है ।[5]

----

1. 'जीवअनेकएकश्रीकन्ता । परबसजीव स्ववस भगवन्ता ।।
   --श्रीरामचरितमानस, 7.77.3.

2. 'जीवात्माप्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च ।'
   -- तर्कसंग्रह, पृ0 17.

3. 'मायामात्रं इदं द्वैतमद्वैतं परमार्थत: ।'
   -- आगमप्रकरण, पृ0 17.

4. 'बोद्धा कर्ता च भोक्ता दृढमवगमित: प्रत्यर्थ: प्रमाणै: ।'
   -- तत्वमुक्ताकलाप, 2.8.

5. 'स्वस्मै भासमानम् प्रत्यक् ।'
   -- सर्वार्थसिद्धि, 1.6

तत्वमुक्ताकलाप के जीवसर में आचार्य वेदान्त देशिक ने जीव का दो प्रकार से विश्लेषण किया है --

1. निषेधात्मक, 2. साकारात्मक ।

निषेधात्मक के अन्तर्गत उन्होंने जीव को शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण एवं बुद्धि से पृथकता सिद्ध की है । साकारात्मक के अनुशीलन में जीव के नित्यत्व, अणुत्व, स्वयं प्रकाशत्व, कर्तृत्व, भोग तृत्व एवं कर्म स्वातन्त्र्य को सिद्ध किया है ।

वेदान्तदेशिक ने यामुनाचार्य जी का अनुसरण करते हुये जीव की शरीर, इन्द्रिय, मन एवं प्राणों से अन्यता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है ।[1] इसके लिए उन्हें सर्वप्रथम चार्वाक से संघर्ष करना पड़ा । क्योंकि चार्वाक शरीर को ही आत्मा माना है । चार्वाक ने अपने मत के समर्थन में तर्क प्रस्तुत किया है कि जैसे किण्व आदि मादक द्रव्यों में मादकता अपने आप उत्पन्न हो जाती है वैसे ही शरीर में स्वयमेव चैतन्य की उत्पत्ति होती है ।[2] इसका खण्डन करते हुए आचार्य वेदान्त देशिक ने कहा है कि मादक पदार्थों में मादकता का गुण पहले से विद्यमान रहता है । जबकि जड़ शरीर में चैतन्य सर्वदा अविद्यमान रहता है । अतः मादक द्रव्यों का दृष्टान्त सर्वथा अनुपयुक्त है ।

----

1. `देहेन्द्रियमनः प्राणधीभ्योऽन्योऽनन्यसाधनः ।`

-- आत्मसिद्धि, पृ० 1.

2. `किण्वादीनां संसर्गविशेषे मद शक्तिः ।`

-- सर्वार्थसिद्धि, 2.1

वेदान्त देशिक ने आत्मा को देह से भिन्न माना है अर्थात् ये मेरे हाथ, ये मेरे पैर ऐसा जो अनुभव होता है वह शरीर से भिन्न आत्मा है ।[1]

लोकाचार्य ने भी 'यह मेरा शरीर' और 'यह शरीर' इन प्रत्ययों से आत्मा की सिद्धि की है ।[2]

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने देह, इन्द्रिय, मन एवं प्राण से विलक्षण आत्मा के अस्तित्व के विषय में 'यह मेरा शरीर' इस अनुभव को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है ।[3]

इस प्रकार आत्मा शरीर से पृथक् है क्योंकि शरीर क्षेत्र है ।[4] आत्मा क्षेत्रज्ञ, स्मृतियों के अनुसार[5] भी सिर शिर, हाथ, पांव आदि युक्त शरीर से पुरुष अतिरिक्त है ।

----

1. 'यो मे हस्तादिवर्ष्मैव्ययमनिवहात् भातिभिन्नः स एकः ।'

-- तत्वमुक्ताकलाप, 2.1

2. 'आत्मस्वरूपं कथं देहादिविलक्षणमितिचेद् ? देहादिनां मम-देहादिकमित्यात्मन पृथगुपलभ्यमानात्वात्, इदमित्युपलभ्यमानात्वात् ।'

-- तत्वत्रय, पृ0 6.

3. 'स च देहेन्द्रिय मनः प्राणधीभ्यो विलक्षणः । यथा मम शरीरमिति प्रतीत्या देहाद्व्यावृत्तः ।'

--यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 161

4. 'बहूनां हि चेतनानां कार्यवशात् संहतानामपि परस्परमीर्ष्यासूयादयो दृश्यन्ते ।'

-- सर्वार्थसिद्धि, 2.1

5. (क) 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्र मित्यभिधीयते ।'

-- भगवत्गीता, 15.1

(ख) 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।'

-- भ0 गी0, - 15.2

अत: जो अल्प परिमाण वाला, अणु, चैतन्य तथा ज्ञाता हो, वह जीव है ।[1]

आत्म विषयक विभिन्न मतवाद परीक्षण

आत्मा तो अपरिच्छिन्न, नित्य, प्रकाश स्वरूप चैतन्य स्वरूप अखण्ड और परिपूर्ण है । परन्तु अज्ञान परिच्छिन्न , अनित्य, तमोरूप जड़ और अव्यापक है । ऐसे अज्ञान की शक्ति विशेष से आत्मा का आवरण कैसे सम्भव हो सकता है ?

वस्तुत: अज्ञान आत्मा का आवरण नहीं कर सकता । वह केवल प्रमाता की बुद्धि को ढकता है, परन्तु लगता यह है, मानों उसने आत्मा को ही ढक लिया हो । अत: अज्ञान को आत्मा का अच्छादक उपचार से कहा जाता है ।[2]

आत्मा के विषय में भिन्न-भिन्न विचारकों के भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार हैं । अतएव आत्मा के विषय में अनेक प्रकार के वाद हैं । जैसे-- देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनआत्मवाद, प्राणात्मवाद, ज्ञानात्मवाद, -- इन सभी वादों का खण्डन एवं खण्डन इस प्रकार से किया जा रहा है कि --

----

1. (अ) `अणुत्वे सति चैतन्यं जीव लक्षण मुच्यते ।`
-- वेदान्त कारिकावली, पृ0 86.

(ब) `अथ जीव: । अल्पपरिमाणत्वे सतिज्ञातृत्वम् ।`
-- न्यायसिद्धान्जनम्, पृ0 229.

2. मायाबिम्बोवशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वर: ।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।।
-- पञ्चदशी, 1.26.17

1. देहात्मवाद -- सभी वादियों को यह अर्थ मान्य है कि प्रत्येक शरीर में जो पदार्थ `मैं` - `मैं` - इस रूप से अनुभूत होता है, वही आत्मा है । प्रश्न उठता है वह आत्मा कौन सा पदार्थ है ? चार्वाकों के मत में देह ही आत्मा है । इसके प्रमाण को ये प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध करते हैं । यह निश्चित है कि आत्मा ज्ञाता है -- `मैं जानता हूँ` आदि अनुभूतियों से पता चलता है कि जो पदार्थ `मैं - मैं` - उस शब्द से कहा जाता है, वही आत्मा है । ज्ञान उसका धर्म है । `मैं` शब्द से शरीर का ही अभिमान होता है, क्योंकि वह यह मैं मोटा हूँ, पतला हूँ यह जो अनुभव है वही मैं शब्द से व्यक्त किया जाता है । दुबला मोटा शरीर ही होता है अतएव शरीर ही आत्मा है ।[1] चार्वाक अपने मत में स्मरण की उपपत्ति लगाते हुये कहता है -- पूर्व शरीर में उत्पन्न हुये संस्कार अग्रिम शरीरों में संस्कारों को उत्पन्न करेंगे, जिससे स्मरणानुपपत्ति दोष नहीं बनेगा । क्योंकि पूर्वानुभवजन्य संस्कार, `स्वजन्य संस्कार - प्रयोज्य संस्कारवत्त्व` सम्बन्ध से उत्तरोत्तर शरीरों में होते रहते हैं । अर्थात् `स्व` इस शब्द से पूर्व शरीरस्थ अनुभव लिया जाता है । अत: सभी अवस्थाओं में स्मरण हो सकता है इसलिये शरीर ही आत्मा है ।[2] चार्वाकों की घोषणा है कि - परलोक नाम की कोई वस्तु नहीं है । अतएव सुकृत और दुष्कृत कर्मों का कोई सुख और दु:ख रूप फल भी नहीं, स्वर्ग-नरक की भावना को छोड़कर, सुखमय जीवन व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है । अवश्यम्भावी मृत्यु के

----

1. `अहं स्थूल: कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यत: ।
   देह: स्थौल्यादि योगाच्च स एवात्मा न चापर: ।।`
   -- स0 द0 सं0 1, 63-64.

2. यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचर: ।
   भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ।।
   -- वही - 1, 27, 18

पश्चात् भस्मीभूत शरीर का पुनरागमन नहीं होता । अभिप्राय यह है कि जब तक जीना है सुखपूर्वक जीना चाहिये ।[1] वस्तुत: चार्वाक् दर्शन वस्तुवादी - `जड़वादी` दर्शन है । अत: चार्वाक् दर्शन में मन तथा चेतना का विकास भी जड़ पदार्थ से माना गया है । वह आत्मा ईश्वर इत्यादि को स्वीकार नहीं करता । चार्वाक् दर्शन का तत्व विचार उसके ज्ञान शास्त्र की परिणति है । किसी भी तत्व की सत्यता की कसौटी उसका प्रत्यक्ष है । आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता । अतएव शरीर से अलग किसी अपरिवर्तनीय अमर आत्मा का अस्तित्व नहीं है । चेतना विशिष्ट शरीर को ही आत्मा मान लिया जाता है । परन्तु यह समीचीन नहीं है, क्योंकि श्रुतियों एवं श्रुत्यर्थ आपत्तियों से भी यह स्पष्ट है कि देही (आत्मा) देह से अतिरिक्त है, और वह आनन्द स्वरूप एवं नित्य है । अग्नि अनुष्ठा है, यह कोई भी नहीं कह सकता और न ही इस विषय में अनुमान कर सकता है । अत: चार्वाक् का तप्त अयं पिण्डवत् देह आत्मैक्य का सिद्धान्त भ्रमात्मक एवं श्रुति असम्मत है ।

2. इन्द्रियात्मवाद -- चार्वाक् मतावलम्बियों के अनुसार, इन्द्रियों को ही आत्मा स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि माना कि देह आत्मा नहीं है, किन्तु इन्द्रियों को आत्मा मानने में कोई दोष नहीं है । `यह` `यह` इस रूप से प्रतीत होने वाले शरीर को आत्मा से भिन्न माना जाय, यह उचित ही है । परन्तु अहम् - प्रतीति में शरीर के भासित होते समय उसके उद्भूत रूपादि गुण और अवयवों को भी भासित होता चाहिये । पर ऐसा नहीं होता । फिर भी इन्द्रियों को आत्मा मानने में यह दोष नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रियां उद्भूत रूपादि गुणों से युक्त नहीं हैं, तथा स्थूल भी नहीं हैं । अतएव इन्द्रियों को आत्मा मानने में कोई भी दोष नहीं है । यदि कहा जाय कि इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं, उनका इन्द्रियों

के द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता है । उनही `अहम्` इस रूप से प्रतीति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर है कि चक्षुरादि इन्द्रियों से होने वाले रूपादि पदार्थ के ज्ञान का आधार चक्षुरादि इन्द्रियां ही हैं ।

चक्षु आदि इन्द्रियों के होने से ही रूप का ज्ञान होता है, इसके न होने से इनका ज्ञान नहीं होता है । इस प्रकार जो रूपादि ज्ञान चक्षुरादि से अन्वय व्यतिरेक रखते हैं, वे ज्ञान चक्षुरादि को ही होते हैं, तथा चक्षुरादि में ही रहते हैं । यह मानने में लाघव है । इस तरह रूपादि ज्ञानों का आश्रय चक्षुरादि से भिन्न पदार्थ को मानने में गौरव दोष है । एवं इन्द्रिय-ज्ञानाधार अहमर्थ जब बनते हैं, तब उनको अतीन्द्रिय एवं अप्रत्यक्ष कैसे माना जा सकता है ? इन्द्रिय `मैं` `मैं` इस रूप से प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ हैं । अत: इनको आत्मा मानने में कोई दोष नहीं ।

परन्तु इसका खण्डन करते हुये विशिष्टाद्वैती विद्वान् कहते हैं -- यदि इन्द्रियां ही अहमर्थ आत्मा हैं तो जो इन्द्रिय अनुभव करती है, उसी को स्मरण होना चाहिये, दूसरे को नहीं । लोक व्यवहार में देखा जाता है कि यौवनावस्था में देखने की क्षमता रखने वाले मनुष्य वृद्धावस्था में चक्षु इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी यह स्मरण करते हैं कि जो मैंने पहले देखा था, वही मैं अब स्पर्श करके जानता हूं । इन्द्रियात्मवादी को यहां यह मानना होगा कि एक इन्द्रिय के द्वारा अनुभूत अर्थ का दूसरी इन्द्रिय स्मरण करती है । यह अनुभव इन्द्रिय-आत्मवाद में उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जिसने अनुभव किया है, उसको ही स्मरण होना चाहिये, दूसरे को उसका स्मरण असंभव है । और भी एक ही शरीर में इन्द्रियों का आत्मा मानने में अनेक आत्मायें हो जायेंगी, यदि सम्पूर्ण इन्द्रियों के समूह को मिलाकर भी एक आत्मा मान लें, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि सभी इन्द्रियां एक वस्तु का एक साथ अनुभव नहीं कर सकतीं ।

अत: इन्द्रियों का `आत्मा` मानना सर्वथा अनुपपन्न है ।

3. मन-आत्मवाद -- कुछ चार्वाक् यह मानते हैं कि `मन` को ही आत्मा मानना चाहिये । इस पक्ष में इनका समर्थन यह है कि जैसे शरीर के अवयव समुदायात्मक होने से उसको आत्मा मानने में विकल्प हो सकता है । इसी प्रकार इन्द्रिय आत्मवाद में भी सभी इन्द्रियां आत्मा नहीं बन सकतीं, इस प्रकार इन दोनों में दोष उपस्थित होने से अपना पक्ष हम छोड़ देते हैं । परन्तु मन को आत्मा मानने में ऐसे कोई भी दोष नहीं लग सकते, क्योंकि मन एक है एवं सभी इन्द्रियों का अधिपति है । वह नष्ट भी नहीं होता, सभी इन्द्रियों के अनुभूत विषय का ग्रहण वही करता है । क्योंकि इन्द्रियों का अनुभव मन के द्वारा ही संभव है, इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी मन के द्वारा पूर्व अनुभूत अर्थ का स्मरण करता है । अत: मन को आत्मा मानने में कोई भी दोष नहीं है ।

परन्तु मन को `आत्मा` न मानते हुये विशिष्टाद्वैती विद्वान् खण्डन करते हुये कहते हैं कि - मन का आत्मा मानना इसलिये उचित नहीं कि इस वाद में अनेक दोष हैं, बल्कि `यह मेरा मन` कहता है, इस प्रकार का अनुभव सबको होता है । इस अनुभव से मन एवं अहमर्थ आत्मा दोनों भिन्न हैं । इस प्रकार मन आत्मवाद का विरोध होता है । क्योंकि आत्मा स्मरण आदि क्रियाओं का कर्ता है और मन उनका करण है । कर्ता और करण दोनों भिन्न होते हैं । जिस प्रकार करण होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियां कर्ता आत्मा नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार करण मन भी स्मरण आदि क्रियाओं का कर्ता नहीं हो सकता । जिस प्रमाण के द्वारा मन की सिद्धि होती है, उसी प्रमाण के द्वारा मन के करणत्व की भी सिद्धि होती है । बाह्य एवं आभ्यन्तर सभी प्रकार के विषयों के ज्ञान से मन का साधक तमत्व

रूप करणत्व अपेक्षित होता है । मन से ही वे सब ज्ञान उत्पन्न होते हैं । सबका अनुभव यही है कि सभी बाह्येन्द्रियों के अपने-अपने विषय से सम्बद्ध रहने पर भी सभी इन्द्रियों से उन सभी विषयों का ज्ञान एक साथ नहीं होता है, अपितु वे सभी ज्ञान क्रमश: ही उत्पन्न होते हैं । क्योंकि वह अणु-परिमाणक होने के कारण वह एक काल में एक ही इन्द्रिय से सम्बन्ध रख पाता है । जिस इन्द्रिय से वह सम्बन्ध रखता है, उसी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान होता है । इन्द्रियों का सहायक तथा उनसेसम्बन्ध रखने वाला वह साधन `मन` है । इस प्रकार मन ज्ञान का साधन है कर्ता नहीं । मन के द्वारा ही सुख दु:ख आदि के ज्ञान एवं स्मरण होते हैं । जिस प्रकार छेदनादि क्रियाओं के साधकतम कुठारादि हैं, उसी प्रकार ज्ञान रूप क्रियाओं की भी उत्पत्ति किसी करण से होनी चाहिये, वह ज्ञानोत्पादक करण मन ही है । इस प्रकार स्पष्ट ही है कि मन ज्ञान का करण है आत्मा नहीं । अत: उस ज्ञाता आत्मा को मानना ही होगा उसका अपलाप नहीं किया जा सकता । उस ज्ञाता अहमर्थ को ज्ञान क्रिया को उत्पन्न करने में करण-कारक की अपेक्षा है । करण के रूप में मान को ही मानना उचित है । ज्ञान का आश्रय अहमर्थ आत्मा तथा करण मन, इन दोनों पदार्थों को मानना ही होगा । करण और कर्ता दोनों भिन्न पदार्थ होते हैं ।

अतएव ज्ञान का करण बनने वाला मन ज्ञान का आश्रय `आत्मा` नहीं हो सकता ।

4. <u>प्राणात्मवाद</u> -- कुछ चार्वाक प्राण को आत्मा मानते हैं । प्राण को आत्मासिद्ध करते हुये, प्रमाणों एवं तर्कों के माध्यम से प्राण को आत्मा सिद्ध करने का प्रयास किया है । उनका कथन है कि जिस प्रकार शरीर में जब प्राण रहता है, तब शरीर को सात्मक समझा जाता है, एवं शरीर से प्राण निकल जाने पर उसे निरात्मक समझा जाता है । इस अन्वय व्यतिरेक

के आधार पर सिद्ध होता है कि प्राण आत्मा है । यह सर्वसम्मत अर्थ है कि आत्मा देह इन्द्रियों को तत्तत् कार्यों में प्रवृत्त करता है । देह, इन्द्रिय, मन की प्रवृत्ति प्राण के अधीन देखी जाती है, इससे भी सिद्ध होता है कि प्राण ही आत्मा है । प्राण को आत्मा शब्द से तथा आत्मा को प्राण शब्द से अभिहित किया जाता है । इसलिए भी प्राण एवं आत्मा में अभेद की सिद्धि होती है । वैदिक आत्मा की इस शरीर से उत्क्रान्ति, लोकान्तर में गमन तथा लोकान्तर से आगमन तभी उपपन्न हो सकता है, जब प्राण को आत्मा माना जाय । इन समस्त हेतुओं के द्वारा प्राण को `आत्मा` मानना चाहिये ।

किन्तु विशिष्टाद्वैती दार्शनिक प्राण को आत्मा मानने का खण्डन करते हुये कहते हैं कि प्राण एक वायु विशेष मात्र है । वह प्राण जब नासिका से बाहर निकलता है, तब स्पर्श करने पर स्पष्ट रूप से वायु विशेष प्रतीत होता है । जिस प्रकार बाह्य वायु अचेतन है, उसी प्रकार प्राण भी अचेतन है । नासिका से निकलने वाला वह प्राण स्पर्श किये जाने पर घटादि के समान अचेतन तथा अनात्मा उपलब्ध होता है, उसे आत्मा नहीं माना जा सकता है । सबको यह अनुभव है कि सुषुप्ति काल में आत्मा निर्व्यापार होकर रहता है, उस समय भी प्राण अपना व्यापार करता रहता है । प्राण व्यापार के प्रभाव से ही सुप्त पुरुष का अन्न सप्तधातु रूप में परिणत होता है, तथा श्वास एवं प्रश्वास चलते रहते हैं । सव्यापार प्राण और निर्व्यापार आत्मा एक पदार्थ नहीं बन सकते । अर्थात् सुषुप्ति काल में प्राण जागृत होकर जब इतना कार्य करता है, तब उसको बोध क्यों नहीं होता है ? जागृत होकर इतना कार्य करे और उसको बोध बिल्कुल न हो, यह महान् आश्चर्य है । इससे पता चलता है कि श्वास-प्रश्वास आदि कार्यों को करने वाला प्राण आत्मा से भिन्न है । आत्मा और प्राण दोनों

को एक नहीं माना जा सकता । यह सबको अनुभव होता है कि 'ये मेरे प्राण हैं ।' इस अनुभव से आत्मा अहमर्थ से प्राण भिन्न सिद्ध होता है । जिस प्रकार शरीर संघात स्वरूप उसी प्रकार प्राण भी संघात रूप है, क्योंकि वह प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनंजय - इन दस प्रकारों का होता है । इस प्रकार क्या इन दश प्राणों को आत्मा माना जाय, अथवा दश प्राणों का एक आत्मा । अत: प्राण आत्मा नहीं है ।

5. <u>ज्ञानात्मवाद</u> : बौद्ध तथा अद्वैती विद्वान् लोक प्रसिद्ध ज्ञान को ही आत्मा मानते हैं । बौद्ध दार्शनिक विद्वानों का मानना है कि ज्ञान संतान ही आत्मा है । ज्ञान प्रतिक्षण उत्पन्न एवं नष्ट होते रहते हैं । एक ज्ञान के बाद दूसरा ज्ञान पुन: तीसरा ज्ञान इस प्रकार ज्ञान की धारा बनी रहती है। वह धारा ही संतान है । वह ज्ञान संतान ही आत्मा है । क्योंकि ज्ञान अजड़ है, इसलिए ज्ञान को आत्मा मानना चाहिये । लोक में देखा जाता है कि जितने घट, पट आदि अनात्मा पदार्थ हैं, वे सब जड़ हैं, पर ज्ञान अजड़ है । अत: यह आत्मा है । ज्ञान अजड़ है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश पदार्थ है । ज्ञान रहते समय में सदा प्रकाशक निरपेक्ष होकर प्रकाशित होता रहता है । अत: सिद्ध है कि ज्ञान में प्रकाश स्वरूप प्रयुक्त है, वह ज्ञानान्तर के सम्बन्ध के कारण उत्पन्न नहीं होता है । स्वरूप प्रयुक्त प्रकाश के कारण ज्ञान स्वयं प्रकाश सिद्ध होता है । इस स्वयं प्रकाश ज्ञान को आत्मा मानना चाहिये, क्योंकि वह अजड़ है । इस ज्ञान से व्यतिरिक्त दूसरे पदार्थ ज्ञाता को आत्मा मानने का गौरव-दोष है । क्योंकि ज्ञाता को आत्मा मानने वालों को भी ज्ञान को मानना होगा । अत: ज्ञान ही आत्मा है ।

अद्वैत सम्मत मत है -- विषय-प्रकाशक ज्ञान स्वपर निर्वाहक न्याय से

स्वयं प्रकाशित है । यह अनित्य नहीं अपितु नित्य है । नित्य होने के कारण ही वह निर्विकार, एक और निर्धर्मक है । इस प्रकार एक भेद-रहित, निर्धर्मक, निर्विकार, कूटस्थ तथा नित्य प्रकाशक स्वरूप जो ज्ञान है, वही आत्मा एवं परमात्मा है । आत्मा और परमात्मा उससे भिन्न नहीं हैं । यह ज्ञान ही वेदान्त-वाक्यों के तात्पर्य का विषय है । इसे ही बतलाने के लिये वेदान्त वाक्य-प्रवृत्त होते हैं । यहां पर अद्वैती विद्वानों के ये कथन ध्यान देने योग्य हैं । अर्थात् जो ज्ञान अनुभूति होने से ही स्वयं प्रकाश है, स्वयं प्रकाश होने से ही वह अजा अर्थात् नित्य है, अमेय यानी ज्ञान का अविषय है, वह अनुभूति अनन्त है, आत्मा तथा आनन्द स्वरूप है । इस प्रकार की अनुभूति ही महतत्त्व आदि इस जगत् रूपी मायाचित्र की भित्ति है । जिस प्रकार भित्ति में चित्र लिखा जाता है, उसी प्रकार अनुभूति में ही सम्पूर्ण जगत् अध्यारोपित है । अत: ज्ञान ही आत्मा है ।[1]

परन्तु बौद्धों के मत में ज्ञान ही आत्मा है इसका खण्डन करते हुये विशिष्टाद्वैती विद्वान् कहते हैं कि यह जो बौद्धों का कथन है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की नियम से प्रतीति होती है अत: इनमें अभेद मानना चाहिये । यह कहना बौद्धों का ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञेयता में भिन्नता है एवं ज्ञान भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील उत्पन्न होता है । इसमें किसी भी ज्ञान की ज्ञाता और ज्ञेय के साथ नियमत: प्रतीति नहीं होती है । ज्ञान कभी इस ज्ञान के साथ कभी दूसरी ज्ञान के साथ प्रतीत होता है । एक ज्ञान के साथ ही ज्ञाता और ज्ञेय प्रतीत होते हों, ऐसी कोई बात ही नहीं है । ज्ञान

----

1. याऽनुभूतिरजा मेया नन्तात्मा नन्दविग्रहा ।
महदादि जगन्माया चित्रभित्तिं नमामि ताम् ।।
-- इष्टसिद्धि

सामान्य के साथ ज्ञाता और ज्ञेय सदा भासित होते हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बौद्धों के मत में व्यक्तियों से व्यतिरिक्त सामान्य रूपी जाति मानी ही नहीं जाती है । उनके द्वारा स्वीकृत अपोह तत्तद् व्यक्ति रूप ही है । जबकि साहित्य सदा दो वस्तुओं में होता है, ज्ञाता और ज्ञेय भी ज्ञान के साथ प्रतीति होती है, इस प्रकार साहित्य के वर्णन से उनमें भेद ही सिद्ध होता है । इस तरह अबाधित प्रतीति सिद्ध ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद का अपलाप नहीं किया जा सकता, ज्ञानअहमर्थ के लिए प्रकाशित होता है, क्योंकि ज्ञान से होने वाला व्यवहार रूपी फल अहमर्थ को ही प्राप्त होता है । अतएव ज्ञान परार्थ होता है । उस परार्थ ज्ञान को आत्मा मानना उचित नहीं । बौद्ध `मैं` `मैं` इस रूप से प्रतीत होने वाले ज्ञान को ही आत्मा मानते हैं, फिर भी वे अहमर्थ में ज्ञानाश्रयता को अवास्तविक मानते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है, उन्हें ज्ञान, ज्ञाता एवं ज्ञेय तीनों को समान रूप से सत्य मानना चाहिये । अहमर्थ में ज्ञानाश्रयत्व उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार ज्ञान सत्य है । अत: ज्ञाता-अहमर्थ ही आत्मा है ।

अद्वैत सम्मत ज्ञानात्मवाद का खण्डन करते हुये विशिष्टाद्वैती विद्वान् कहते हैं कि बौद्धों के ज्ञानात्मवाद एवं अद्वैतियों के ज्ञानात्मवाद में विशेष अन्तर यह है कि बौद्ध `क्षणिक ज्ञान` को आत्मा मानते हैं, और अद्वैती `स्थिर ज्ञान` को आत्मा मानते हैं । इस प्रकार जो दोष बौद्ध सम्मत ज्ञानात्मवाद में आते हैं, वे सभी दोष अद्वैतिसम्मत ज्ञानात्मवाद में भी आते हैं । इसके अतिरिक्त अद्वैती विद्वानों के ज्ञानात्मवाद में यह दोष है कि वह ज्ञान को निर्धर्मक मानते हैं । किन्तु कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं होता, जो विषय और आश्रय से रहित हो । अतएव अद्वैति-सम्मत निर्धर्मक-ज्ञान अप्रामाणिक

है । फलत: वह अहम् प्रतीति रूप आत्मा नहीं हो सकता । आत्मा ज्ञाता है, ज्ञान मात्र नहीं, इस बाद को स्पष्ट करते हुये महर्षि बादरायण अपने एक सूत्र के माध्यम से बताया कि - इस सूत्र में तीन पद हैं -- ज्ञ:, अत:, एव । यहां पर `एव` पद का `ज्ञ:` एवं `अत:` इन दो पदों से सम्बन्ध होता है । `ज्ञ:` के साथ एवकार अन्ययोग व्यावर्तक रूप से अन्वित होता है तथा एव के साथ वह अयोग व्यावर्तक रूप से अन्वित होता है ।[1] सूत्र का `अत:` पद पूर्ववर्ती सूत्र के `श्रुते:` पद का परामर्शक है । इस प्रकार सूत्र का अर्थ है -- कि आत्मा ज्ञानवान् ही है । ज्ञान मात्र नहीं, यह `ज्ञ` `एव` का अर्थ हुआ ।[2] `अतएव` का अर्थ है कि आत्मा के ज्ञातृत्व की सिद्धि श्रुतियां करती हैं । क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय में जहां मुक्त जीवों तथा अमुक्त जीवों के स्वरूप का वर्णन किया गया है, वहां पर यह कहा है कि - जो यह जानता है कि मैं सूंघता हूं वही आत्मा है ।[3] `अतएव` का आयोग - व्यावर्तक एवकार बतलाता है कि युक्ति के द्वारा भी आत्मा के ज्ञातृत्व धर्म की सिद्धि होती है । आत्मा को ज्ञातृत्व धर्मावच्छिन्न सिद्ध करते हुये इस सूत्र के `ज्ञ:` पद के शांकर भाष्य में भी कहा गया है कि - अतएव आत्मा नित्य - चैतन्य रूपी गुण वाला है ।[4] यह `नित्यचैतन्य` इस पुलिंग पद का विग्रह है ।

----

1. `ज्ञोऽत एव` -- ब्रह्मसूत्र - 2.3.19
2. `ज्ञोऽत एव` -- वही - 2.3.19
3. `अथ यो वेददं जिघ्राणीति स आत्मा ।`

   -- छान्दोग्य उपनिषद्, - 8.12.6
4. `ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्मा एव ।`

   -- ब्रह्मसूत्र - शांकरभाष्य

इस प्रकार अद्वैति-सम्मत ज्ञानमात्र जब आत्मा नहीं हो सकता, तो फिर उसके निर्विकारत्व आदि की परीक्षा प्रकृत में अनावश्यक है । अत: ज्ञान `आत्मा` नहीं है ।

जीवात्म विषयक विभिन्न अवधारणायें विशिष्टाद्वैत के आलोक में

जीवात्म स्वयंप्रकाशत्व --

आत्मा स्वयं प्रकाशवान् है । क्योंकि उसे प्रकाशित होने के लिये किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं । आत्मा नित्य है, अत: वह प्रत्येक अवस्था में प्रकाशित होती है । सुषुप्तावस्था में जब ज्ञान के इन्द्रिय एवं मन आदि साधनों का अभाव होता है, तब भी आत्मा सुख का अनुभव करता है, और जागने पर कहता है मैं सुख पूर्वक सोया । आत्मा स्वयं ज्योति स्वरूप है । यदि आत्मा का प्रकाश धर्मभूत ज्ञान के आधीन होता तो सुषुप्ति में इन्द्रियों के उपराम होने पर ज्ञान के प्रसार के अभाव में आत्मा का प्रकाशन होता । `बृहदारण्यक उपनिषद्` के छठे अध्याय में जनक ने प्रश्न किया कि यह पुरुष ज्योतिर्मय है, तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि जागृत में आदित्य आदि की ज्योति है, किन्तु सुषुप्ति में वह ज्योति आत्मा की होती है ।

वेदान्त देशिक ने आत्मा को प्रत्यक् अजड़ द्रव्य माना है । प्रत्यक्त्व के विषय में यह विचार ध्यान देने योग्य है कि अपने लिए स्वयं प्रकाशने वाले आत्मा में प्रत्यक्त्व माना जाता है । प्रश्न उठता है कि क्या यह प्रत्यक्त्व आत्म स्वरूप है, अथवा आत्मा में विद्यमान कोई धर्म है । इस तरह यह दोनों प्रश्न दोष युक्त हैं । क्योंकि यदि प्रत्यक्त्व और आत्मा एक पदार्थ होता तो प्रत्यक्त्व एवं आत्मा में विशेष्य विशेषण भाव और

धर्मधर्मिभाव नहीं हो सकेगा । यदि अभेद में भी विशेषण विशेष्य भाव माने जायें तो इन दो ब्रह्मसूत्रों से विरोध होगा[1]। प्रथम सूत्र में आदित्य देव एवं आदित्य में विराजमान परमात्मा में भेद को मानकर आदित्य अन्तर्यामी को आदित्य देव से भिन्नसिद्ध कर दिया गया है । इस सूत्र में वर्णित आदित्य एवं अन्तर्यामी का आश्रयाश्रयिभाव उनमें भेद होने पर ही संगत होगा । तथा दूसरे सूत्र में यह कहा गया है कि जो अन्तर्यामी परमात्मा जीवात्मा में विराजमान् है, तो यह जीवात्मा और परमात्मा में आश्रयाश्रयि भाव सम्बन्ध को लेकर भेद बतलाया गया है । इस प्रकार काण्व शाखा तथा माध्यंदिन शाखा वाले जीवात्मा एवं परमात्मा में भेद को सिद्ध करने वाले ये दोनों सूत्र तभी सार्थक होंगे, यदि अभेद स्थल में विशेष विशेष्य भाव न हो । इससे यह फलित होता है कि प्रत्यक्त्व एवं आत्म स्वरूप में विशेषण विशेष्यभाव होने से प्रत्यक्त्व को आत्म स्वरूप मानना उचित नहीं । तथा एकत्व संख्या है, उसे भी आत्मस्वरूप से भिन्न मानना चाहिये ।

यदि हम यह मानते हैं कि आत्मा स्वप्रकाश होने से स्वयं को प्रकाशित कर सकता है, अपने से व्यतिरिक्त प्रत्यक्त्व रूपी धर्म को प्रकाशित नहीं कर सकता, किन्तु यदि आत्मा धर्मभूत ज्ञान के समान स्वव्यतिरिक्त पदार्थों का प्रकाशक होगा तो धर्मभूत ज्ञान के समान आत्मा को भी विषयी मानना

----

1. (क) 'भेदव्यपदेशाच्चान्य:'

-- ब्रह्मसूत्र - 1.1.21

(ख) 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते'

-- ब्रह्मसूत्र

होगा । जो सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि सिद्धान्त में विषयित्व धर्मभूत ज्ञान का असाधारण धर्म तथा प्रत्यक्त्व आत्मा का असाधारण धर्म माना गया है । इस प्रकार दोनों पदार्थों में दोष है । इनका समाधान इस तरह किया जा सकता है कि प्रत्यक्त्व एवं एकत्व धर्म आत्मस्वरूप से भिन्न व्यतिरिक्त ही है ।तथा इसके प्रकाशक होने से आत्म स्वरूप में विषयित्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि विषयित्व का स्वरूप यह माना गया है कि अपने में अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध से भासित होते हैं । योग दशा में आत्मा ऐसे अपूर्व वास्तविक धर्मों से जो तीव्रानुकूलत्व और अणुत्व धर्म संसारावस्था में प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं होते थे - विशिष्ट होकर इस विशिष्ट रूप में योग जन्य प्रत्यक्ष से साक्षात्कृत होता है । अत: प्रत्यक् वह है जो स्वयमेव अपनी बुद्धि से या स्वरूप से प्रकाशित होता है ।[1]

----

1. (क) प्रकृत्यपेक्षया देही देह: श्रीमदपेक्षया ।
तस्य स्वयं प्रकाशत्वं प्रत्यक्श्रुति बोधितम् ।।
-- वेदान्तकारिकावली

(ख) एवमात्मा स्वत: सिध्यन्नागमेनानुमानत: ।
योगाभ्यासभुवा स्पष्टं प्रत्यक्षेण प्रकाशते ।।
--न्यायसिद्धाञ्जन

(ग) 'स्वापेक्षया तु स्वबुद्ध्या स्वरूपेण वा भासमानतया प्रत्यङ्गित्युच्यते ।
-- सर्वार्थसिद्धि - 2.7

(घ) 'स्वेनभासा स्वेनज्योतिषा प्रस्वापित्यत्रायं पुरुष:,.
स्वयंज्योतिर्भवति ।'
-- बृहदारण्यक उपनिषद् - 4.3.9

नित्यत्व : जीव की नित्यता का सिद्धान्त भी उपनिषद् प्रतिपादित है । कठोपनिषद् के अनुसार जीव अजन्मा, नित्य, चेतन एवं अविनाशी है ।[1] न्याय वैशेषिक के अनुसार भी जीव को नित्य माना गया है ।[2] वेदान्त ने भी जीव को अनादि एवं नित्य माना है । परन्तु ब्रह्मदत्त नामक दार्शनिक ने, जिसके सिद्धान्त की चर्चा वेदान्त देशिक ने तत्वमुक्ताकलाप के जीवसर के सोलहवें पद्य में की है, जिसमें जीव को अनित्य सिद्ध करने का प्रयास किया है । उसके अनुसार जीव सृष्टि के समय ब्रह्म द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, अत: वे अनित्य हैं । अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए ब्रह्मदत्त ने छान्दोग्योपनिषद् के आरम्भ में केवल एक अद्वितीय सत् ही था नामक मंत्र को उद्धृत किया है । इसके अतिरिक्त यजुर्वेद एवं तैत्तिरीयोपनिषद् में भूतों की उत्पत्ति का वर्णन है, जो उत्पन्न एवं विनाश होता है, वह नित्य कैसे हो सकता है ।[3]

1(क) नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान ।
-- कठोपनिषद् - 2.5.13.

(ख) 'अजो नित्य: शाश्वतो यं पुराण: ।'
-- कठोपनिषद् - 1.2.18.

2. एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिभाग-
त्याम्नातं तेन जीवो प्यचिदिवजनिमानित्यनध्येतृचोद्यम् ।।
-- तत्वमुक्ता कलाप, 2.16

3. (क) 'सदेव सोम्येदमग्रआसीदकैमेवाद्वितीयम् ।'
-- छान्दोग्य उपनिषद् - 6.2.1

(ख) 'प्रजापति: प्रजा असृजत् ।'
-- यजुर्वेद - 8.2.1

(ग) 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।'
-- तैत्तरीयोपनिषद् - 3.1.1

किन्तु वेदान्तदेशिक ने जीव की अनित्यता को स्वीकार नहीं किया। क्योंकि जीव को अनित्य मानने से जीव को नित्य मानने वाले श्रुति एवं स्मृति वाक्यों से विरोध उपस्थित होता है। जहां जीव की उत्पत्ति एवं विनाश का प्रश्न है, जीव की उत्पत्ति का अर्थ है देह प्राप्ति एवं विनाश का अभिप्राय देह त्याग है। भगवद्गीता के अनुसार जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र उतार कर नये वस्त्र धारण करता है, ऐसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है।[1] प्रख्यात विशिष्टाद्वैतक दार्शनिक लोकाचार्य ने अपने `तत्वत्रय` नामक ग्रन्थ में आत्मा को सर्वकालिवर्तित्व एवं सर्वकाल सत्वत्वं घोषित किया है। जन्म को उन्होंने देह के साथ सम्बन्ध और मरण को देह से वियोग कहकर, आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि की है।[2] न्याय सिद्धाञ्जनकार ने भी आत्मा को नित्य माना है, इसका कभी विनाश नहीं होता है इस अर्थ को सिद्ध करने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता के गीता भाष्य में स्पष्टीकरण किया गया है। जैसे यदि आत्मा को अनित्य माना जाय तो बौद्ध के क्षणिकवाद की तरह एक क्षण का आत्मा विलुप्त होकर दूसरे क्षण का आत्मा बन जायेगा। दूसरे यदि आत्मा अनित्य होता तो अकृताभ्यागम एवं कृतविप्रणाश दोष उत्पन्न होते हैं। तथा आत्मा अनित्य होने पर यह फलित होता है कि विद्यमान जीव एक समय नष्ट हो जायेंगे, व नवीन जीव उत्पन्न हो जायेंगे, ऐसी स्थिति में उन नूतन उत्पन्न होने वाले जीवों को पूर्व कर्म न होने पर भी

----

1. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरो पराणि।
तथा शरीराणि विहायजीर्णान्यन्यानि संयाति नवानिदेही ।।
-- भगवद्गीता - 2.22

2. सर्वकालिवर्तित्वम् सर्वकालसत्वे जन्ममरणाद्युपपत्तिः कथमिति
चेन्न, जन्मदेह सम्बन्धो, मरणं वियोगः।
-- तत्वत्रय

सांसारिक दु:ख सुख भोगने पड़ेंगे, जो सर्वथा अनुचित है, इसी को अकृताभ्यागम दोष कहते हैं। कृतविप्रणाश दोष में विद्यमान जीवों को अपने कर्मों में कई कर्मों के फल भोगने के पूर्व ही नष्ट होना पड़ेगा, जबकि किये गये कर्मों के फल भोगे बिना ही नष्ट होना यह भी अनुचित है। इस प्रकार आत्मा को अनित्य माननेपर ये दोष उत्पन्न होते हैं। एवं जीवात्मा को नित्य कहने वाले श्रुति वचनों से भी विरोध होगा अतएव यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा नित्य है।

अत: विशिष्टाद्वैत ने आत्मा का आकल्प स्थायी न मानकर नित्य स्थायी माना है। श्रुति के अनुसार जीव और ईश्वर दोनों `सयुजा` एवं `सखाया` हैं, ईश्वर नित्य है अत: जीव भी नित्य है।[1] उपनिषदों के अनुसार तो मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा के नित्य स्वरूप का नाश नहीं होता। इतना ही नहीं मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म में विलीन नहीं होता, अपितु ब्रह्म के समान हो जाता है।[2] भगवद्गीता के अनुसार भी आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, अचल स्थिर रहने वाला और सनातन है।[3]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जीवात्मा नित्य है।

----

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
-- ऋग्वेद - 1.164.20

2. निरञ्जन: परं साम्यमुपैति।
--माण्डूक्योपनिषद् - 3.1.3

3. (क) `देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।`
-- भ० गी०, 2.30

(ख) नित्य सर्वगत: स्थाणुरचलो यं सनातन:।
--वही - 2.24

जीव का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व :

आत्मा इन्द्रियों और मन को कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है । अत: वह कर्ता है और किये हुये कर्म का फल मृत्युलोक में भोगता है, अत: भोक्ता है । विशिष्टाद्वैत ने आत्मा में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व स्वीकार किया है, क्योंकि यह सिद्धान्त प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध एवं शास्त्रानुमोदित है ।[1] भगवद्गीता में आत्मा द्वारा इन्द्रियों एवं मन के अधिष्ठान के रूप में विषय उपसेवन का निदर्शन किया गया है । आचार्य रामानुज ने अपने 'गीता भाष्य' में सुख-दु:ख के अनुभव में हेतु एवं आश्रय होने के कारण आत्मा को भोक्ता माना है । कठोपनिषत् में आत्मा को मन एवं इन्द्रियों से युक्त होने पर भोक्ता स्वीकार किया है । ब्रह्मसूत्र-कार ने भी आत्मा को कर्ता माना है । आत्मा को कर्ता एवं भोक्ता मानना इसलिए भी आवश्यक है कि शास्त्रों ने मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को उपासना करने का उपदेश दिया है । यदि जीव कर्ता एवं भोक्ता नहीं तो शास्त्रों का उपदेश भी व्यर्थ है । यदि कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व मानने से आत्मा के निरवद्यता की हानि का भय मानें ऐसी बात नहीं, क्योंकि कर्ता का परिणाम आत्मा में नहीं अपितु ज्ञान की अवस्था में होता है । भोक्ता के रूप में सुख दु:ख का अनुभव भी ज्ञान की अवस्था मात्र है । अनुकूलत्व का ज्ञान सुख का कारण है, और प्रतिकूलता का ज्ञान दु:ख का कारण है । भोक्ता के रूप में जीव सुख दु:ख का आश्रय है ।

----

1. पूर्वानुभूत विषयप्रतिसंधान योगत: ।
   नित्य प्रतिशरीरं सभिन्नो भोक्तादिशब्दित: ।।
   -- वेदान्तकारिकावली.

पूर्वपक्ष की शंका है कि भगवद्गीता में कहा गया है, बिना सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुये हैं फिर भी अहंकार से मोहित हुये अन्त:करण वाला पुरुष 'मैं कर्ता हूं' ऐसा मान बैठता है, जबकि ब्रह्मसूत्र जीव को कर्ता मानता है अत: दोनों कथन परस्पर विरुद्ध हैं। वेदान्त देशिक के अनुसार भगवद्गीता ने अहंकारपूर्वक कार्य करने वाले बद्धावस्था में, प्रकृति के गुणों से वशीभूत हुये जीव का चित्रण किया है। इसका उद्देश्य जीव के कर्तृत्व का निषेध नहीं, अपितु अहंकार मिथ्या अभिमान का निषेध किया गया है। वस्तुत: कार्य करने के लिए अधिष्ठान शरीर कर्ता, करण (इन्द्रिय), पंचप्राण एवं ईश्वर की आवश्यकता होती है। यद्यपि जीव कर्ता है परन्तु उसके कर्म ईश्वर द्वारा नियंत्रित हैं। उपनिषदों में कहा गया है, कि ईश्वर प्रत्येक मनुष्य के शरीर में रहता है और उसपर नियंत्रण करता है। भगवद्गीता के अनुसार ईश्वर सब भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है और अपनी दिव्य माया के द्वारा उनके क्रिया कलापों को नियंत्रित करता है। आचार्य रामानुज ने जीव के कार्यों का हेतु परमात्मा को बताया है।[1]

----

1. (क) 'परमात्मा एव हेतु भवति'

-- श्रीभाष्य - 2.3.40.1

(ख) 'आत्मेन्द्रिय मनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण: ।'

-- कठोपनिषद् - 1.3.4.

(ग) 'कर्ताशास्त्रार्थत्वात् ।'

--ब्रह्मसूत्र - 2.3.33

(घ) 'ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशे ऽर्जुनतिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानियन्त्रारूढानिमायया ।'

-- भगवद्गीता - 18.61.

विशिष्टाद्वैत सम्मत जीव ब्रह्मैक्यवाद - परमत खण्डन
पुरस्सर सिद्धान्त पक्ष स्थान

अद्वैत वेदान्त के अनुसार अविद्योपच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है। वह सब शरीरों में एक है। अविद्या के कारण जीव ब्रह्मैक्य की प्रतीति नहीं होती, परन्तु ज्ञान द्वारा अविद्या का नाश हो जाने पर ब्रह्म ही जीव और जीव ही ब्रह्म हो जाता है। सभी शरीरों में एक ही ब्रह्म है। जीवों की अनेकता की प्रतीति भ्रम के कारण होती है। विभिन्न जीव के शरीर इन्द्रियां एवं मन जो हमारे अनुभव के अनुसार एक व्यक्ति को दूसरे से पृथक् करते हैं, अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया मात्र हैं, अतः अवास्तविक है। माया के वशीभूत होकर ही जीव अपने को कर्ता एवं भोक्ता समझता है, वस्तुतः वह ब्रह्म ही है। वेदान्त देशिक के अनुसार सभी जीवों को ब्रह्म के आभास मानने पर हमें दो सिद्धान्त दृष्टिगत होते हैं।

1. सर्वशरीर एक जीववाद --

इसके अनुसार सभी शरीर एक ही जीव के हैं। विभिन्न शरीरों के अनुसार जीव पृथक्-पृथक् विभक्त हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त सब जीव ब्रह्म हैं।[1]

2. एक शरीर एकजीववाद --

अविद्योपहित ब्रह्म की बहुत से जीवों के रूप में स्वप्न में देखे गये बहुत से

---

1. 'सर्वे जीवा अहं स्युः।'

-- तत्वमुक्ताकलाप - 2.12

जीवों की भांति वास्तविक न होकर आभास मात्र है ।[1]

अत: वेदान्तदेशिक ने इन दोनों सिद्धान्तों को प्रत्यक्षादि प्रमाण विरुद्ध एवं शास्त्र असम्मत बतलाया है । सर्व शरीर एक जीववाद के संदर्भ में हमें सामान्य अनुभव के आधार पर विदित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न है, अनेक प्रकार के भिन्नता युक्त जीवों में एक ही आत्मा नहीं हो सकती । मानव, हाथी, एवं चींटी पर्यन्त सभी शरीरों में एक जीव मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है ।[2] क्योंकि प्रत्येक जीव के कार्य, विचार, अनुभव एवं सुख-दु:ख भिन्न-भिन्न हैं । अत: सर्वशरीर एक जीववाद का सिद्धान्त अनुपयुक्त है ।[3]

यदि अविद्या युक्त ब्रह्म को ही जीव मानें और अन्य सब जीवों को उस एक जीव का स्वप्न के जीवों की भांति आभास मानें तो न ही कोई जीव बन्धन में होगा और न ही किसी की मुक्ति हो सकेगी । अत: बन्धन एवं मोक्ष का सिद्धान्त तथा मुक्ति के लिए यत्न निष्फल हो जायेंगे । ब्रह्म नित्यमुक्त है । उसका शरीर में बन्धन और मोक्ष भ्रम है ।[4] अनेक जीव स्वाप्निक हैं । स्वाप्निक जीवों का मोक्ष असम्भव है ।

----

1. `सा विद्यं ब्रह्म जीव: स च न बहुतनुर्नेतरे सन्ति जीवा: ।'

-- तत्वमुक्ताकलाप, 2.13

2. निखिलं सर्वज्ञ देह प्रभृति पिपीलिकादिदेह पर्यन्तम् ।'

--सर्वार्थसिद्धि- 2.12

3. `सर्वाणि शरीराणि एकस्यैव जीवस्येति पक्ष: प्रतिक्षिप्त: ।'

-- अ० ल० - 2.13.

4. `तर्हि मोक्ष शास्त्रं व्यर्थ स्यात् ।'

-- सर्वार्थ सिद्धि - 2.13

पूर्वपक्ष में उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को सामवेद के वचनों से उपदेश करते हैं कि - `तत` कहने से ब्रह्म का बोध एवं `त्वं असि` कहने से तू है । अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकता कही गई, इसलिए जीव और ईश्वर का अभेद ही अंगीकार करना चाहिये ।

`अहं ब्रह्मास्मि` यह अपरोक्ष ज्ञान है । `ब्रह्मैवाहमस्मि` यह परोक्ष ज्ञान है । अत: जीव एवं ईश्वर में किसी भी प्रकार से भिन्नता नहीं है ।

सिद्धान्त पक्ष इस प्रश्न का उत्तर देते हुये है - मायावादी के नाम से सम्बोधित करते हुये कहता है कि तुम्हारा यह कहना उसी प्रकार है जैसे कोई कहे - `मैं बंध्या का पुत्र हूं` अब यहां सोचिये कि वन्ध्या के पुत्र हो ही नहीं सकता तो बन्ध्या पुत्र कैसे उत्पन्न हुआ ? उसी तरह आप अपने शिष्य को उपदेश करते हो, गुरु झूठा, गुरु ने उपदेश किया, वेद झूठा और वेद से उत्पन्न ज्ञान झूठा और वेद का कर्ता ईश्वर भी झूठा । इस प्रकार जब गुरु, वेद और ईश्वर ये सब झूठे हैं तब ऐसे असत्य से सत्य पारमार्थिक स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जिस प्रकार तांबे का रुपया बनाकर बाज़ार में वस्तु खरीदने जाये तो उसे वस्तु की जगह अपमान ही सहन करना पड़ेगा । इसी प्रकार असत्य-गुरु, ईश्वर एवं वेद को मानकर सत्य मोक्ष को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है परन्तु नरक रूपी चरणदासियों की मार तो अवश्य भोगनी पड़ेगी ।

वस्तुत: अभिप्राय यह है कि `तत्वमसि श्वेत केतो` यह श्रुति वाक्य जीव-ईश्वर की एकता को नहीं कहता, बल्कि उपासना की ओर संकेत करता है । जैसे -- (तत्) - सो ब्रह्म (त्वं असि) तू है । अर्थात् यहां जीव में ब्रह्म बुद्धि रखकर उपासना करनी चाहिये । जिस प्रकार मूर्तियों में पाषाण, धातु या किसी भी पदार्थ से बनी प्रतिमा में ईश्वर बुद्धि रखकर ही उपासना

की जाती है, यह महापुरुष एवं शास्त्र सम्मति है । इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म नहीं है, परन्तु उस जीव में ब्रह्म बुद्धि रख कर उपासना करनी है, अत: 'तत्वमसि' इस वेद वाक्य का अर्थ भी यही है । शास्त्रों में तो सबको ही ब्रह्म माना है किन्तु ब्रह्म मानकर उनकी उपासना की ओर संकेत किया है जैसे - यहां मन, अन्न, आदित्य, वायु, प्राण, योषा आदि कोई भी ब्रह्म नहीं है, परन्तु इनकी ब्रह्मरूप मानकर उपासना कही गयी है ।[1]

अत: जीव और ईश्वर का भेद ही इस 'तत्वमसि' वेद वचन का सिद्धान्त है । यदि एक जीव को ज्ञान हो गया और वह ब्रह्म बन गया तो बाकी जीवों के नानात्व का आधार ही समाप्त हो जायेगा ।

आचार्य रामानुज ने ब्रह्म जीवैक्य के सिद्धान्त का निराकरण किया है, क्योंकि जीव एक स्वत: - वास्तविक तत्व है । जीव की सत्ता उसके चेतनत्व, ज्ञान, स्मरण शक्ति एवं इच्छा शक्ति से प्रत्यक्ष सिद्ध है । जीव अनादि है क्योंकि वह पूर्वजन्मकृत कर्मों के अनुसार जन्म लेता है, एवं सुख-दु:ख भोगता है । इस पक्ष का समर्थन उपनिषदों में भी किया गया है । बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म को जीव का अन्तर्यामी एवं नियन्ता कहा गया है । अत: वे एक नहीं हो सकते । श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी जीव और ब्रह्म को पृथक् माना है, जीव को भोक्ता एवं ब्रह्म को प्रेरिता माना गया है । छान्दोग्योपनिषद् ने मृत्यु के समय इस शरीर को छोड़कर जीवात्मा के अपने रूप के साथ ईश्वर के पास जाने की चर्चा की है । कठोपनिषद् ने छाया और आतप कहकर

----

1. मनोब्रह्मेत्युपासीत । अन्नमुपास्व । आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश: । वायुर्वाव संसर्ग: । प्राणो वाव संसर्ग: । योषा वा गौतमाग्नि: । ओमित्यात्मानं ध्यायथ । सर्वंखल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । आत्मानमेव लोकमुपासीत । ध्यात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै: । कारणं तु ध्येय: ।।
-- वैष्णव धर्मरत्नाकर:, तृ० अ०, पृ० 49.

जीव और ब्रह्म में भेद निर्देशित किया है । यजुर्वेद आरण्यक में परमात्मा को जीव का अन्तर्स्थित शासक माना है । ब्रह्मसूत्रकार ने भी जीवित अवस्था एवं मुक्ति अवस्था जीव और ब्रह्म दोनों में भेद स्वीकार किया है ।[1] श्रुतियों एवं स्मृतियों में जीव के - देव, तिर्यक्, मनुष्य एवं स्थावर - ये चार प्रकार के भेद दर्शाये गये हैं । यदि जीव ब्रह्म एक है, तो यह विभाजन किस प्रकार सम्भव है ? भगवद्गीता में भी जीवात्मा और परमात्मा में सार्वकालिक एवं नित्य भेद स्वीकार किया है । अत: विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीव-ब्रह्म का - अंश, प्रकार, शेष, शरीर होते हुये भी अपना पृथक् स्वभाव, स्वरूप एवं विशेषताएं रखता है ।

अणुत्व

जीव के आकार के विषय में अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत में पर्याप्त मतभेद हैं । विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठापकाचार्य रामानुज के अनुसार जीव अणु

---

1. (क) एवमेषोण संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायं परं ज्योतिरूप संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।
-- छान्दोग्य उपनिषद् - 8.12.3

(ख) `अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानां सर्वात्मा ।`
यजुर्वेद आरण्यक - 3.20.

(ग) `उभयेऽपिहि भेदे नैनमधीयते ।`
ब्रह्मसूत्र - 1.2.21.1

(घ) `भेदव्यपदेशाच्चान्य: ।`
-- वही - 1.1.22.1.

(ङ) `अधिकस्तुभेदनिर्देशात् ।`
-- वही, 2.1.22.1

है । यह विभु नहीं, क्योंकि शास्त्रों ने शरीर से जीव के निष्क्रमण, उर्ध्व-गमन एवं शरीर में पुनरागमन आदि की चर्चा की है, यह सब क्रियायें आत्मा को विभु मानने पर सम्भव नहीं हो सकतीं । रामानुजाचार्य का अनुकरण करते हुये 'यतीन्द्रमतदीपिकाकार' श्री निवासदास ने भी आत्मा को अणु परिमाण माना है । शास्त्रों में आत्मा के गमनागमन की चर्चा के आधार पर आत्मा को लोकाचार्य ने भी अणु स्वीकार किया है ।[1]

आत्मा के अणुत्व का सिद्धान्त उपनिषद् प्रतिपादित है । प्रश्नोपनिषद् के अनुसार आत्मा हृदय में रहता है, और वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार विज्ञानमय आत्मा प्राणों की अन्तर्ज्योति है । भगवद्गीता ने भी सबके हृदय में आत्मा की स्थिति को स्वीकार किया है । हृदय में स्थित होने के लिए अणु आकार का होना आवश्यक है, क्योंकि विभु वस्तु हृदय आकार में नहीं समा सकता । आत्मा की सूक्ष्मता का वर्णन करते हुये अथर्ववेद में कहा गया है कि आत्मा केश से भी सूक्ष्म है और दिखायी नहीं देता । छान्दोग्य उपनिषद् में आचार्य आरुणि ने श्वेतकेतु को आत्मज्ञान

----

1. (क) नायं सर्वगत: अपितु अणुरेवायमात्मा कुत: उत्क्रान्त गत्यादीनां श्रुते: ।

-- श्रीभाष्य - 2.3.30

(ख) 'स चाणुपरिमाण: उत्क्रान्त्यादे: श्रवणाच्प्रमाणानुसाराच्च ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 69

(ग) 'अणुत्वकथमितिचेत् हृदयप्रदेशादुत्क्रमणागमनागमनां शास्त्रेणोक्तत्वादणुत्वं भवति ।'

-- तत्वत्रय

देते समय कहा है कि आत्मा वट वृक्ष के बीज के तन्तु से भी सूक्ष्म एवं अदृश्य है । जहां तक इसकी व्यापकता का प्रश्न है, यह पानी में घुले नमक की भांति शरीर में व्याप्त है । श्रुति सम्मत यह आत्मा अणु है, मन से जानने योग्य है, जीव चर्मकार सूची के अग्रभाग के समान उतना छोटा देखा गया है, एवं बाल के अग्रभाग को सौभाग्य करके उनमें एक भाग को सौभाग करने पर उनमें एक भाग जितना छोटा होता है, उतना ही छोटा जीवात्मा है ।जीवात्मा को अणु होने में और भी प्रमाण है कि स्वयंप्रकाश होने वाला जीवात्मा हृदय प्रदेश में ही 'अहमह्यू' ऐसा प्रतीत होता है, अत: उसके स्वारस्य से ही फलित होता है कि जीवात्मा हृदय में ही रहता है अन्यत्र नहीं, इससे जीवात्मा का अणुत्व सिद्ध होता है । बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार सुषुप्ति अवस्था में आत्मा 'पुरीतत' नाड़ी में वर्तमान रहता है.। ये सभी उपनिषद् वाक्य प्रत्यक्ष रूप से जीव के अणु होने की सिद्धि करते हैं । जीव स्वभाव से अणु है । ईश्वर विभु है परन्तु वह मनुष्य के हृदय में अणु रूप से अवस्थित है । यहां ईश्वर का अणु रूप औपाधिक है, परन्तु जीव के स्वरूप के विषय में ऐसी कोई उपाधि नहीं,वह स्वावस्था में अणु है ।[1]

जीव के अणुत्व के विषय में शंका की जाती है, कि यदि वह अणु है और हृदय में स्थित है तो वह शिर या पांव में होने वाले दु:ख को कैसे अनुभव

----

1. (क) वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीव: स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते ।।
--वेदान्त कारिकावली, पृ० 86

(ख) 'योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु हृदन्तर्ज्योति: ।'
-- बृहदारण्यकोपनिषद् - 6.3-7

होता है ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि आत्मा अणु है, परन्तु उसका धर्मभूत ज्ञान प्रकाश की किरणों की तरह सर्वत्र व्याप्त है ।[1] जैसे शरीर के किसी एक भाग में लगा चन्दन का लेप पूरे शरीर को सुगन्धित कर देता है, उसी प्रकार आत्मा हृदय में स्थित हुआ सम्पूर्ण शरीर पर नियंत्रण रखता है । वह अपने ज्ञान द्वारा दूरस्थ स्थानों के विषय में भी सुख दु:ख का अनुभव करता है । आत्मा सूर्य, हीरे एवं प्रज्वलित दीपक की भांति एक स्थान पर स्थित होकर सर्वत्र अपना प्रकाश फैलाता है ।[2]

यद्यपि उपनिषदों ने स्पष्टत: आत्मा को `अणु` उद्घोषित किया है । आचार्य शंकर उसे विभु मानते हैं । क्योंकि वह ब्रह्म का आभास है । ब्रह्म विभु है, सर्वव्यापक है । जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य है, अत:

----

1. अणुत्वे युगपदनेक विषयानुभव: कथमिति न शङ्कनीयम् - धर्मभूतज्ञानव्याप्तयोपपत्ते: ।

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 69.

2. (क) जीवस्यानेकविषयानुभवोऽणोरपि स्मृत: ।
यद्धर्मभूत विज्ञान व्याप्तिस्तत्रोपभोगिनी ।।

-- वेदान्तकारिकावली

(ख) `धर्माधर्मौ स्वाश्रयसंयुक्त एवाऽऽश्रयान्तरे क्रिया जनयत: ।`

-- सर्वार्थ सिद्धि, 2.19.

जीव भी सर्वव्यापक है । बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के तीसरे अधिकरण में जीव के अणुत्व एवं विभुत्व की चर्चा की है । शंकराचार्य के अनुसार इस अधिकरण के - 19 से 28 तक के सूत्र जिनके अनुसार जीवात्मा अणु है, यह पूर्वपक्ष है । 29वां सूत्र सिद्धान्त पक्ष है, क्योंकि इसमें जीव को विभु कहा गया है । इस सूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने कहा है कि हमें आत्मा को अणु नहीं मानना चाहिए, क्योंकि जीव के आविर्भाव का कहीं वर्णन नहीं है । ब्रह्म ही जीव में प्रवेश करता है । ब्रह्म और जीव एक हैं, अतः ब्रह्म का परिमाण ही जीव का परिमाण होना चाहिए । ब्रह्म विभु है अतः जीव भी विभु है । जीव को शास्त्रों में अणु इसलिए कहा गया है, क्योंकि जीव में बुद्धि के सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि गुण हैं । बुद्धि अणु है, अतः जीव को अणु कह दिया गया है । देह में गमन-आगमन भी बुद्धि के व्यापार हैं, जो जीवात्मा पर आरोपित कर दिये गये हैं ।[1] परन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के तृतीय अधिकरण का उन्नीसवां सूत्र जिसमें आत्मा को अणु कहा गया

----

1. नैतदस्ति अणुः आत्मेतिपरमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तं । तस्मात् यावत् परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितु मर्हति । परस्य ब्रह्मणो विभुत्व - माम्नातं तस्मात् विभु जीवः । कथं तर्हि अणुत्वादि व्यपदेशः । तद्गुण सारत्वान्तु तद्व्यपदेशः । तस्याः बुद्धेः गुणाः तद्गुणाः । इच्छाद्वेषः सुखदुःखं इत्येवमादयः तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्यात्मनः संसारित्वे संभवति । न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्य आत्मनः संसारित्व-मस्ति । तस्मात् तद्गुणसारत्वात् बुद्धिपरिमाणो नास्य परिमाण-व्यपदेशः ।

-- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य - 2.3.19

है। सिद्धान्त पक्ष है। इसके 20 से 25 सूत्र आत्मा के अणुत्व के विरुद्ध आक्षेपों का निराकरण करते हैं। शंकराचार्य के सिद्धान्त के विषय में कहा जा सकता है कि इन्होंने जो 3.2.19 से 3.2.28 तक के सूत्रों को पूर्वपक्ष माना है, वह बड़ा अजीब प्रतीत होता है। क्योंकि उस पूर्वपक्ष का इतना विस्तृत वर्णन जिसे बाद में निराकृत करना है, लौकिक एवं बौद्धिक व्यवहार के विपरीत है। इधर श्रीरामानुजाचार्य का सिद्धान्त-शास्त्रीय दृष्टि से उत्तम है जिसमें 'जीव का अणु' माना गया है, एवं सूत्रों का उपयुक्त अर्थ करने में भी श्री आचार्य रामानुज सक्षम हैं।

अनेकत्व

अद्वैत ने जीव को विभु माना है। न्यायवैशेषिक ने भी जीव को इस कारण से विभु माना है कि उसे सम्पूर्ण शरीर के सुख दु:ख की अनुभूति होती है। यदि जीव को मध्यम परिमाण मानें तो उसके नित्यत्व की हानि होती है। अत: जीव विभु है।[1] विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त ने जीव के विभुत्ववाद का युक्तियुक्त खण्डन किया है। आचार्य रामानुज के अनुसार यदि जीव सर्वत्र व्याप्त है तो चेतन और अचेतन जीवों में एक समय और एक स्थान पर व्याप्त होनेपर जीव को एक साथ चेतन और अचेतन मानना पड़ेगा, अत: चेतन एवं अचेतन का विभाग असम्भव हो जायेगा। आचार्य वेदान्त देशिक के अनुसार यदि जीव सर्वत्र व्याप्त माना जाये तो सुख, दु:ख की इच्छा आदि

----

1. स च न परमाणु: शरीरव्यापिसुखाद्यनुपलब्धि प्रसङ्गात्। न मध्यम परिमाण:। तथा सत्यनित्यत्व प्रसंगेन। तन्मान्नित्योविभुर्जीव:।
   -- तर्क दीपिका, पृ0 13.

जो जीव के धर्म हैं वह सम्भव नहीं हो पाएंगे । जब शास्त्र जीव को `नित्यसर्वगत:` कहते हैं, तो उनका अभिप्राय: धर्मभूत ज्ञान से है -- जिसके द्वारा वह शरीर के विभिन्न भागों में सुख दु:ख का अनुभव करता है । यदि आत्मा को विभु मानें तो एक व्यक्ति के सिर में पीड़ा होने पर उसके भाइयों के सिर में भी पीड़ा होगी । परन्तु ऐसा होता नहीं, अत: आत्मा विभु नहीं । `सर्वगत` का अर्थ है आत्मा की सर्वत्र गति, परन्तु वह सर्वत्र व्याप्त नहीं ।[1]

आत्मा को विभु मानने पर आत्मा के सब जगह घूमने और देहादि में अणु रूप से रहने का बोध होता है । आत्मा को सर्वव्याप्त कहने का अर्थ है कि उसका जड़ एवं चेतन सभी पदार्थों में प्रवेश सम्भव है । वैशेषिकों के आत्मा के विभुत्व के सिद्धान्त के विरुद्ध आचार्य रामानुज का आक्षेप है कि यदि आत्मा सभी प्राणियों में व्याप्त रहेगी तो यह उनके अवयवों में भी व्यापक होगी तो विभिन्न जीवों के क्रिया-कलाप आपस में टकरा जायेंगे । अदृष्ट को भी अपना कर्मफल प्रदान का कार्य करना असम्भव होगा । जीव को विभु मानने पर उसके अंगुष्ठ मात्र कहने वाले श्रुति वाक्यों में विरोध होगा । ब्रह्म और जीव दोनों को विभु मानने पर उनमें भेद करना कठिन होगा ।

----

1. (क) `व्याप्ता: सर्वत्र जीवा: सुखतदितरयो: तत्र तत्रोपलम्भात् ।`.
`भ्रातव्यादौ च पीड़ा न घटयितुमलं किं विभुत्वेन मोक्तु: ।`.
-- तत्वमुक्ताकलाप

(ख) `पादे मे वेदना शिरसि सुखम् ।`
-- अ० ला० - 2.18

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जीव की आराग्रमात्र कहकर उसका ब्रह्म से भेद प्रदर्शित किया गया है। अंगुष्ठ मात्र या आराग्रमात्र भी अणुत्व का प्रतिपादक है।[1]

वैशेषिक ने जीव को सुख दु:ख प्रदान करने वाले तत्त्व को 'अदृष्ट' के नाम से अभिहित किया है जो जीव के साथ रहता है, यदि जीव को अणु मानें तो 'अदृष्ट' कहां रहेगा ? अदृष्ट के बिना जीव के पाप-पुण्य अपना प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। अत: जीव को विभु मानना आवश्यक है। वेदान्त देशिक ने इस अनुमान को सिद्ध साधन दोष से दूषित माना है, क्योंकि विशिष्टाद्वैत में पहले ही ईश्वर को अदृष्ट के माध्यम से कर्मफल प्रदाता स्वीकार कर रखा है। अदृष्ट जड़ एवं अचेतन है, वह स्वयं फल प्रदान नहीं कर सकता। ईश्वर ही अदृष्ट के अपने अनुग्रह एवं निग्रह से जीव को सुख दु:ख प्रदान करते हैं। अत: अदृष्ट को साथ रखने के लिए, जीव को विभु मानना आवश्यक नहीं।

वैशेषिक ने अदृष्ट के विभुत्व की सिद्धि के लिए जीव को विभु माना है। परन्तु वेदान्त देशिक के अनुसार अदृष्ट के विभुत्व की सिद्धि के लिए जीव को विभु माना है। परन्तु वेदान्त देशिक के अनुसार अदृष्ट -

----

1. (अ) 'एष आत्मा निष्क्रामति, अनेक जन्मसाहस्त्री संसार पदवीं व्रजन्।'

--सर्वार्थ सिद्धि - 2.18

(ब) अङ्गुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट:।'

-- कठोपनिषद् - 2.6.17

(स) 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट:।'

-- श्वेताश्वतरोपनिषद् - 5.8

प्रादेशिक है न कि विभु क्योंकि अदृष्ट जिस शरीर में स्थित होता है, उसी में सुखदु:ख का अनुभव कराता है। यदि अदृष्ट को विभु मानें तो एक व्यक्ति का सुख दु:ख उसके मित्र का भी सुख-दु:ख होना चाहिए। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। अत: जब जीव के सुख दु:ख का साधन अदृष्ट ही विभु नहीं तो जीव के सुखदु:ख की अनुभूति के लिए विभु मानना भी असंगत है।[1]

यदि जीव को विभु मानें तो एक ही जीव सभी शरीरों में विद्यमान हो जायेगा तो यह निर्धारित करना कठिन हो जायेगा कि अमुक शरीर अमुक व्यक्ति का है या अन्य का। यदि अदृष्ट को व्यक्ति विशेष के शरीर विशेष का निर्धारक मानें, तो जीव के विभु होने के कारण अदृष्ट भी विभु होगा, तो वह भी एक व्यक्ति विशेष में रहकर सभी व्यक्तियों में रहने लगेगा। फलत: सभी व्यक्तियों के सुख दु:ख समान हो जायेंगे। तब एक भाई के बीमार या पीड़ित होने पर दूसरे भाई को भी वही व्याधि और पीड़ा होने लगेगी। लेकिन ऐसा होता नहीं।[2] अत: अदृष्ट अपने अवच्छिन्न प्रदेश में ही अपने आश्रय के लिए कार्य करता है।

----

1. यच्चादृष्टं स्वाश्रययुजि तनुतेऽन्यत्रतत्कृद्गुणत्वात्।
   इत्येतत् सिद्ध साध्यं, विभु दूर हि तत् क्षण: प्रतिकोपो।
   दृष्टे प्रादेशिकत्वं विभुगुजनियतां बुद्धिशब्दादिनाम्।
   तेनादृष्टं न तादृक्, न यदि तव सुखाधाश्रयत्यापकम्, स्यात्॥
   -- तत्वमुक्ताकलाप, 2.19.

2. तच्च स्वाश्रयसंयोगिनि क्रियां जनयत् स्वावच्छिन्नप्रदेशसंयुक्त एव जनयेत्।
   -- सर्वार्थसिद्धि, 2.20

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार कर्ता एवं भोक्ता जीव अणु है। उसके अच्छे बुरे कर्मों का फल उसे ईश्वर अदृष्ट के द्वारा क्रमश: सुख एवं दु:ख के रूप में प्रदान करते हैं। इस तरह जीव को अपने कर्मों के अनुसार फल प्राप्त होता है। अत: प्रत्येक जीव एवं उसके भोग साधन समान नहीं होते।[1] जीव जो अणु है परमात्मा उससे भी अत्यन्त अणुतर हैं, इस प्रकार श्रुति में परमात्मा का स्वरूप जीव से अत्यन्त सूक्ष्म कहा है। गीता के अनुसार अणु रूप जीव से भी परमात्मा अणीयान् है, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्मतर है। इन समस्त श्रुतियों स्मृतियों के प्रमाणों से परमात्मा की अणु व्याप्ति सिद्ध की हुई है, इससे अणु परिमाण जीव में अन्तर्यामी परमात्मा का प्रवेश नहीं बनेगा। ऐसी जो पूर्व पक्षीय शंकायें हैं, सो भस्माहुतिवत् मिथ्या हैं। अत: जीव की अणु परिमाणता स्वयमेव सिद्ध है।

प्रमुख प्रस्थान सम्मत आत्मवाद निरूपण

न्याय दर्शन में आत्मा --

न्याय दर्शन के अनुसार 'आत्मा ज्ञान इच्छा आदि गुणों का आधार है, तथा प्रतिसंधान, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान करने वाला आत्मा ही है। आत्मा के दो भेद हैं --

----

1. देशान्तर फलादीनामुपलब्धिरणोरपि।
   कर्मजन्याददृष्टाप्य विज्ञानादिति संजगु: ।।
   -- वेदान्तकारिकावली.

(1) जीवात्मा (2) परमात्मा ।[1]

जीवात्मा भी दो प्रकार के होते हैं -- स्वात्मा और परात्मा । शब्द एवं अनुमान के द्वारा आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता है । कुछ प्राचीन नैयायिकों के अनुसार आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती पर नव्य नैयायिकों का कहना है, कि मानस् प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात् ज्ञान होता है । नैयायिक कहते हैं, इसके अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए बुद्धि, सुख, दु:ख के ज्ञाता, भोक्ता के रूप में आत्मा का प्रत्यक्ष करते हैं । हम अपने आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष कर सकते हैं, पर दूसरे के आत्माओं का प्रत्यक्ष बुद्धि के कार्यों द्वारा होता है । इसलिये नित्य, चेतन, आत्मा की आवश्यकता होती है । आत्मा को नित्य न मानने से कर्मवाद का अन्त हो जायेगा ।

आत्मा निरवयव और विभु है । आत्मा काल और दिक् से परे है । चेतनता आत्मा का आगन्तुक गुण है, स्वरूप लक्षण नहीं । जब आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रिय के साथ तथा इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं से सम्पर्क होता है, तब आत्मा में चेतनता का संचार होता है । अत: मोक्ष या अपवर्ग की अवस्था में आत्मा शरीर से पूर्णत: मुक्त होकर सुख दु:ख से परे हो जाता है और अनुभूतिहीन अचेतन हो जाता है ।

इसी अवस्था को धर्म ग्रन्थों में `अभयम् अजरम् अमृत्युपदम्` कहा गया है । आत्मा के सम्बन्ध में न्याय मत युक्तिपूर्ण नहीं माना जाता है, क्योंकि

----

1. ज्ञानाधिकरणमात्मा । स द्विविधा: । जीवात्मा परमात्माचेति ।
-- तर्कसंग्रह, पृ0 8.

चेतनता आत्मा का स्वरूप गुण है, आकस्मिक गुण नहीं । यह बात हमारे अनुभव से ही सिद्ध होती है । न्याय की अपवर्ग की कल्पना मुक्त आत्मा को पाषाणवत् बना देती है ।

वैशेषिक दर्शन में आत्मा --

वैशेषिक दर्शन भी न्याय के सदृश वस्तुवादी दर्शन है । इसके आत्मा सम्बन्धी विचार भी न्याय के समान ही हैं । परन्तु आत्मा के मानस-प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में नैयायिकों से वैशेषिकों का मतभेद है । वस्तु कणाद् और प्रशस्तपाद आत्मा का मानस-प्रत्यक्ष नहीं मानते किन्तु शंकरमिश्र आत्मा का मानस प्रत्यक्ष मानते हैं । वैशेषिकों के अनुसार भी मुक्तात्मा समस्त अनुभूतियों से रहित हो जाती है । इसकी आलोचना में एक वैष्णव भक्त ने तो यहां तक कह दिया कि वैशेषिक के इस मोक्ष से तो वृन्दावन के सुरम्य जंगलों में श्रृगाल बनकर रहना अधिक श्रेयस्कर है ।

सांख्यदर्शन में आत्मा --

महर्षि कपिल द्वारा प्रतिपादित सांख्यदर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन माना जाता है । सांख्य द्वैतवादी दर्शन है । सांख्य में दो मौलिक तत्व माने जाते हैं -- प्रकृति और पुरुष `आत्मा`[1] ।

----

1. (क) `एतावदेव तत्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिण: ।`

-- शा० प० - 306.30

(ख) `सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्व: पञ्चविंशक: ।
य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते ।।`

-- म० भा० - 12.306.50

पुरुष की सत्ता स्वयं सिद्ध है । इसके अस्तित्व के खण्डन में भी इसकी सिद्धि हो जाती है, अर्थात् जो खण्डन कर रहा है वही चेतन आत्मा है । वह स्वयं प्रकाश है । चेतना उसका स्वरूप लक्षण है । वह शरीर, मन, इन्द्रियाँ और बुद्धि से भिन्न है । वह अभौतिक है । उसका न आदि है और न अन्त । अत: वह अमर है, नित्य है, मुक्त है, शुद्ध है, बुद्ध है । पुरुष चेतनशील है, पर निष्क्रिय है । वह अपरिवर्तनशील है । वह सदैव ज्ञाता है, वह ज्ञान का विषय नहीं बनता । वह केवल दाता है । वह साक्षी चैतन्य है । वह उदासीन है, सुख दु:ख से प्रभावित नहीं होता । उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता । वह अपरिणामी है । वह सर्वव्यापी अकृत तथा सनातन है । वह निस्त्रैगुण्य है । सांख्य-पुरुष को आनन्द-स्वरूप भी नहीं मानता ।[1]

सांख्य ने पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के कुछ प्रमाण दिये हैं जो निम्नलिखित हैं --

1. संसार के समस्त पदार्थ जिसके साधन हैं, वह चेतन सत्ता पुरुष है ।
2. त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न अनुसंधान मय सत्ता पुरुष है ।
3. जड़ प्रकृति के विकास के लिए चेतन पुरुष की आवश्यकता है ।
4. संसार के पदार्थों के कारण उत्पन्न सुख दु:ख तथा उदासीनता का अनुभवकर्ता पुरुष ही है ।

----

1. (क) तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीन: ।।
-- सांख्यकारिका - भूमिका, 64.

(क्रमश:..)

5. मुमुक्षुत्व का प्रयत्न करने वाला पुरुष ही है ।

सांख्य पुरुषों की अनेकता भी प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है --

1. भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का जन्म-मरण अलग-अलग होता है । अत: पुरुष अनेक हैं ।

2. यदि कोई एक ही पुरुष होता तो समान क्रिया दिखायी पड़ती जबकि कोई हंसता है तो दूसरा रोता है, कोई जागता है, दूसरा सोता है ।

3. विभिन्न पुरुषों में सत्व, रज, तम के गुण पृथक्-पृथक् पाये जाते हैं । अत: पुरुष अनेक हैं ।

4. देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, सबकी आत्मा में भिन्नता है, अत: अनेकता ही प्रमाणित होती है ।

5. मानसिक और शारीरिक भेद पाया जाता है । अर्थात् बुद्धि की दृष्टि से भी पुरुष भिन्न है, तथा शारीरिक दृष्टि से कोई अंधा है, कोई लंगड़ा है, कोई मोटा है, कोई दुबला है ।

6. इस प्रकार सांख्य के अनुसार मोक्ष की अवस्था में आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को ही अनुभव करती है । अविवेक बंधन का कारण है और आत्मज्ञान ही मोक्ष है । अत: आत्मा न कभी बंधन में पड़ता है न ही उसे मुक्ति की आवश्यकता है ।

सांख्य के आत्मा सम्बन्धी मत की भी आलोचना की जाती है । सांख्य ने आध्यात्मिक और व्यावहारिक पुरुष में गड़बड़ी की है । एक

और पुरुष को शुद्ध चैतन्य, निस्त्रैगुण्य, साक्षी, नित्य, मुक्त, स्वयंसिद्ध, निरपेक्ष आध्यात्मिक पुरुष के रूप में वर्णित किया है, वहीं दूसरी ओर पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए व्यावहारिक जीव का सहारा लिया है। शुद्ध चैतन्य आत्मा को शरीर के गुण और क्रियाओं के द्वारा कैसे समझाया जा सकता है? अनेकत्व के प्रमाण बद्ध जीवों के सम्बन्ध में हैं, आध्यात्मिक पुरुष के सम्बन्ध में नहीं। अतः एक ही पुरुष का अस्तित्व है।

अद्वैत वेदान्त में आत्मा --

शंकराचार्य ने अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है और आत्मा ब्रह्म का ही रूप है। आत्मा और ब्रह्म द्वैत नहीं है। अद्वैत दर्शन के आत्मा या ब्रह्म सम्बन्धी विचार उपनिषदों पर आधारित हैं। आत्मा और ब्रह्म में अभेद है। तत्वमसि में त्वम् 'जीव' तत् 'ब्रह्म' है, अर्थात् ब्रह्म और जीव एक है। दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों शुद्ध चैतन्य हैं।[1] 'यह वही देवदत्त है' यह वाक्य जिस देवदत्त को कल देखा, जिसे आज देखा दोनों एक हैं। त्वम् का अर्थ अल्पज्ञ चेतन जीव और तत् का अर्थ सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म।[2] आत्मा अपरिच्छिन्न है। वह ज्ञान का विषय

----

1. (क) 'अहं ब्रह्मास्मि' --बृहदारण्यकोपनिषद् (1.4.10)
   (ख) 'तत्वमसि' -- छान्दोग्योपनिषद् - (6.8.7)
   (ग) 'अयमात्मा ब्रह्म' -- बृह० (2.5.19)

2. (अ) 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' छा० (3.4.1)
   (ब) 'नेह नानास्ति किंचन' बृ० (4.4.19)
   (स) 'एकमेवा द्वितीयम्' छा० - (6.14.1)
   (द) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' - एतरेय० (2.1.1)

नहीं बनाया जा सकता । चैतन्य आत्मा का गुण नहीं है, उसका स्वरूप लक्षण है । आत्मा का अस्तित्व स्वप्रमाणित है । आत्मा विभु है । अद्वैत, निरवयव, देशकालातीत, परमार्थ और परम सत् है । आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि जो निषेध कर रहा है, वही आत्मा है । अनन्त आत्मा और परमात्मा एक ही है । पर अविद्या जनित शरीर के कारण आत्मा सीमित जीवात्मा की तरह प्रतीत होता है । आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती, जैसे सूर्य के प्रकाश को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती ।

आत्मा ज्ञान स्वरूप भी है और ज्ञाता भी है । आत्मा आत्मा को जानता है ।[1] इस वाक्य में कर्ता रूप आत्मा कर्म रूप आत्मा एक ही है । शंकराचार्य के अनुसार इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और शरीर की उपाधियों से घिरा हुआ और पृथक् किया गया आत्मा ही जीव है । अनन्त चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही जीव है । इसे प्रतिबिम्ब वाद कहते हैं । कुछ अद्वैतवादी अन्य उपमा का सहारा लेते हैं, जैसे आकाश सर्वव्यापी है । पर उपाधि भेद से घटाकाश और मठाकाश रूपों में आभासित होता है । उसी प्रकार सर्वव्यापी ब्रह्म अविद्या के कारण नाना जीवों और जगत् के रूप में प्रतीत होता है । मुक्ति का अर्थ अविद्या मूलक उपाधियों को तोड़कर निरुपाधि ब्रह्ममय हो जाना है ।

अत: आत्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है । मोक्ष का अर्थ ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान है ।

----

1. 'आत्मा आत्मानं जानाति' --

विशिष्टाद्वैतवाद स्थापन

आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म चित् और अचित् से विशिष्ट है। अतः इसे विशिष्टाद्वैत कहा है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म निर्विशेष नहीं सविशेष है। जीव और जगत् उसे विशिष्ट करते हैं। जीव और ईश्वर में अद्वैत अवश्य है, पर एक विशिष्ट प्रकार का अद्वैत है। शंकर आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानते हैं, पर आचार्य रामानुज के अनुसार आत्मा ज्ञान नहीं ज्ञाता है। आत्मा स्वयं तो अणु है, पर उसका धर्म भूतज्ञान विभु है। सुख दुःखादि विकार धर्मभूत ज्ञान के विकार या परिणाम हैं। ज्ञान चेतन आत्मा तथा ईश्वर का गुण है। ज्ञान आत्मा पर आश्रित है, क्योंकि आत्मा के बिना ज्ञान की सिद्धि संभव नहीं है। आत्मा और ज्ञान का संबंध दीपक और उसके प्रकाश-सा है। आभा दीपक है और ज्ञान उसका प्रकाश है। अद्वैतवादी आत्मा को विभु बतलाते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी उसे अणु मानते हैं। अद्वैत मत में जीव स्वभावतः एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है। रामानुज के अनुसार जीव अनन्त हैं और एक दूसरे से भिन्न हैं। चिनगारी जिस प्रकार अग्नि का अंश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। अतः जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव या विशेषण-विशेष्य संबंध है। जीव और ईश्वर में अभेद सूचक एकता नहीं है, क्योंकि जीव अल्पज्ञ और सर्वज्ञ है। पर ईश्वर प्रत्येक जीव में भीतर से व्याप्त है, उसका अन्तर्यामी है। जीव और ईश्वर एक नहीं हो सकते। जिस प्रकार अंश-अंशी पर गुण-द्रव्य पर, विशेषण विशेष्य पर निर्भर करता है, उसी प्रकार जीव ईश्वर पर निर्भर करता है। इसीलिए ईश्वर की शरण में गये बिना जीव का कल्याण नहीं हो सकता। ईश्वर की शरणागति 'प्रपत्ति' ही जीव के लिये सर्वश्रेष्ठ साधन है।

आचार्य रामानुज ने 'तत्वमसि' शब्द का अर्थ विशेष प्रकार से किया है। उसमें तत् 'वह' का अर्थ है वह ईश्वर जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सृष्टि का कर्ता है, तथा त्वम् 'तुम' का अर्थ है वह ईश्वर जो अचेतन शरीर से विशिष्ट जीव में 'अचित् विशिष्ट जीव शरीरक' है। ईश्वर के एक विशिष्ट रूप तथा दूसरे विशिष्ट रूप में अभेद है। इसीलिये इसे विशिष्टाद्वैत-कहते हैं। ब्रह्म इन दो प्रकारों में विद्यमान है।

रामानुज के अनुसार शरीर और आत्मा दोनों ही सत्य हैं। ब्रह्म के अचित् अंश से शरीर की उत्पत्ति होती है और आत्मा नित्य चित् तत्व है। वह भी ईश्वर का अंश है। आत्मा सूक्ष्म होने से भौतिक तत्व में प्रविष्ट हो सकता है। चैतन्य आत्मा का गुण है और सदैव उसमें वर्तमान रहता है। आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग को चेतनता से भर देता है, जैसे एक छोटा दीपक सम्पूर्ण कोठरी को प्रकाशित कर देता है। आचार्य रामानुज जीवों की अनेकता के समर्थक हैं। मुक्तावस्था में भी जीवों में भिन्नता बनी रहती है। मुक्त जीवों में गुणात्मक भेद नहीं, पर संख्यात्मक भेद है। जीवात्मा अनन्त हैं। जीव तीन प्रकार के होते हैं --

1. बद्ध, 2. मुक्त, 3. नित्य।

संसार में उत्पन्न शरीरस्थ और बद्ध जीव हैं। मुक्त जीव भगवान में तदाकार होकर दिव्य शरीर प्राप्त कर लेते हैं। नित्य जीव कभी संसार में नहीं आते वे भगवान् के साथ बैकुण्ठ में निवास करते हैं।

मुक्ति का अर्थ जीवात्मा का ब्रह्म में लीन होना नहीं है क्योंकि जीव अंश है और ब्रह्म अंशी है। ईश्वर साक्षात्कार ही मोक्ष है। मुक्तात्मा

ईश्वर का साहचर्य प्राप्त करता है, तादात्म्यीकरण नहीं । भगवान् की कृपा के बिना मोक्ष असंभव है, भक्ति और प्रपत्ति मोक्ष के साधन हैं ।

तत्वमुक्ताकलाप के `जीवसर` में आचार्य वेदान्त देशिक ने `जीव` का दो प्रकार से विश्लेषण प्रस्तुत किया है -- (क) निषेधात्मक (ख) साकारात्मक । प्रथम प्रकार के अन्तर्गत उन्होंने जीव को शरीर, इन्द्रियों, मन, प्राण एवं बुद्धि से पृथकता सिद्ध की है, और द्वितीय प्रकार के अनुशीलन में जीव के नित्यत्व, अणुत्व, स्वयं प्रकाशत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं कर्म स्वातन्त्र्य को सिद्ध किया है । वेदान्तदेशिक ने यामुनाचार्य का अनुसरण करते हुये `जीव` को शरीर, इन्द्रिय, मन एवं प्राणों से अन्यता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है । इसकेलिए उन्हें सर्वप्रथम चार्वाक से जूझना पड़ा क्योंकि चार्वाक शरीर को ही आत्मा मानता है । चार्वाक ने अपने मत के समर्थन में तर्क प्रस्तुत किया है कि जैसे किण्व आदि मादक द्रव्यों में मादकता अपने आप उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही शरीर में स्वयमेव चैतन्य की उत्पत्ति होती है । इसका खण्डन करते हुये आचार्य वेदान्त देशिक ने कहा है कि मादक पदार्थों में मादकता का गुण पहले से विद्यमान रहता है, जबकि जड़ शरीर में `चैतन्य` सर्वदा अविद्यमान रहता है, अत: मादक द्रव्यों का दृष्टान्त सर्वथा अनुपयुक्त है ।[1]

वेदान्त देशिक के अनुसार आत्मा देह से भिन्न है, क्योंकि ये मेरे हाथ, ये मेरे पैर आदि अनुभव जिसको होता है, वह शरीर से भिन्न आत्मा

----

1. `किण्वादीनां संसर्ग विशेष मद शक्ति: ।`
-- सर्वार्थ सिद्धि, - 2.1

है ।[1] लोकाचार्य ने 'यह मेरा शरीर' और 'यह शरीर' इन प्रत्ययों से आत्मा की सिद्धि की है ।[2] यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने देह, इन्द्रिय मन एवं प्राण से विलक्षण आत्मा के अस्तित्व के विषय में 'यह मेरा शरीर' इस अनुभव को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है । न्याय वैशेषिक ने शरीर से पृथक् आत्मा की सिद्धि इस तथ्य से की है कि यदि शरीर आत्मा होता तो हाथ पैर आदि के नाश से आत्मा का भी नाश हो जाता परन्तु ऐसा नहीं होता । वेदान्त देशिक ने शरीर को आत्मा मानने वालों से प्रश्न किया है कि आत्मा शरीर के सभी अवयवों में रहता है या किसी एक अवयव में । यदि प्रत्येक अवयव में आत्मा मानें तो शरीर में बहुत सी आत्मायें हो जायेंगी । और उनमें परस्पर कलह होगी । फलत: चैतन्य वीतराग हो जायेगा, और वीतराग हो जाने पर कोई भी कार्य नहीं कर पायेगा ।[3] वीतराग का तो जन्म भी नहीं होता । यदि एक ही अवयव

----

1. 'यो मे हस्तादि वर्ष्मेत्यवयमनिवहात् भातिभिन्न स एक: ।'

-- तत्वमुक्ताकलाप - 2.1

2. 'आत्मस्वरूपं कथं देहादिविलक्षणमितिचेद् ? देहादीनां मम देहादिक नित्यात्मन पृथगुपलभ्यमानात्वात्, इदमित्युपलभ्यमानात्वात् ।'

-- तत्वत्रय, पृ0 6.

3. 'ननु मनुष्यो हं ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादौ सर्वत्राहं प्रत्यये शरीरस्यैव विषयत्वाच्छरीरमेवात्मेति चेन्न । शरीरस्यात्मत्वे करणादिनाशे सति शरीरनाशरात्मनोऽपि नाश प्रसंगात् ।।'

-- तर्कदीपिका, पृ0 13.

में चैतन्य मानें तो उस अंश विशेष के अभाव या अयोग्य होने पर पिछले अनुभव की कोई स्मृति नहीं रहेगी । वर्तमान के अनुभव में भी चैतन्य के एकांश में स्थित होने पर सुख दु:ख का अनुभव पूरे शरीर को नहीं हो पायेगा ।[1]

यदि अवयवों के संघात को आत्मा माना जाये तो भी संभव नहीं, क्योंकि जब एक अंग में आत्मा नहीं तो वह अंगों के समाहार में भी कैसे हो सकती है ? संघात-मानने पर एक अन्य दोष यह है कि शरीर घट-पट आदि की भांति चैतन्य शून्य हो जायेगा ।[2] संघात एक दूसरे के लिए होते हैं जिसका वह स्वार्थ साधन करते हैं । चैतन्य संघात रूप नहीं क्योंकि वह किसी अन्य के स्वार्थ के लिए अस्तित्व नहीं रखता । बहुत सारे चैतन्यों का संघात मानने पर उनमें परस्पर ईर्ष्या, असूया हो जायेगी ।[3]

आत्मा शरीर से पृथक् है क्योंकि शरीर क्षेत्र है और आत्मा क्षेत्रज्ञ है । स्मृतियों के अनुसार भी शिर-हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त शरीर से

----

1. प्रत्येकं चेतनत्वे बहुरिह कलहो वीतरागो न जात: ।

-- तत्वमुक्ताकलाप, 2.1

2. `वीतराग जन्म दर्शनात् ।`

-- अ0 लТ0 - 2.1

3. (क) दासगुप्ता, एस0 एन0 : भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड 3, पृ0 133.

(ख) `बहूनां हि चेतनानां कार्यवशात् संहतानामपि - परस्परमीर्ष्या-रूपादयो दृश्यन्ते ।`

-- सर्वार्थसिद्धि - 2.1

पुरुष (आत्मा) अतिरिक्त है ।[1]

जीव भेद

विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव को तीन भागों में विभक्त किया गया है --

(1) बद्धजीव

(2) मुक्त जीव

(3) नित्य जीव[2]

1. बद्ध जीव :

बद्ध जीव वे चेतन विशेष हैं जिनका संसार अनुवर्तित होता रहता है । ये जीव चौदह भुवनात्मक अण्डकटाह के अन्तर्गत निवास करते हैं । ऐसे जीव ब्रह्मा से लेकर कीट-पर्यन्त हैं ।[3] बद्ध जीवों की स्थिति इस प्रकार है कि जिनका प्रकृति से संसर्ग बना हुआ है । प्रकृति से सम्बन्ध होने पर ही

----

1. (अ) इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

-- भ० गी० - 15.1

(ब) क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

-- भ० गी० - 15.2

2. 'स जीवस्त्रिविधः - बद्धमुक्तनित्यभेदात् ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 186.

3. (क) 'तत्र बद्धानाम, अनुवृत्तसंसाराश्चतुर्दशभुवनाण्डकटाहवर्तिनो ब्रह्मादि-कीट पर्यन्ताश्चेतनविशेषाः ।'

-- वही, पृ० 186.

(क्रमशः...)

जीव संसार में संसरण करते हैं । प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण ही वह पाप-पुण्य रूप कर्मों को करता है । इन पाप-पुण्य रूप कर्मों को करने के कारण ही उन जीवों का स्वाभाविक स्वरूप तिरोहित हो जाता है । अर्थात् यह आत्मा स्वभावत: कर्मबन्ध, विनिर्मुक्त, जरा, मृत्यु, शोक, बुभुक्षा तथा पिपासारहित एवं सत्यकाम तथा सत्य-संकल्पों वाला है ।[1] इसीलिए वह संकुचित ज्ञान वाला होकर संसार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक नामक तापत्रय रूपी क्लेश, कर्म आदि कर्मों के परिणाम तथा उनकी वासना से दूषित अन्त:करण वाला बनकर अपने किये हुये कर्मों के परिणामस्वरूप सुख-दु:ख आदि का अनुभव करता है । बद्ध जीवों का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है कि शरीर रूपी एक ही वृक्ष में विद्यमान जीव नियाम्या माया के द्वारा ग्रस्त होकर, अप्रिय संयोग तथा प्रियजन विप्रयोग रूप शोकों का अनुभव करता है ।[2] तथा सदा-साथ-साथ रहने वाले परस्पर में सुहृद आत्मा एवं परमात्मा रूपी दो सुपर्ण `पक्षी`

(ख) बद्धो मुक्तो नित्य इति जीव: स त्रिविधो मत: ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता बद्धा: संसार योगिन: ।।
-- वेदान्तकारिकावली - वा0 6.

1. `एष आत्माऽपहततपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजि घत्सो-ऽपिपास: सत्यकाम: सत्य संकल्प: ।`
-- छान्दोग्य उपनिषद् - 8.1.5
मैत्रायणी उपनिषद् - 7.7

2. `समाने वृक्षो पुरुषो निमग्नो नीशया शोचति मुह्यमान: ।`
-- मुण्डकोपनिषद् - 3.1.2
श्वेताश्वतरोपनिषद् - 4.6

एक ही इस शरीर रूपी वृक्ष पर निवास करते हैं । उनमें एक 'जीवात्मा' उस कर्मजन्य शरीर रूपी वृक्ष के फल का भोग करता है, और दूसरा 'परमात्मा' उन कर्मों या कर्म फलों से सदा असंपृक्त रहकर निरंतर हृष्ट-पुष्ट एवं देदीप्यमान रहता है ।[1] बद्धजीव अपने पूर्वकृत पुण्य-पाप रूपी कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार की विचित्र अच्छी-बुरी योनियों को प्राप्त करता है । बद्ध जीवों के अन्तर्गत ब्रह्मा से लेकर एक तृण-पर्यन्त आते हैं । बद्ध जीव जिन शरीरों को प्राप्त करते हैं, उन शरीरों को चार भागों में विभक्त किया जाता है --

1. देव शरीर
2. मनुष्य शरीर
3. तिर्यक् शरीर
4. स्थावर शरीर

1. देव सृष्टि का वर्णन

भगवान् नारायण के नाभि कमल से सर्वप्रथम ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई । ब्रह्मा से रुद्र की उत्पत्ति होती है । पुन: ब्रह्मा से सनक आदि योगियों की उत्पत्ति होती है, सनकादि योगी चार हैं -- (1) सनक (2) सनन्दन (3) सनत् (4) कुमार । ब्रह्म से ही नारद आदि देवर्षि तथा वसिष्ठ आदि

----

1. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन् चान्य: अभिचाकशीति ।'
-- क० उ० 2.3.17. मा० उ० ता० - 1.1
-- मु० - 3.1.1. भ्व० सं० 2.2
-- श्वे० - 4.6

ब्रह्मर्षि उत्पन्न हुये तथा ब्रह्मा से ही नव प्रजापतियों की उत्पत्ति हुई है ।[1]

नव प्रजापति :

1. भृगु, 2. पुलस्त्य, 3. पुलह, 4. क्रतु -- 5. अंगिरा, 6. मरीचि, 7. दक्ष, 8. अत्रि, 9. वसिष्ठ । पुराणों में इनको नव ब्रह्मा भी कहा गया है । देव सृष्टि में ही दश दिक्पालों की उत्पत्ति हुई --

दशदिक्पाल :

1. इन्द्र, 2. अग्नि, 3. यम, 4. निरृति, 5. वरुण, 6. वायु, 7. कुबेर, 8. शंकर (ईशान) 9. अनन्त, 10. ब्रह्मा -- ये दश दिक्पाल हैं ।

चौदह मनु

चौदह मनु और चौदह इन्द्र भी इन प्रजापतियों से ही उत्पन्न होते हैं --

1. स्वायम्भु मनु, 2. स्वारोचिष्ट मनु, 3. उत्तम मनु, 4. तामस मनु,

----

1. भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा ।
मरीचिं दक्षमत्रिं च वसिष्ठं चैव मानसान् ।।
नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गता: ।
-- विष्णु पुराण - 1.7.5-6

5. रैवत मनु, 6. चाक्षुस मनु, 7. वैवस्वत मनु, 8. सावर्णि मनु, 9. दक्ष सावर्णि मनु, 10. ब्रह्म सावर्णि मनु, 11. धर्मसावर्णि मनु, 12. रुद्र पुत्र सावर्णि मनु, 13. रुचि मनु, 14. भौम मनु । ये चौदह मनु हैं ।

चौदह इन्द्र

प्रत्येक मनुओं के काल में भिन्न इन्द्र भी होते हैं । इस प्रकार मन्वन्तर-भेद से इन्द्रों की संख्या भी चौदह हो जाती है । वे इन्द्र ये हैं -- 1. इन्द्र, 2. विपश्चित इन्द्र, 3. सुशान्ति इन्द्र, 4. शिव इन्द्र, 5. विभु इन्द्र, 6. मनोजव इन्द्र, 7. पुरन्दर इन्द्र, 8. वलि इन्द्र, 9. अद्भुत इन्द्र, 10. शान्ति इन्द्र, 11. वृष इन्द्र, 12. ऋतु धामा इन्द्र, 13. दिवस्पति इन्द्र, 14. शुचि इन्द्र ।

आगे असुर, पितृगण, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, विद्याधर आदि देव योनियां ब्रह्म के मानस पुत्रों से उत्पन्न होती हैं । उनसे ही वसु गण उत्पन्न होते हैं ।

एकादश रुद्र

एकादश रुद्रों की भी उत्पत्ति ब्रह्मा के मानस पुत्रों से होती है - मन्यु, मनु, महिम्नस्, महाशिव, कृतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव, धृतव्रत, रुद्र ये एकादश रुद्र हैं ।

द्वादशादित्य

आदित्यों की संख्या भी बारह है । इन्हें सूर्य भी कहते हैं । धाता,

अर्यमा, मित्र, वरुण, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, अंश, भग, त्वष्टा, विष्णु ।

अश्विनी कुमारों की संख्या दो मानी जाती है ये भी देव सृष्टि में आते हैं, इन्हें देवताओं का वैद्य भी कहा जाता है । दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच एवं गुह्यकों की भी उत्पत्ति ब्रह्मा के मानस पुत्रों से होती है । इस प्रकार देवताओं की अनेक प्रकार की योनियां हैं । जो देव सृष्टि के अन्तर्गत आते हैं जिन्हें देव शरीर कहा जाता है ।[1]

2. <u>मनुष्य शरीर</u>

मनुष्य योनि के जीवों को सामान्यतया - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र - इन चार भागों में विभक्त किया गया है ।[2]

----

1. श्रीमतोनारायणस्य नाभिकमलादुत्पन्नो ब्रह्मा । ब्रह्मणो रुद्रः, पुनर्ब्रह्मणो सनकादियोगिनो नारदादिदेवर्षयो वसिष्ठादि ब्रह्मर्षयः पुलस्त्यमरीचिदक्ष कश्यपादिनवप्रजापतयश्च बभूवुः । तेभ्यो देवा दिक्पालकाश्चर्तुदशेन्द्रा श्चतुर्दशमनवो सुराः पितरस्सिद्ध-गन्धर्वकिन्नर किम्पुरुष विद्याधरादयो वसवो रुद्रा आदित्या अश्विनो दानव यक्षराक्षसपिशाच गुह्यकादयश्च एवं देवयोनयो बहुविधाः ।

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 186

2. 'मनुष्या अपि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यशूद्रादिजातिभेदाद्बहुविधाः ।'

-- वही, पृ० 186.

3. तिर्यक् शरीर

तिर्यक् योनि के जीवों में भी पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, पतंग, कीट आदि इस तरह कई भेद हैं ।[1]

4. स्थावर शरीर

स्थावर योनि के जीवों में - वृक्ष, गुल्म, लता विरुध तृण आदि अनेक भेद होते हैं ।[2]

स्थावर योनि के सम्बन्ध में किसी ने प्रश्न किया कि वृक्ष आदि को जीव कैसे कहा जाय ? क्योंकि वे चैतन्य शून्य हैं, और जीव के लक्षण में चेतनत्व धर्म भी अन्त:प्रविष्ट है । अत: अचेतन को जीव नहीं कहना चाहिए ।

परन्तु इसका खण्डन करते हुये आचार्य श्रीनिवास ने कहा कि स्थावर वृक्षादि के जीव मानने में कोई आपत्ति इसलिये नहीं है, क्योंकि वे चेतन हैं । चैतन्य आश्रय होना ही चेतनत्व कहलाता है । वृक्षादिकों में भी ज्ञान है, उसी के द्वारा वे जल, खाद का शोषण करते हैं ।[3]

----

1. 'तिर्यञ्चोऽपि पशुमृगपक्षिसरीसृपपतङ्गकीटादिभेदाद्बहुविधा: ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 187.

2. 'स्थावरा अपि वृक्ष गुल्म लता वीरुत्तृणादि भेदाद्बहुविधा: ।'

-- वही

3. 'वृक्षादीनांजलाहरणाद्युपयुक्त किञ्चिज्ज्ञानसम्बन्धोऽस्त्येव ।'

-- वही

जीवों का प्रकारान्तर से चार भेद

जीवों की स्थितियों को देखते हुये पुन: चार भेद किये जाते हैं --

1. जरायुज
2. अण्डज
3. उद्भिज
4. स्वेदज

ये चार भेद अलग से इनकी परिभाषा इस प्रकार है --

1. जरायुज

इस प्रकार के जीवों की उत्पत्ति इस प्रकार है कि गर्भ के ऊपर अत्यन्त पतले चमड़े की जो एक झिल्ली पड़ी रहती है, उसे जरायुज कहते हैं। जराय से उत्पन्न होने वाले जीव जरायुज कहलाते हैं। अत: वे सभी जीव जो गर्भ से उत्पन्न होत हैं, वे जरायुज कहलाते हैं। देवता एवं मनुष्य जरायुज जीवों के अन्तर्गत आते हैं। इनमें भी कुछ ऐसे जीव हैं, जो मां की योनि से नहीं उत्पन्न हैं।

जैसे -- देवताओं में ब्रह्मा, रुद्र, सनकादि अयोनिज हैं।

मनुष्यों में सीता, द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्न अयोनिज हैं। भूत वेताल भी अयोनिज हैं। इनकी उत्पत्ति किसी मां के गर्भ से नहीं हुई है। कुछ तिर्यक जीव भी जरायुज होते हैं जैसे -- पशु, मृग आदि।

2. अण्डज

इन जीवों की उत्पत्ति अण्डे से होती है। जिसे अण्डज जीव कहा जाता है। जैसे -- पक्षी, सरीसृप।

3. उद्भिज

इन जीवों की उत्पत्ति पृथ्वी को फाड़कर होती है, इसलिए इन्हें उद्भिज जीव कहा जाता है । जैसे -- वृक्ष, लता, गुल्म, अनाज आदि ।

4. स्वेदज

इस प्रकार के जीवों की उत्पत्ति पसीने या स्वेद कणों से होती है, जिन्हें स्वेदज जीव कहते हैं । जैसे -- यूका, आदि ।[1]

ये सभी जीव बद्ध कोटि में आते हैं । इनका संसार सदा अनुवर्तित होता रहता है । अनादि काल से प्रवृत्त अविद्या के वशावर्ती बनकर ये तापत्रय का अनुभव करते रहते हैं । तापत्रय तीन प्रकार के दुःख हैं, जिन्हें सभी संसारी जीवों को अनुभव करना पड़ता है । ये तापत्रय निम्न हैं--

1. आध्यात्मिक दुःख
2. आधिभौतिक दुःख
3. आधिदैविक दुःख

संसार में ऐसा कोई जीव नहीं है, जो इनमें से किसी न किसी प्रकार के दुःख से ग्रस्त न हो । बद्ध जीव स्वभावतः प्राप्त परमात्मानुभव से प्रायः

----

1. एते पुनर्जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाश्च भवन्ति । देवमनुष्या जरायुजाः । तेषु ब्रह्मरुद्रादयस्सनकादयश्च सीता द्रौपदी धृष्टद्युम्नप्रभृतयो भूत वेतालदयश्चायोनिजाः । तिर्यगादश्च जरायुजा अण्डजास्वेदजाश्च भवन्ति । स्थावरादय उद्भिज्जाः ।।

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 187.

पराङ्मुख रहा करते हैं ।[1]

इस जीव के किये हुये अनादि काल के कर्मों का समूह जब एक साथ उत्पन्न होता है, तो जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज, इन चार प्रकार के शरीरों को धारण करता है । इन चारों शरीरों में अहंकार और ममता से युक्त जो चेतन है - वह बद्ध चेतन 'जीव' है । ऐसा ज्ञानी महापुरुषों ने कहा है ।[2]

इस जगत् में दो प्रकार के चेतन 'जीव' हैं, एक तो बद्ध चेतन और दूसरा मुक्त चेतन है । ऐसा सनन्दादिक, नारद, अगस्त्य, वसिष्ठ आदि महर्षियों ने स्वीकार किया है । बद्ध चेतन भी दो प्रकार का माना गया है ।[3]

बद्धजीवों के भी दो भेद होते हैं -- शास्त्रपरतन्त्र तथा शास्त्र-अपरतन्त्र ।

----

1. अनन्तप्रकारातिदुस्सहतापत्रयभितप्ताः स्वतः प्राप्त भावदनुभव-
विच्छेदवन्तश्च ।
-- यतीन्द्रमतदीपिका - पृ0. 187.

2. अनादिकर्मोत्करजात वाना देहाभिमानी सुमतोथ बद्धः ।
स चाच्युताहेतुकृपाकटाक्षातोऽविधाक्रियावासरुचि प्रवृत्तेः ।।
-- वैष्णव धर्मरत्नाकरः

3. महर्षिवर्यैः बद्धमुक्तप्रभेदतो मन्यत चेतनो द्विधा ।
बद्धोपि तत्रास्ति मुमुक्षवश्च बुभुक्षावरपेति प्रभेदतो द्विधा ।।
-- वैष्णव धर्मरत्नाकर

शास्त्र परतन्त्र उन जीवों को कहा जाता है जिन जीवों में ज्ञान के आधीन इन्द्रियां होती हैं ।

शास्त्र-अपरतन्त्र में वे जीव होते हैं जिनकी इन्द्रियां ज्ञान के आधीन नहीं होतीं जैसे -- तिर्यक् एवं स्थावर जीव हैं । शास्त्रपरतन्त्र जीव भी दो प्रकार के होते हैं'--

1. बुभुक्षु

2. मुमुक्षु

1. बुभुक्षु -- बुभुक्षु जीव वे हैं, जो भोगों को चाहते हैं । `भोक्तुमिच्छु:` यह बुभुक्षु शव्द की व्युत्पत्ति है ।[1]

संसार के विषयों का भोग करने की इच्छा वाला जो बद्ध चेतन है, उसे विद्वानों ने `बुभुक्षु` जीव इस नाम से बताया है ।[2]

----

1. (क) ते द्विविधा: - शास्त्रवश्यास्तदवश्याश्च । तयोर्मध्ये करणायत्तज्ञानानां बद्धानां शास्त्रवश्यतास्ति । तिर्यक्स्थावरादीनां तन्नास्ति । शास्त्रवश्या द्विविधा: बुभुक्षावो मुमुक्षुवश्येति ।
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 191

(ख) बुभुक्षुमुमुक्षुभेदेन बद्धजीवनां द्वैविध्यम् ।
-- वेदान्तकारिकावली, पृ० 90.

2. सांसारिक भोगमिच्छुर्बुभुक्षुरन्य: खलु कथ्यते बुधै: ।`
-- वैष्णवधर्मरत्नाकर:, पृ० 368.

धर्म, अर्थ, काम, इस त्रिवर्ग की ईषणा वाला जीव भी बुभुक्षु श्रेणी में माना जाता है ।[1]

पुरुषार्थ चार प्रकारों में विभाजित है --

1. अर्थ, 2. धर्म, 3. काम एवं 4. मोक्ष । यह चार पुरुषार्थ हैं । इनमें धर्म, अर्थ, काम - इन तीन पुरुषार्थों का नाम त्रिवर्ग है ।[2] बुभुक्षु जीवों की निष्ठा इस त्रिवर्ग की ही प्राप्ति में रहती है, वे इनको प्राप्त करना चाहते हैं ।

बुभुक्षु जीवों की गणना भी दो प्रकार से की जाती है[3] --

1. अर्थ कामपर
2. धर्मपरायण

1. अर्थ एवं कामपर

ऐसे जीव किसी भी प्रकार से सम्पत्ति प्राप्त करके अपनी कामनाओं

----

1. `त्रैवर्गिकार्थ निष्णाता बुभुक्षव उदाहृता: ।`
-- वेदान्त कारिकावली, पृ0 90

2. (क) `त्रयाणाम् - धर्मअर्थकामानां वर्ग: - समुदाय: त्रिवर्ग: ।`
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 193.

(ख) `धर्मअर्थकामाख्यि-वर्ग:, तद्रूपेऽर्थे विषयेनिष्ठातास्तत्परा बुभुक्षव इत्यर्थ: ।।`
-- वेदान्त कारिकावली, टीका, पृ0 90

3. `ते च द्विविधा: - अर्थकामपरा धर्मपराश्चेति ।`
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 191.

को पूर्ण करना चाहते हैं। काम एवं अर्थ की प्राप्ति के लिए धर्माधर्म का विचार नहीं रखते हैं। उनका एक मात्र लक्ष्य होता है धन कमाना और अपनी अधिक से अधिक इच्छाओं की पूर्ति करना। केवल अर्थ और काम में प्रेम रखने वाले देहात्माभिमानी जो देह को आत्मा मानते हैं, जिसमें दर्प, दम्भ, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता, अज्ञान, आदि आसुरी सम्पत्तियां हैं। जो अपने को ही ईश्वर मानते हैं, जगत् को निरीश्वर कहते हैं। 'मैं ही सुखी हूं'। भोगी, सिद्ध, बलवान्, धनवान्, जनवान् आदि अपने को ही मानते हैं। अहंकार, बल, काम, क्रोध, लोभ आदि का आश्रय लेकर केवल दूसरे को कष्ट देने में आनन्द अनुभव करते हैं। जो सदा कामिनी और कांचन के दास बने हुये हैं। इस शरीर से जितना आराम कर लो उतनी ही जीवन की सफलता है। देह को छोड़कर कोई न तो आत्मा नामक पदार्थ है और न कोई लोक परलोक है। धर्माधर्म कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार की धारणा वाले जीवों को ही अर्थ एवं कामपरक जीव कहा जाता है।[1]

2. धर्मपरायण --

ये दूसरे प्रकार के बुभुक्षु जीव हैं। जो धर्मपरायण होते हैं। ये भी धन एवं काम का सेवन करते हैं, किन्तु शास्त्र-विहित मार्ग से ही सम्पत्ति का अर्जन करके शास्त्रीय मर्यादाओं का पालन करते हुये काम का सेवन करते हैं। ऐसे जीवों में कार्य करने के पूर्व धार्मिक मर्यादा का सर्वप्रथम

----

1. (क) 'केवलार्थकामपरा देहात्माभिमानिन:।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 191

(ख) 'अर्थकामपरास्तत्रस्वेदहात्माभिमानिन:।'

-- वेदान्त कारिकावली, का0 7, पृ0 90

ध्यान रखने की प्रवृत्ति होती है । शास्त्रों में तत्-तत् पुरुषार्थों के लिए वर्ण एवं आश्रम के अनुसार जीवन यापनार्थ तत्-तत् कर्त्तव्य कर्मों का निर्देश किया गया है । वे निर्दिष्ट कर्तव्य ही धर्म हैं । अलौकिक श्रेय साधन ही धर्म है, वेद विहित कर्म ही धर्म है, इसके अनुसार यज्ञ, दान, तप, तीर्थयात्रा आदि कर्म योग में निष्ठा रखने वाले । धर्म में निष्ठा रखने वाले पुरुष देहात्माभिमानी नहीं होते हैं । वे देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि इन पांचों से विलक्षण रूप में जीवात्मा को समझने वाले होते हैं । इनमें अभय सात्विकता आदि दैवी गुण रहते हैं , इन्हें परलोक पर विश्वास होता है ।[1]

धर्म का लक्षण करते हुये महर्षि जैमिनि कहते हैं कि शास्त्र जिन कार्यों को कर्तव्य रूप से करने के लिए प्रेरित करते हैं, उन कार्यों का अनुष्ठान ही धर्म है ।[2] भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कियज्ञ, दान एवं तपस्या, इन कार्यों का अनुष्ठान - आजीवन करना चाहिये । इनको कभी भी नहीं[3] त्यागना चाहिये । ये कर्म मनुष्यों को पवित्र बना देते हैं । धर्मपरायण

----

1. धर्म पराश्य अलौकिक श्रेयस्साधनं धर्मः ।

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 191

2. ते तु धर्मपरास्तत्र यागाद्यर्थानुष्ठिगणः ।

धर्मस्त्व लौकिकश्रेयः साधनंचोदनोदितम् ।।

-- वेदान्त कारिकावली, का0 - 8.

3. 'यज्ञदानतपः कार्य न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।'

-- पावनानि मनीषिणाम्0 ।

-- श्रीमद्भागवद्गीता

जीव इन कर्मों का अनुष्ठान परलौकिक कल्याण की प्राप्ति की कामना से करते हैं । ये लोग मानते हैं कि इन शरीरादि से भिन्न आत्मा है ।

अतएव जीवनोन्नयन कामियों को शास्त्र निषिद्ध कर्मों का आचरण कभी भी नहीं करना चाहिये ।

धर्मपरयाण जीव भी दो श्रेणियों में परिलक्षित होते हैं --

1. देवतान्तरपर
2. भगवत्पर

देवतान्तरपर जीव

देवतान्तरपरायण जीव ब्रह्मा, रुद्र, अग्नि तथा इन्द्र आदि देवताओं की आराधना करके अपना पारलौकिक कल्याण एवं लौकिक काम्यवस्तुओं को प्राप्त करना चाहते हैं ।

भगवत्परायणं जीव

ये जीव तो सभी प्रकार के किये गये कर्मों के फल प्राप्ति को श्रीभगवान् की ही आराधना से प्राप्त करना चाहते हैं । वे उन्हें ज्ञात है कि देवतान्तरों की आराधना करने पर भी श्री भगवान् सभी देवों के माध्यम से तत्तत् फलों को प्रदान करते हैं । श्रीभगवान् ही सम्पूर्ण देवताओं के स्वामी हैं । अतः भगवान् की आराधना ही सर्वश्रेष्ठ है ऐसा भगवत्-परायण जीव मानते हैं ।

भगवत्परायण जीव भी तीन प्रकार के होते हैं --

1. आर्त
2. जिज्ञासु
3. अर्थार्थी ।[1]

आर्त --

अपने विनष्ट ऐश्वर्य को पुनः प्राप्त करने की इच्छा से श्रीभगवान् की आराधना करने वाले जीव आर्त कहलाते हैं ।

जिज्ञासु --

श्री भगवान की आराधना करके प्रकृति से वियुक्त अर्थात् परिशुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानने वाले जीव जिज्ञासु कहे जाते हैं ।

अर्थार्थी

जिनको पहले से कोई भी ऐश्वर्य प्राप्त नहीं था, किन्तु श्री भगवान् की आराधना करके वे पूर्व में अप्राप्त ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहते हैं ।

इस प्रकार श्री भगवान् ने स्वयं अर्जुन को सम्बोधित करते हुये इन तीनों श्रेणि के जीवों का उद्बोधन करते हुये इनमें ज्ञानी जीव को भी

---

1. (क) धर्मपराः द्विविधाः - देवतान्तरपरा भगवत्पराश्चेति । देवतान्तर परा ब्रह्मरुद्राग्नीन्द्राद्याराधनपराः । भगवत्परास्तु आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थीत्युक्ताधिकारिणः ।

(क्रमशः..)

सम्मिलित कर लिया है ।[1]

मुमुक्षु जीवों का स्वरूप तथा भेद

शास्त्रवस्थ जीवों का दूसरा भेद मुमुक्षु जीव के रूप में जाना जाता है । मुमुक्षु जीव वे हैं जो त्रिवर्ग से पराङ्मुख रहकर मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ को प्राप्त करना चाहते हैं अर्थात् धर्म, अर्थ, काम इनके अतिरिक्त जो मोक्ष है उसी की प्राप्ति के लिए तत्-तत् साधनों का अनुष्ठान करते हैं ।

मुमुक्षु जीवों के भी दो भेद होते हैं --

1. कैवल्यपारायण जीव
2. मोक्ष पारायण जीव ।[2]

. (ख) `रुद्राधाराधनपरा अन्य देवपरा मता: ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थीत्येवं भागवता: स्मृता: ।।
-- वेदान्तकारिकावली, पृ० 91

1. (अ) `आर्तो भ्रष्टैश्वर्यकाम: । अर्थार्थी अपूर्वैश्वर्य काम: ।`
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 192.

(ब) `जिज्ञासु प्रकृति वियुक्तात्मस्वरूपानुभवेच्छु: ।`
--वेदान्तकारिकावली, टीका

(स) चतुर्विधा भजन्तेमां जना: सुकृतिनोर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।
--श्रीमद्भगवद्गीता, 7.16

2. (क) `मुमुक्षवो द्विविधा: - कैवल्यपरा मोक्षपराश्चेति ।`
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 192

(क्रमश:..)

कैवल्य पारायण जीव

ज्ञान योग के उत्पन्न हो जाने से प्राकृतिक सम्बन्ध से रहित जो ज्ञान स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप आत्मा का रूप है। उसका अनुभव करना ही कैवल्य है। कैवल्य को प्राप्त करने की इच्छा वाले जीव अपने उसी परिशुद्ध रूप का अनुभव करने की कामना से उस प्रकार के साधनों का अनुष्ठान करते हैं।[1] इस कैवल्यानुभव के मार्ग के विषय में विचारकों में मतैक्य नहीं है। प्रथम प्रकार के विचारकों के मत में कैवल्यपारायण जीव भी अर्चिरादि मार्ग से ही परम पद में जाकर अपने ज्ञानन्द स्वरूप आत्मा का स्वयं अनुभव करता है।

अर्चिरादि मार्ग -- श्रीवात्स्यवरदाचार्य अर्चिरादि मार्ग का वर्णन करते हुये कहते हैं कि इस शरीर से उत्क्रमण करने वाला मुक्त जीव चन्द्रलोक के बाद श्री वैकुण्ठ लोक के मार्ग में विरजा नदी के पार करने से पूर्व द्वादश

(स) `मुमुक्षून् परममुक्ति परत्वेन कैवल्याख्य मुक्तिपरत्वेन च द्वेधा विभज्य वर्णयन्ति।`

-- वेदान्तकारिकावली, टीका, 92.

1. (अ) `कैवल्यं नाम ज्ञानयोगात्प्रकृति वियुक्त स्वात्मानुभवरूपम्।`

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 192.

(ब) `मुमुक्षूणां च कैवल्यपराणां लक्ष्य कथ्यते।
प्रकृतेस्तु वियुक्तस्य स्वात्मनोऽनुभव: परम्।`

--वेदान्तकारिकावली, का०सं० 10, पृ० 91

अतिवाहिकों के द्वारा समादृत होता है ।[1]

गीता में भी अर्चिरादि मार्ग का वर्णन करते हुये कहा गया है कि अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छह महीने में गये हुये ब्रह्म वेत्ता जन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ।[2] वस्तुत: छान्दोग्योपनिषद् एवं वरदराजाचार्य ने भी अर्चिरादि मार्ग का स्पष्ट रूप से वर्णन करते हुये कहा है कि कैवल्य मार्ग के विषय में कुछ एकदेशी विचारकों का मत है कि - कैवल्यार्थी जीव प्रकृति मण्डल के ही किसी एक देश में रहकर अपने परिशुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है ।[3] क्योंकि अर्चिरादि मार्ग से जाकर श्री वैकुण्ठ

----

1. (क) 'मुक्तोऽर्चिर्दिनपूर्वपक्षषडुदङ्मासाब्दवातांशुमान् ।
ग्लौविद्युद्वरुणेन्द्रधातृमहित: सीमान्तसिन्ध्वाप्लुत: ।।
श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमज स्वस्मिन् परब्रह्मण: ।
सायुज्यं समवाप्य नन्दति चिरं तेनैव धन्य: पुमान् ।।'
--यतीन्द्रमतदीपिका, टीका, पृ० 195

(ख) 'कैवल्यअर्चिमार्गेण गत्वापि परं पदम् ।'
-- वेदान्त कारिकावली, पृ० 92

2. अग्निर्ज्योतिरहश्शुक्ल: षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना: ।।
-- श्रीमद्भगवद्गीता, 8.24

3. (क) 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्य-
माणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासास्तान् मासेभ्यस्संवत्सरम् ।'
-- छान्दोग्योपनिषद् - 5.10.1

(ख) 'अर्चिरहस्सित पक्षान् उदगयनाद्बमरुदर्केन्दून् ।
अपि वैद्युद् वरुणेन्द्र प्रजापतीन् अतिवाहिकान् प्राहु: ।।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, टीका, पृ० 196

में पहुंचने वाले जीव का स्वभाव होता है कि वह श्रीभगवान् के साथ ही सभी काम्य पदार्थों का अनुभव करता है ।

मोक्षपारायण जीव

सांग एवं ससशिरस्क वेदों का अध्ययन करके पूर्वमीमांसा एवं उत्तर मीमांसा का ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण जिनको यह निश्चय हो गया है कि श्रीभगवान् त्रिविध चेतनों तथा त्रिविध अचेतनों से विलक्षण स्वभाव वाले हैं । वे समस्त त्याज्य दोषों के विरोधी हैं तथा सभी कल्याणकारी गुणों से युक्त हैं । उन श्रीभगवान् की प्राप्ति के साधन रूप भक्ति को अपनाकर वे मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं । मोक्ष[1] पारायण जीव के भी दो भेद होते हैं -- 1. भक्त, 2. प्रपन्न ।

भक्त :

दोनों मीमांसाओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह निश्चय करते हैं कि श्रीभगवान् ही प्राप्य हैं । वेदों का शिरो भाग वेदान्त ही है । वेदान्त और अंगों के साथ वेदों का अर्थात् छन्द: शास्त्र, कल्प, शिक्षा, निरुक्त, ज्योतिष, व्याकरण आदि का अध्ययन करने के पश्चात् अधिकारी वेदार्थों का श्रवण करने में प्रवृत्त होता है । वेदों के अर्थों का निर्णय मीमांसा शास्त्र में किया गया है । पूर्वमीमांसा एवं उत्तर मीमांसा के श्रवण करने के बाद अधिकारी को इस अर्थ का निर्णय हो जाता है कि श्री भगवान् ही जीवों के लिए प्राप्य हैं । श्रीभगवान् की प्राप्ति ही मोक्ष का फल है ।

----

1. 'मोक्षपराश्च द्विविधा: - भक्ता: प्रपन्नाश्चेति ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 196

ऐसा ज्ञान रखकर जो जीव अपने जीवन काल में आचरण करता है, वह ही भक्त है ।[1]

प्रपन्न :

अकिंचन तथा अनन्य गति होकर श्रीभगवान् की शरणागति करने वाले जीव प्रपन्न कहलाते हैं । अर्थात् प्रपन्न जीव श्रीभगवान् को अपना एक मात्र शरण मानते हैं । भगवान् से भिन्न वे अपना न तो किसी को प्राप्त मानते हैं और न तो रक्षक । इस प्रकार की भावना ही भगवान् के प्रति अनन्यगतित्व की भावना है । भगवान् स्वभावत: निर्हेतुक करुणा सागर हैं, अतएव वे अपनी कृपा से ही मुझे भी अपना लेंगे । इस प्रकार की भावना ही श्रीभगवान् के प्रति अकिंचनता की भावना है । इस प्रकार इस आकिंचन्य तथा अन्यन्य गतित्व की भावना से भावित होकर श्री भगवान् को एक मात्र अपना रक्षक मानना ही प्रपन्नों का लक्षण है ।[2] प्रपन्न जीवों के भी दो भेद होते हैं -- त्रिवर्गपारायण और मोक्षपारायण ।

----

1. भक्ता: पुनरधीतसाङ्गसशिरस्कवेदा: पूर्वोत्तरपूर्वमीमांसापरिचया -च्चिदचिद्विलक्षणानवधिकातिशयानन्दरूपं निखिलहेयप्रत्यनीकं समस्तकल्याणगुणात्मकं ब्रह्मावधार्य तत्प्राप्त्युपाय भूतां साङ्गां भक्तिं स्वीकृत्य तया मोक्षं प्राप्तुकामा: ।

-- य० म० दी०, पृ० 196

2. (क) 'आकिञ्चन्यानन्यगतित्व धर्म विशिष्टो भगवन्तमाश्रित: प्रपन्न:। स द्विविध: - त्रैवर्गिक परो मोक्षपरश्चेति ।'

-- वही, पृ० 199

(क्रमश:..)

त्रिवर्गपारायण : ये जीव श्री भगवान् की ही आराधना करके उनसे ही धर्म, अर्थ, काम, को भी प्राप्त करना चाहते हैं। वे अपनी आराधना का विषय किसी दूसरे देवता को नहीं बनाते हैं।[1]

मोक्षपारायण : यह जीव वे हैं, जो सतसंग को प्राप्त कर नित्यानित्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। संसार की अनित्यता को जानकर वे संसार तथा संसार के साधनाओं से उदासीन हो जाते हैं। ऐसा करने के कारण उनके भीतर संसार के प्रति वैराग्य हो जाता है। वे निश्चय कर लेते हैं कि धर्म, अर्थ एवं काम ये तीनों पुरुषार्थ अनित्य हैं। मोक्ष ही एक मात्र नित्य पुरुषार्थ है।[2]

(ख) मुमुक्षव: प्रपन्नाश्चाकिंचन्यादिकयोगिन: ।
त्रैवर्गिक परा मोक्षपराश्चेति च ते द्विधा: ।।
-- वेदान्तकारिकावली, का० सं० 15.

1. (अ) 'त्रैवर्गिकपरो नाम, भगवत एव धर्मार्थ कामाभिलाषी ।'
— यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 199

(ब) 'धर्मार्थकामान् स्वाम्यर्थ येऽन्वतिष्ठंस्त आदिमा: ।'
-- वे० का०, पृ० 95

2. (क) 'मोक्षपरस्तु सत्सङ्गत्या नित्यानित्यपरवस्तु विवेके सति संसारे निर्वेश वैराग्ये उत्पन्ने मोक्षेच्छायां जातायां तत्सिद्ध्यर्थम् ।'
-- य० म० दी०, पृ० 199

(ख) 'सत्सङ्गादर्थवैराग्ये मुमुक्षायां कृतादरा: ।'
-- वे० का० व०, पृ० 95

अकिंचन तथा अनन्यगति होकर भगवान् श्रीमन्नारायण के चरणों को ही मोक्ष प्राप्त करने के साधन रूप से अपनाता है । प्रपत्ति करने में सभी जीवों का अधिकार है । ऐसे ये प्रपन्न जीव भी दो प्रकार के होते हैं--[1] 1. एकान्ती, 2. परमैकान्ती ।

एकान्ती : एकान्ती प्रपन्न जीव श्री भगवान् से ही मोक्ष तथा मोक्ष के साथ-साथ अन्य फलों को प्राप्त करना चाहते हैं ।[2]

परमैकान्ती : ये जीव भगवान् से ज्ञान और भक्ति ही चाहता है । वह ज्ञान और भक्ति से भिन्न वस्तुओं को भगवान् से भी नहीं चाहता है । उसे एक मात्र मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा रहती है । मोक्ष व्यतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं चाहिये । उसे मोक्ष की प्राप्ति परम ज्ञान और परम भक्ति से ही सम्भव है । अतएव वह भगवान् से भी केवल परम ज्ञान और परम भक्ति

----

1. आकिञ्चनोऽनन्यगतिः श्रीमन्नारायण चरणनैपोपायत्वेन स्वीकरोति यः स प्रपन्नः ; प्रपत्तिस्सर्वाधिकारा । प्रपन्नो द्विविधः - एकान्ती, परमैकान्ती चेति ।

-- य० म० दी०, पृ० 199.

2. (अ) 'यो मोक्षफलेन साकं फलान्तराण्यपि भगवत एवेच्छति स एकान्ती ।'

-- वही, पृ० 199.

(ब) 'एकान्तिनः फलं मुक्त्या सहान्यच उशन्ति ते ।'

-- वेदान्तकारिकावली, पृ० 96

से ही सम्भव है । अतएव वह भगवान् से भी केवल परमज्ञान और परमभक्ति को ही प्राप्त करना चाहता है ।[1]

ऐसे परमैकान्ती प्रपन्न जीव के भी दो भेद होते हैं -- 1. दृप्त, 2. आर्त ।[2]

दृप्त : दृप्त प्रपन्न वे होते हैं जो यह जानकर कि प्रारब्ध कर्मो का फल अवश्य भोगना पड़ता है, अतएव वर्तमान शरीर के पातकाल में मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, क्योंकि शरणागति का यह प्रभाव होता है कि उससे इस शरीर के अन्त में ही मोक्ष प्रदान कर देती है ।[3]

----

1. (क) 'भक्ति ज्ञानाभ्यामन्यत्फलं भगवतोऽपि नेच्छति यः स परमैकान्ती ।'

-- य0 म0 दी0, पृ0 199.

(ख) 'परमैकान्तिनस्त्वेच्छन् भगवत्प्रीतिमेव ये ।
प्रारब्धं कर्म भुक्त्वैव यो मोक्षमभिकाङ्क्षति ।'

-- वे0 का0 व0, का0 सं0 19

2. 'स द्विविधः - दृप्तार्तभेदात् ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 199

3. 'अवश्यमनुभोक्तव्यमितिप्रारब्धकर्मानुभवन्नेतद्देहावसान समगमी ये मोक्षमपे क्षमाणो दृप्तः ।'

-- वही, पृ0 199.

आर्त : आर्त प्रपन्न जीव चाहते हैं कि प्रपत्ति करने के पश्चात् ही मेरा यह शरीर छूट जाय । क्योंकि संसार धधकती हुई आग के समान अत्यन्त दु:ख देता है । आग भी जीवों को संतप्त करने का काम करती है । संसार तो तीन प्रकार के तापों से जीवों को संतप्त करता है । वे संताप - आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक हैं । अत: इस असह्य संसार से प्रपत्ति के पश्चात् ही मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं ।[1]

मुक्त जीव वर्णनम्

मुक्त जीव वे हैं जो प्रपत्ति नामक उपाय अर्थात् शरणागति को स्वीकार करने के पश्चात् नित्य-नैमित्तिक कर्मों को भगवान् की आज्ञा एवं अनुज्ञा का कैंकर्य रूप कर्मों का स्वयं प्रयोजन रूप से अनुष्ठान करते हुये तथा भगवदापचार, भागवतापचार का परित्याग करते हुये, देहपात के समय अपने पाप एवं पुण्यों को क्रमश: शत्रुओं तथा मित्रों को प्रदान कर देते हैं । 'वाणी में मन का लय होता है' इस श्रौत वाक्य के अनुसार हृदयस्थ परमात्मा में लीन होकर मुक्ति के द्वार भूत सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके, उसके द्वारा ब्रह्म रंध्र से निकल कर जीव हृदयस्थ परमात्मा के साथ सूर्य

----

1. (क) 'जाज्वल्यमानाग्निमध्यस्थितेरिव संसार स्थितेरति दुस्सहत्वात्प्रपत्त्युत्तरक्षण एव मोक्षकाम आर्त: ।'

-- य० म० दी०, पृ० 199

(ख) 'दृप्तआर्तस्तु संसारे वह्नाविव समुत्पन् ।
प्रपत्त्यनन्तरे काले यो मोक्षमभिकाङ्क्षति ।।'

-- वेदान्तकारिकावली, का० सं० 20, पृ० 97

किरणों के द्वारा अग्निलोक में जाता है।[1] अर्थात् जो प्रपत्ति करने के बाद भी संसारावस्था में आजीवन नित्य नैमित्तिक कृत्यों का अनुष्ठान यह समझकर किया करते हैं कि श्रौत-स्मार्त नित्य-नैमित्तिक कर्म श्रीभगवान् की आज्ञा रूप हैं। भगवान् कहते हैं - श्रुतियों एवं स्मृतियों में प्रोक्त अनुष्ठेय कर्म मेरी आज्ञा रूप है। श्रौत स्मार्त कर्मों का पालन न करना मेरी आज्ञा का उल्लंघन रूप द्रोह है। यही समझकर मुमुक्षु अधिकारी नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान किया करते हैं। इन कर्मों का अनुष्ठान श्री भगवान् की आज्ञा का अनुपालन रूप है। श्रीमन्नारायण की आज्ञा का पालन ही भगवान् का कैंकर्य करना है। अतः भगवान् का कैंकर्य-सम्पादन रूप प्रयोजन

----

1. (क) 'मुक्तोनाम उपायपरिग्रहानन्तरं नित्यनैमित्तिक भगदाज्ञा
नुज्ञाकैंकर्यरूपाणि कर्माणि स्वयम्प्रयोजनतया कुर्वन्,
भगवद्भागवताचार्यापचारांश्चवर्जनयन्, देहावसानकाले
सुकृत दुष्कृते मित्रामित्रयोर्निर्दिशन् वाङ्गमनसीत्यादि-
प्रकारेण हार्द परमात्मनि विश्रम्य मुक्तिद्वारभूतसुषुम्ना
नाड़ी प्रविश्य तया ब्रह्मरन्ध्रान्निष्क्रम्य हार्दनसाऽकंसूर्यकिरण-
द्वाराऽग्नि लोकं गतः।

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 204

(ख) मुक्तोऽर्चिर्दिनपूर्वपक्षषडुदङ्‌मासाब्दवातांशुमद्-
ग्लौविद्युद्वरुणेन्द्रधातृमहितः सीमान्त सिन्ध्वाप्लुतः।
श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजड़ं तस्मिन् परब्रह्मणः
सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमान्॥'

-- वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ० 98

की दृष्टि से मुमुक्षु अधिकारी यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्मों को किया करते हैं।[1]

मुक्त जीव पुन: इस संसार में नहीं आता है।[2] किन्तु स्वेच्छा से तो उनका संचरण संभव ही है। मुक्त जीव भगवान् के संकल्प के अधीन होकर तथा स्वेच्छा से भी सर्वत्र संचरण करता है।[3]

भगवान् ने स्वयं कहा है कि मुक्त जीव न तो सृष्टि काल में उत्पन्न होते हैं और न तो प्रलयकाल में उनका लय होता है।[4] अब यहां प्रश्न बनता है कि मुक्त जीव का सभी लोकों में सचरण है, यह उचित नहीं क्योंकि

----

1. 'आविर्भूतस्वरूपो मुक्तो ब्रह्मानुभूति भाक् ।'
--वेदान्त कारिकावली, का०सं० 21

2. 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।'
-- छान्दोग्योपनिषद्, 8.15.1

3. 'स्वेच्छया स चरणस्योपपत्ते: ।'
--यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 215

4. 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।'
-- भगवद्गीता, उद्धृत - य० म० दी०, पृ० 215.

शास्त्र के अनुसार मुक्त जीव पुन: इस लोक में नहीं आता ।[1] इस प्रश्न का उत्तर देते हुये कहा गया है कि मुक्त जीव का इस लोक में कर्मकृत संचरण नहीं होता है । वह अपनी इच्छा से तो इस लोक में आ ही सकता है । अथवा मुक्त जीव श्री भगवान् के संकल्पाधीन होता है, अतएव श्रीभगवान् के सत्य संकल्प से वह मर्त्य लोक में संचरण कर सकता है । अत: इस प्रकार मुक्त जीवों का सर्वलोकों में संचरण उपपन्न ही है ।[2]

नित्य जीव स्वरूप

नित्य जीव वे हैं जो कभी भी भगवान् के अभिमत के विरुद्ध आचरण करते ही नहीं, अर्थात् वे सदा ऐसा ही आचरण करते हैं, जो श्रीभगवान् के

----

1. (क) 'ननु मुक्तस्यानवृत्तिप्रतिपादानात् अस्मिन् लोके सञ्चार: कथमिति न शङ्कनीयम् ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 215.

(ख) 'मुक्तस्य भोग मात्रे तु साम्यं श्रुतिषु चोदितम् ।
स्वेच्छया सर्वलोकेषु संचारो स्य न रुध्यते ।'

--वेदान्त कारिकावली, का0 सं0 22

2. (क) 'अतो मुक्तो भगवत्सङ्कल्पायत्त: स्वेच्छया च सर्वत्र स चरति ।'

--यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 215

(ख) 'स्वेच्छा च हरिसंकल्पायत्ता मुक्तस्य लभ्यते ।
अनववर्तनशास्त्रं तु कर्मावर्त निषेधकृत् ।'

-- वेदान्त का0 व0, कारि0 सं0 23.

मनोनुकूल होते हैं । अतएव नित्य जीवों के ज्ञान का संकोच और विकास कभी होता ही नहीं है । ऐसे जीव अनन्त, गरुड़ एवं विश्वक्सेन आदि हैं ।[1] इन नित्य जीवों के अधिकार विशेष श्रीभगवान् की नित्य इच्छा से ही व्यवस्थित हैं ।[2] नित्य जीवों के अवतार भी उसी प्रकार स्वेच्छा से होते हैं, जिस प्रकार श्रीभगवान् नारायण के अवतार स्वेच्छा से ही होते हैं ।[3]

0

----

1. (क) नित्यानाम कदाचिदपि भगवदभिमत विरुद्धाचरणभावेन, ज्ञान संकोच प्रसङ्गरहिता अनन्त गरुड विष्वक्सेनादय: ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 215

(ख) नित्या संकुचितज्ञाना नित्यं भगवदासूया ।
तत्कैंकर्यरता नित्या अनन्त गरुडादय: ।।

--वेदान्तकारिकावली, का0 सं0 24.

2. 'तेषामधिकार विशेषा ईश्वरस्य नित्येच्छयैव अनादित्वेन व्यवस्थापिता: ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 215.

3. (क) 'एतेषामवतारादिरिच्छयैव हरेरिव ।
अधिकारिकलामीषामीश्वरेण निरूपिता ।।'

--वेदान्तकारिकावली, कारिका सं0 25

(ख) 'एतेषामवतारास्तु भगवदवतारवत् स्वेच्छयैव ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 215

सप्तम अध्याय

विशिष्टाद्वैत सम्मत ईश्वरवाद

विशिष्टाद्वैत ने सविशेष ब्रह्म का सिद्धान्त स्वीकार किया है, जिसके अनुसार ईश्वर अप्राकृत विग्रहवान् हैं एवं अपने दिव्य गुणों और नित्य विभूतियों से सम्पन्न हैं। ईश्वर का विग्रह शुद्ध सात्विक एवं निज इच्छा निर्मित है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म प्राकृत हेय गुण जैसे -- वृद्धावस्था, मृत्यु, पाप, द्वेष एवं शोक रहित तथा कल्याण गुण जैसे सत्यकाम एवं सत्य संकल्प से युक्त है।[1] छान्दोग्योपनिषद् के बहुचर्चित भाष्यकार `ब्रह्मनन्दि` जिसे आचार्य शंकर ने अपना प्रमाण गुरु माना है एवं `द्रमिड़ भाष्यकार` जिसे आचार्य रामानुज ने अपना आधार उद्घोषित किया है, ईश्वर के नित्य दिव्य विग्रहवान् होने के सिद्धान्त के समर्थक हैं।

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। आदि काल से वह अपनी सहज जिज्ञासा प्रवृत्ति के कारण विश्व के रहस्यों को समझने का प्रयत्न करता आ रहा है। इन रहस्यों को सुलझाने के लिए वह एक अलौकिक, नित्य, पूर्ण, दिव्य एवं सर्वशक्तिमान् सत्ता पर विश्वास भी करता है। इसी सत्ता को वह ईश्वर के नाम से पुकारता है। ईश्वर क्या है उसके स्वरूप और गुण क्या हैं, इस पर सतत् चिन्तन होता रहा है। धार्मिक व्यक्तियों के लिए तो ईश्वर स्वयं सिद्ध सत्ता है।

----

1. `एष आत्मा पहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य संकल्पो।` -- छान्दोग्य उपनिषद् - 8.1.5.

परन्तु दार्शनिक केवल आस्था या विश्वास पर नहीं चलता । वह उस आस्था का विश्लेषण करता है, तथा उसके लिए तार्किक आधार प्रस्तुत करता है । सामान्य व्यक्ति भी अपने विश्वास की तार्किक प्रामाणिकता चाहता ही है । कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रमाण दिये हैं, वहीं उसकी सत्ता को न स्वीकार करने वाले दार्शनिकों ने उन तर्कों का खंडन भी किया है ।

ईश्वर की सत्ता, स्वरूप उसके कार्य तथा जीव और जगत् के साथ उसके सम्बन्ध को लेकर विविध आयामी चिन्तन भारतीय दर्शन में हुए हैं । परिणाम-स्वरूप अलग-अलग दर्शनों में ईश्वर की अवधारणा के भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त होते हैं ।

वैदिक काल में अलौकिक विषयों का प्रतिपादन सहज, सरल एवं अनुभूतिपरक शैली में पाते हैं । परन्तु ज्यों ही दार्शनिक आस्तिक एवं नास्तिक सम्प्रदायों का उद्भव और विकास होता है, श्रद्धा एवं विश्वास का स्थान तार्किक विश्लेषण ले लेता है । चार्वाक्, जैन तथा बौद्ध चिंतकों ने न केवल वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार किया अपितु उसके और भी मान्य सिद्धान्तों का जिनमें ईश्वर प्रमुख है का भी तर्क के माध्यम से खण्डन किया । तर्क तो उस आदमखोर शेर के समान है जिसे एक बार भी यदि मनुष्य का रक्त मिल जाता है तो दूसरा अच्छा नहीं लगता । इसी प्रकार जब नास्तिक एवं निरीश्वर-वादियों ने तर्क का आश्रय लेकर ईश्वर का खण्डन किया तथा जनसामान्य को प्रभावित किया और उनकी आस्था वेद एवं ईश्वर से डांवांडोल होने लगी तो आस्तिक तथा ईश्वरवादी चिन्तकों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे भी श्रद्धा एवं विश्वास के स्थान पर तर्क के ही द्वारा वेद तथा ईश्वर की प्रामाणिकता को सिद्ध करें ।

अद्वैत वेदान्त में ईश्वर

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के तर्कवाद में सूत्रों के माध्यम से सांख्य के प्रकृति-

परिणामवाद का खण्डन किया है।[1] विज्ञान भिक्षु भी सांख्य सूत्र के भाष्य में से अनीश्वरवादी सिद्धान्त को न मानकर सेश्वरवादी माना है।[2] इनके अनुसार पुरुष निरीह और प्रकृति जड़ है। ईश्वर ही प्रकृति को सक्रिय कर संसार की रचना में प्रवृत्त करता है।

अद्वैत वेदान्त में ईश्वर

वेदान्त शब्द के कथन से ही सामान्यत: अद्वैत का बोध लिया जाता है। अद्वैत के अनुसार केवल ब्रह्म ही परमतत्त्व है। वह ही परमार्थ सत् है, उससे परे संसार में कोई वस्तु नहीं है। अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य शंकर अनेक श्रुतियों का उद्धरण देते हुये उद्घोषणा करते हैं कि वह ब्रह्म-अर्थात् ईश्वर स्वयंप्रकाश, दिव्य, निष्क्रिय, निर्गुण, निरवयव तथा अनन्त सच्चिदानन्द हैं।[3] प्रमाणों

----

1. 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्।'

-- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य - 2.2.1

2. 'ईश्वरासिद्धेः।'

-- सांख्य सूत्र

3. (क) 'इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थ नित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितम्, नित्यतृप्तम्, निरवयम्, स्वय ज्योति: स्वभावम्।'

-- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य - 1.1.4, पृ0 58-59.

(ख) 'सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमय: पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेत: प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥'

-- छा0 उ0 - 3.4.1.

(क्रमश:..)

द्वारा वह ज्ञेय नहीं है । ज्ञान का विषय इसे नहीं बनाया जा सकता है । ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, जिसका तीनों काल में बाध नहीं होता । शेष समस्त संसार परिवर्तनशील एवं मिथ्या है । ब्रह्म सजातीय विजातीय भेदों से रहित है, न उसमें कोई जाति है, न गुण, न कर्म, और न वह किसी से सम्बद्ध है । वह निर्गुण, निराधार, समस्त उपाधि विवर्जित होने के कारण स्वगत भेद से भी रहित है । वह निरुपाधि निर्विशेष तथा अवांगमनस-गोचर है । ऐसा यह ब्रह्म ही आत्मा है और अपरोक्षानुभतिगम्य है ।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के दो स्वरूप माने गये हैं । आचार्य शंकर का कथन है कि ब्रह्म का दो रूपों में अनुभव किया जाता है -- 1. नाम रूप आदि उपाधियों से युक्त ब्रह्म को सगुण रूप माना गया है, 2. समस्त उपाधियों से रहित ब्रह्म को निर्गुण रूप माना गया है ।[1] तात्त्विक दृष्टि से दोनों एक ही हैं, उनमें कोई भेद नहीं है ।

सगुण ब्रह्म माया की उपाधि से संयुक्त होने के कारण सोपाधिक, सविशेष ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है ।

निर्गुण ब्रह्म - निर्विशेष और निरुपाधिक ब्रह्म परब्रह्म कहलाता है ।

(ग) `कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसत: सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवा द्वितीयम् ।`

-- छान्दोग्य उपनिषद् - 6.2.2.

(घ) `मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह मानास्ति किंचन ।`

-- बृहदारण्यक उपनिषद् - 4.4.19.

1. `द्विरूपंहि ब्रह्मभावगम्यते, नाम रूप विकार - भेदोपाधिविशिष्टं, तद् विपरीतं च सर्वोपाधि विवर्जितम् ।`

-- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य - 1.1.11.

ईश्वर ही जगत् का पालक, सृष्टा एवं संहारकर्ता है । वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है । सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण और धर्माध्यक्ष है ।[1] वह सर्व ऐश्वर्यसम्पन्न, सर्वव्यापक, तथा जगदीश्वर है । ईश्वर सर्वान्तयामी है । माया ईश्वर की स्वाभाविक शक्ति है, जिसके द्वारा वह नाम रूपात्मक, अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण नानात्मक जगत् की सर्जना करता है । ईश्वर अनन्त, पूर्ण, नित्य तृप्त और आप्तकाम है । सृष्टि रचना में उसका कोई भी प्रयोजन नहीं है ।

आचार्य शंकर एक सूत्र की व्याख्या में व्यक्त किया है कि जिस प्रकार कोई राजा निष्प्रयोजन क्रीड़ा विहार में प्रवृत्त होता है इसी प्रकार ईश्वर भी विना किसी प्रयोजन के लीला या जगत् की सृष्टि करता है ।[2]

तत्वत: ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ।

ईश्वर विश्व का संरक्षक और संहारक है । वह धर्म की रक्षा के लिए अवतार लेता है । वह सबका नियन्ता है । वह सबको कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है । अत: धर्माध्यक्ष और शाश्वत धर्म-गोप्ता है । यद्यपि ईश्वर और जीव दोनों ही चैतन्य-स्वरूप हैं और ब्रह्म के ही प्रतिबिम्ब हैं, परन्तु शंकर दोनों में हिमालय और रजकण सा अन्तर मानते हैं । जीव ईश्वर नहीं हो सकता । ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वसविद्यामान् पूर्ण एवं नित्य शुद्ध-बुद्ध

----

1. 'जन्मस्थितिप्रलयानां क्रम दर्शनात् । वस्तु वृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिण: स्थिति प्रलय संभवात् ।।'

-- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य - 1.1.2.

2. 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम् ।'

-- वही, 2.1.12.33.

मुक्त है, जीव अल्पज्ञ, अपूर्ण एवं बद्ध है। सच्चिदानन्द लक्षण को परब्रह्म का स्वरूप कहा गया है तो ईश्वर के स्वरूप और कार्य उसके तटस्थ लक्षण।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर

अद्वैत वेदान्त तथा वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण स्वरूप विवाद ग्रस्त हैं। अद्वैत की इस धारणा का वैष्णव आचार्यों एवं विचारकों ने विरोध किया तथा परम तत्व ब्रह्म - सगुण ही है -- ऐसा प्रतिपादित किया।

वैष्णव आचार्यों में स्वामी रामानुज का स्थान सर्वोपरि है। ईश्वर को चिदचिद्विशिष्ट मानने के कारण इनका वेदान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है।[1] चित् जीवात्मा है, अचित् जड़ प्रकृति। जीवात्मा और प्रकृति दोनों ही ईश्वर के साथ अपृथक् रूप से संयुक्त हैं -- तथा ईश्वर के ही समान नित्य तथा सनातन सत्तायें हैं। ब्रह्म इन दोनों से विशिष्ट है।

आचार्य रामानुज तथा अन्य वैष्णव आचार्य निम्बार्क, माध्व एवं वल्लभ ईश्वर तथा ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। ब्रह्म ही ईश्वर है। ईश्वर में

----

1. श्रीमल्लक्ष्मणादेशिको गुणनिधिर्वादीभ पंचानन: ।
संसारार्णव तारकश्च कृपया स्वाङ्घ्रिप्रपन्नान् जनाम् ।
सद्विद्यापगजन्मभूमिशिखरी पाषण्डनैशोष्णगु-
र्मायावाददवाग्नि रार्तशरणो वर्वर्ति सर्वोपरि ।।
नत्वा रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत बोधकम् ।
विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त: सत्प्रमाणै: समर्थ्यते ।।
-- वैष्णव धर्म रत्नाकर, 3.1.2, पृ० 40

सजातीय और विजातीय भेद तो नहीं हैं परन्तु स्वगत भेद है । क्योंकि चित् और अचित् दोनों उससे भिन्न हैं । इस तरह परमात्मा ईश्वर सगुण, सोपाधिक एवं सविशेष है । परन्तु उसके इन अंशभूत तत्वों की पृथक् सत्ता नहीं है । ईश्वर एक एवं अद्वैत सत्ता है ।

रामानुज के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्व है ही नहीं ऐसा नहीं, अपितु यह है कि उसके सदृश और समकक्ष कोई दूसरा तत्व नहीं है ।[1] ये दोनों ही - चित्, अचित् ईश्वर पर आश्रित हैं । ईश्वर सबका धारक एवं नियंता है । यह लीला रूप में सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और लय करता है । ब्रह्म अनन्त, अप्राकृतिक दिव्य गुणों से संयुक्त होने के ही कारण श्रुतियों में निर्गुण कहा गया है । वह पूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वकल्याण, गुणोपेत, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तिर्यामी, परम कारुणिक एवं कृपालु है ।[2] ब्रह्म निर्विशेष और निर्गुण नहीं है । सत्व, रज, तम गुणों से रहित होने के कारण उसे निर्गुण कहा जाता है ।[3] निर्गुण ब्रह्म की कल्पना-श्रुति सम्मत नहीं है । वह सदैव सविशेष और सगुण है । ईश्वर व्यक्तित्व पूर्ण है । वह सच्चिदानन्द स्वरूप है । ईश्वर के पांच स्वरूप हैं -- पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार । ईश्वर का पर स्वरूप - वासुदेव रूप है । व्यूह स्वरूप संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध हैं । विभिन्न राम, कृष्ण, नृसिंह आदि अवतार उसके

----

1. 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति ।'

2. सुसूक्ष्म चिदचिद्युक्तमेकं ब्रह्मात्मकं मतम् ।
नाम रूप विभागात्प्राङ्ग न हि भेदोऽत्र सीयते ।।
-- वेदान्त कारिकावली - का० सं० 8.

3. निर्गुणत्वपरा: काश्चिच्छ्रुतय: सन्तिता इमा: ।
तद्धेय गुणराहित्यं बोधयन्ति ततो ध्रुवम् ।।
-- वही, का० सं० 18.

विभव स्वरूप हैं तथा ईश्वर की उपास्यमूर्ति अर्चावतार हैं । ईश्वर उपास्य है, वह दुष्टों का संहार करता है और धर्म तथा भक्तों की रक्षा करता है । वह करुणावश ही सृष्टि करता है । सृष्टि के पूर्व जीव और प्रकृति उसके अंशभूत सूक्ष्म रूप से उसमें रहते हैं, सृष्टि के समय में ही उसके संकल्प से जगत् रूप में प्रकट होते हैं । सृष्टि के पूर्व की स्थिति में ईश्वर 'कारण' ब्रह्म है तथा यही कारण है कि ब्रह्म सृष्टि के समय जीव और जगत् के रूप में व्यक्त होता है ।[1] सृष्टि की रचना करते हुये भी ब्रह्म अद्वैत, अपरिणामी निरवयव तथा अविकारी है । ईश्वर में अनन्त ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, बल आदि गुण हैं ।[2] इसी से उसे भगवान् कहा जाता है । ईश्वर असीम करुणामय, भक्त-वत्सल तथा कोटि काम कमनीय है । वह अतीव सुन्दर है । जो भी जीव ऐसे प्रभु के शरण में आता है, उसके समस्त पापों को नष्ट कर भगवान् मुक्ति प्रदान करता है ।[3]

----

1. कारणात्सूक्ष्म चिदचिद्युक्तात्स्थूलैतदाहितम् ।
   कार्यं नान्यदिति व्यक्तमारम्भणनयादिषु ।।
   -- वेदान्तकारिकावली, का० सं० 17.

2. निर्गुणत्वपराः काश्चिच्छ्रुतयः सन्ति ता इमाः ।
   तद्धेयगुणराहित्यं बोधयन्ति ततो ध्रुवम् ।।
   -- वही, का० सं० 18.

3. सन्मुख होई जीव मोहि जबहीं ।
   जन्म कोटि अघ नाशहिं तबहीं ।।
   -- रामचरितमानस

आचार्य रामानुज से मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य वेदान्तियों का ईश्वर सिद्धान्त सम्बन्धी तुलनात्मक विचार --

आचार्य माध्व भी रामानुज के अनुसार ईश्वर को अनन्त गुणों से पूर्ण मानते हैं। इनके अनुसार भगवान् विष्णु ही परमात्मा हैं। ये पांच भेदों से ईश्वर को स्वीकारते हैं -- 1. ईश्वर का जीव से भेद, 2. ईश्वर का प्रकृति से भेद, 3. जीव का अन्य जीव से भेद, 4. जीव का प्रकृति से भेद, 5. प्रकृति के एक अंश का दूसरे अंश से भेद। ईश्वर ही उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, नियमन का एकराट् विधान है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार ब्रह्म माया के प्रपंच से रहित विशुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वधर्म-विशिष्ट, सच्चिदानन्दस्वरूप है। वही जगत् का उपादान और निमित्त कारण है। जगत् उसकी लीला है। जगत् ब्रह्म का सत्य स्वरूप है, अतः नष्ट नहीं होता।

आचार्य निम्बार्क के अचिंत्य भेदाभेद वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सगुण साकार है। चित और अचित शक्तियां अपने शक्तिमान् और आधार ब्रह्म से स्वरूपतः अभिन्न हैं किन्तु सृष्टि की स्थूलावस्था में उससे भिन्न भी हैं। यह अभेद और भेद अचिंत्य है। यह ईश्वर की अचिंत्य शक्ति से ही सम्भव है। उपास्य ब्रह्म एवं उसकी शक्ति ही कृष्ण-राधा हैं।

अतः विशिष्टाद्वैत में ईश्वर सिद्धान्तः की मुख्य विशेषता यह है कि इसने उपनिषद् प्रतिपादित ब्रह्म को विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न इष्ट के रूप में स्वीकार किया है। विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठापकाचार्य श्री रामानुज ने तैत्तिरीयोपनिषद् के मन्त्रों को आधार मानकर समस्त कल्याण गुण सम्पन्न निखिल हेय गुण

रहित सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन किया और शास्त्रीय प्रमाण द्वारा सिद्ध किया कि श्रीमन्नारायण ही वे परतत्व हैं जो विष्णु, पुरुषोत्तम, परमात्मा, पर वासुदेव, प्रभु, ईश्वर एवं भगवान् कहे जाते हैं।[1] इस प्रकार आचार्य श्री रामानुज ने ईश्वर की पुरुषवादी धारणा को उस ब्रह्मवादी धारणा से संयुक्त कर दिया, जिसे मिलाने का प्रयास महाभारत के नारायणीयोपाख्यान,

----

1. (अ) क. 'सत्यं ज्ञान अनन्तं ब्रह्म ।'

-- तैत्तिरीयोपनिषद् - 2.1.1

ख. 'आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान् ।'

-- वही - 2.4.1

ग. 'सत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत् ।'

-- वही - 2.6.6.

घ. 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।'

वही - 3.1.1.

(आ) अ. ब्रह्म शब्देन स्वभावतो निरस्त निखिल दोषो नवधिकातिशयासंख्येय कल्याण गुण गुणः पुरुषोत्तमो - ऽभिधीयते । सर्वत्र बृहत्व गुणयोगेन हि ब्रह्म शब्दः ।'

श्रीभाष्य - 1.1.1, पृ0 4.

ब. 'पराविद्यासु सर्वासु सगुणमेव ब्रह्मोपासनम् ।'

वही - पृ0 139.

स. 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।'

भागवत पुराण - 2.1.11

नारायणोपनिषद् एवं विष्णु पुराण में दृष्टिगत होता है ।[1]

आचार्य रामानुज से पूर्व आचार्य शंकर ने निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करके, जीव का ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करके एवं जगत् का निषेध करके ब्रह्म की अद्वैतता को उस अमूर्त स्थिति तक पहुंचा दिया जो सामान्य व्यक्ति के पहुंच के बाहर है । वस्तुत: इस विनाशशील एवं दु:खमय संसार में मानव किसी ऐसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् एवं सर्वकृपालु प्रभु की शरण में जाना चाहता है, जो उसके संतप्त मन को शान्ति प्रदान करे और उसे परलोक में मोक्ष का अधिकारी बनाये ।[2] आचार्य रामानुज के सर्वगुण सम्पन्न, कमनीय

----

1. (अ) तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभि: सर्वतो मुखै: ।
तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायण: प्रभु: ।।
-- महाभारत - शान्ति पर्व, 347.83

(ब) नारायण: परोज्योतिरात्मानारायण: पर: ।
नारायण: परंब्रह्म तत्त्वंनारायण: पर: ।
-- ना० उ० - 9.8

(स) नारायण: परो चिन्त्य: परेषामपि स प्रभु: ।
ब्रह्मस्वरूपी भगवानादि: सर्व सम्भव: ।।
-- विष्णु पुराण - 1.44

2. (क) जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।
-- भगवत्गीता - 2.27.

(ख) त्वमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।
-- वही - 18.62

कलेवर, रमणीय कान्तियुक्त, अप्राकृत-वैभवसम्पन्न, बैकुण्ठाधिपति, भक्तवत्सल, सर्वान्तिर्यामी, पुष्पहास सुकुमार, मुक्तिप्रदाता, मुकुन्द इतने कृपालु हैं कि वह ग्रह पीड़ित गज की रक्षार्थ भी त्वरित गति से आते हैं फिर श्रद्धालु भक्तों को अभिलषित मनोवांछा प्रदान करने में तो सन्देह का कोई स्थान ही नहीं है। ऐसे ईश्वर को पाकर मानव कृतार्थ हो जाता है। स्वयं शंकराचार्य ने अपने `षटपदीस्तोत्र` में नारायण के चरणों की शरण ग्रहण की है।[1]

आचार्य रामानुज के इस सविशेष ब्रह्मवाद की भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। मैक्समूलर[2] के अनुसार आचार्य ने हिन्दुओं को उनकी आत्मा लौटाने का प्रयत्न किया।

डा० राधाकृष्णन् के अनुसार निर्गुण ब्रह्म आनन्द उत्पन्न करने वाले अचेतन ताजमहल की भांति अपने उपासकों के भय एवं प्रेम के प्रति निरपेक्ष हैं।[3] हिन्दी विश्वकोष के अनुसार शंकराचार्य ने जो ईश्वर स्वीकार किया है वह

----

1. (क) गजेन्द्र रक्षात्त्वरितं भवन्तं। ग्राहैरिवाहं विषयैर्विकृष्टः।
-- अष्टभुजाष्टकम्

(ख) नारायण करुणामय्शरणं करवाणि तावकौ चरणौ।
-- षट्पदीस्तोत्र - 7.

2. `मैक्समूलर : सिक्स सिस्टम्स आफ इंडियन फिलासफी", पृ० 189.

3. राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, खण्ड-2, पृ० 659.

माया विलसित है, अतएव मायिक एवं अलीक है ।[1]

आचार्य रामानुज का ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वद्रष्टा और सर्वनियन्ता है । यदुनाथ के अनुसार रामानुजाचार्य ने ईश्वर का ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित कर अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है ।[2]

अतएव सर्वश्रेष्ठ ईश्वरवाद या ब्रह्मवाद वह है जो केवल तर्क पर आधारित न होकर सत्यं शिवं एवं सुन्दरम् हो तथा नैतिक व मानवीय आधार पर उपयोगी हो । विशिष्टाद्वैत का सगुण, साकार ब्रह्म ऐसा सर्वोत्कृष्ट परतत्व है जिसके प्रति मानव सहज ही आकृष्ट हो जाता है और उसकी श्रद्धा एवं प्रेम पूर्वक उपासना कर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है । अत: जहां शंकराचार्य का निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म तर्क पर आधारित है वहां आचार्य रामानुज का सविशेष ब्रह्म परम सत्ता के गहन अन्तर्मन का परिणाम है ।[3]

ईश्वर लक्षण

तत्वत्रय सम्मत ईश्वर लक्षण :

परमात्मा में सभी त्याज्य प्राकृत गुणों का अभाव होने के कारण ईश्वर अखिल हेय प्रत्यनीक कहे जाते हैं । अर्थात् - परमात्मा प्राकृतिक विकारादि दोषों से अप्रयुक्त हैं जैसे तम तेज के होने से विनाश को प्राप्त होता है, गरुड़ के सामने सर्प नहीं रह सकता उसी प्रकार ईश्वर तमाम दोषों से मुक्त है ।

---

1. हिन्दी विश्व कोष, खण्ड-22, पृ० 194.
2. सिन्हा 'यदुनाथ' : हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, खण्ड-4, पृ० 208.
3. सत्यव्रत सिंह : वेदान्त देशिक : ए स्टडी, पृ० 327.

ईश्वर देश, काल, वस्तु इन तीनों प्रकार की सीमाओं से रहित हैं। ऐसे स्वरूप को अनन्त कहा जाता है। जो सभी वस्तुओं को सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से जानते हैं ऐसा वह परमात्मा ही है।[1] मन के साथ वाणी जिसे पूर्ण रूप से जाने बिना लौट आती है उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला परमात्मा ही आनन्द प्रचुर है।[2] श्रुतियों में भी ईश्वर को ज्ञान स्वरूप एवं आनन्द स्वरूप कहा गया है। स्वभावत: सीमातीत सर्वोत्कृष्ट रूप से ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, सौ , वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, सत्यकाम, सत्य संकल्प, कृतित्व एवं कृतज्ञता आदि असंख्येय कल्याण गुण समुदाय राशि के महासागर ईश्वर ही सभी कल्याण करने वाले गुणों के आश्रय हैं। निश्चय ही जिससे सभी भूत उत्पन्न होते हैं, प्रलय काल में लीन होते हैं वही ब्रह्म ईश्वर है जो सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति और पालन करता है।[3]

परमात्मा आनन्द रूप ज्ञान से युक्त हैं अर्थात् पूर्ण रूप से अनुकूल रहकर स्वयंप्रकाश होना ही ज्ञान की आनन्दरूपता है।[4] यही ईश्वर का ज्ञानानन्द

----

1. 'य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप: । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम-
   रूप मन्नं च जायते ।'

   -- मुण्डकोपनिषद् - 1.1.9.

2. 'यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् ।।'

   -- तैत्तरीयोपनिषद् - 2.4

3. 'प्राणं देवा अनुप्राणन्ति । मनुष्या: परावश्य वे । प्राणो हि भूता-
   नामायु: । तस्मात्सर्वायुष मुच्यते । सर्वमेवत आयुर्यन्ति । ये प्राणं
   ब्रह्मोपासते ।

   -- वही, 3.1.

4. 'ज्ञानानन्दैकस्य रूपत्वं नाम - आनन्दरूपज्ञानात्मकत्वम् ।
   तच्च कार्त्स्न्येनानुकूलत्वे सति स्वयं प्रकाशत्वम् ।।' --तत्वत्रय, पृ० 220

स्वरूप है । भगवान् आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चारों प्रकार के भक्तों को धर्म, अधर्म, काम, मोक्ष रूपी फल देने वाले विलक्षण विग्रह से युक्त तथा लक्ष्मी देवी, भूदेवी एवं नीला देवी के स्वामी हैं ऐसा ईश्वर का लक्षण तत्वत्रयकार श्री लोकाचार्य जी ने किया है ।[1] यह स्थावर जंगम रूप सम्पूर्ण जगत् जिससे उत्पन्न हुआ है तथा जो रक्षण करता है और अन्त में लीन होता है उसी में ऐसा ही वह ईश्वर है जिसे वेदों में भी इसी रूप में प्रतिपादित किया गया है ।[2]

न्यायसिद्ध जनसम्मत ईश्वर लक्षण

आचार्य वेदान्तदेशिक ने ईश्वर का लक्षण करते हुये कहा कि जो सब पर शासन करते हुये व्यापक होते हुये चेतन, सबसे अतिशय अर्थात् लीलारस और योगरस आदि का लाभ प्राप्त करने वाले तथा सबका यथा इच्छित विनियोग करते हुये समस्त कर्मों से समाराध्य एवं सर्वफलप्रदाता सबके आधार स्वरूप एवं सभी कार्यों के उत्पादक हों, ऐसे जो अपना धर्मभूतज्ञान तथा स्वरूप को छोड़कर अन्य सम्पूर्ण द्रव्य रूपी शरीरों में आत्मा के रूप में स्थित रहने वाले तत्व को

----

1. ईश्वर: अखिल हेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैक स्वरूप:, ज्ञान शक्त्यादि-कल्याणगुण विभूषित:, सकलजगतसर्गस्थितिसंहारकर्ता 'आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थीज्ञानी' त्यक्त चतुर्विध फलप्रद:, विलक्षण विग्रहयुक्त: लक्ष्मीभूमि-नीलानायकश्च ।

— तत्वत्रय - पृ० 211

2. विश्वं जातं यतोऽस्मा यदवितमखिलं लीन मन्तेऽस्ति यस्मिन् ।
सूर्यो यच्चेजसेन्दु: सकलमविरतं भासयत्येतदेष: ।

(क्रमश:....)

ईश्वर कहते हैं ।[1]

इस प्रकार यह ईश्वर एक एवं अद्वितीय है तथा उसके समान व उससे अधिक कोई भी नहीं हो सकता । वह ईश्वर ही देश परिच्छेद, काल-परिच्छेद एवं वस्तु-परिच्छेद इन तीनों परिच्छेदों से शून्य हैं । अतएव वह सर्वात्मक है अर्थात् ऐसा वह ईश्वर ही सबसे अत्यन्त बड़े एवं सबको अग्रेषित करने वाले हैं ।[2] अत: ईश्वर ही ब्रह्म के रूप में ज्ञात होता है । प्रश्न उठता है कि - छान्दोग्य उपनिषद् की सद्विधा में यह वर्णित है कि एक जगत्कारतत्व को समझने पर उससे बनने वाले सभी पदार्थ उसी प्रकार ज्ञात होते हैं जैसे मृत्पिण्ड को समझने से उसके कार्य घर और सराव आदि का ज्ञान होता है ।

कात्यायनाभिमत ईश्वर का वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि जिस प्रकार समुद्र लहरों के रूप में परिणत होकर उन लहरों के कारण नाचता रहता है, उसी प्रकार ही जो स्वतन्त्र ब्रह्मतत्व ईश्वर है वह भी प्रकृति एवं जीवों के रूप में परिणत होकर नृत्य करता हुआ सा दिखाई देता है, ऐसे उस सद्ब्रह्म को नमस्कार है ।[3]

----

1. 'सर्वेश्वरत्वं व्यापकत्वे सति चेतनत्वं सर्वशेषित्वं सर्वकर्मसमाराध्यत्वं सर्व-फलप्रदत्वं सर्वाधारत्वं सर्वकार्योत्पादकत्वं स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरकत्वं स्वत: सत्य संकल्पत्वादिकं चेश्वरलक्षणम् ।'

-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 361.

2. 'स एव ब्रह्म, तस्यैव त्रिविध परिच्छेदरहितस्य सर्वात्मकत्वेन निरतिशय बृहत्वबृंहणत्वश्रवणात् ।'

-- वही, पृ0 364.

3. 'ईश्वरांव्याकृतप्राणै: स्वराट्सिन्धुरितोर्मिभि: । यत् प्रनृत्य दिवाभाति तस्मैसद्ब्रह्मणे नम: ।।' -- कात्यायनसूत्र, न्या0 सि0 टीका, पृ0 364

अत: चेतन, अचेतन और ईश्वर समुद्र स्थानीय जल तरंगों के समान ही यह ईश्वर है । प्रश्न किया गया कि तो क्या ब्रह्म व ईश्वर में कुछ मिलता है किन्तु ऐसा यह प्रश्न व्यर्थ ही है क्योंकि यदि चित् अचित् और ईश्वर ब्रह्म के कार्य हैं तथा ईश्वर से भिन्न हैं तो यहां पर जो वेद वचनों के द्वारा जिनसे चित् अचित् और ईश्वर का नित्यत्व सिद्ध होता है तो यहां विरोध उपस्थित होगा । अत: उपनिषद्वचनों से विरोध स्वयमेव समाप्त हो जाता है क्योंकि जिनसे सर्वेश्वर नारायण ही परब्रह्म एवं परतत्व सिद्ध होते हैं ।[1] जिस तत्व को हम अनन्त कहते हैं अर्थात् वह देश परिच्छेद, काल परिच्छेद, एवं वस्तुपरिच्छेद से रहित है, सर्वदेश और सर्वकाल में रहता है, तथा सर्ववस्तु में विद्यमान है वही अनन्त तत्व सर्वाधार, सर्वशेषी, सर्वनियन्ता हो सकता है तथा सर्वोत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न हो सकता है । ऐसा तत्व ईश्वर ही है । अत: ईश्वर ही ब्रह्म है ।

यतीन्द्रमत दीपिका कृत ईश्वर लक्षण :

यतीन्द्रमत दीपिकाकार श्री निवासाचार्य जी ने ईश्वर को दो प्रकार के लक्षणों से उद्धृत किया है -- 1. स्वरूप लक्षण, 2. तटस्थ लक्षण ।

स्वरूप लक्षण -- इस लक्षण में जिसका सम्बन्ध लक्ष्य के स्वरूप से होता है - अर्थात् ईश्वर के स्वरूप को निरूपित या परिभाषित करता है ।

तटस्थ लक्षण -- इसमें जिसका सम्बन्ध लक्ष्य के स्वरूप से न होकर तटस्थ से होता है अर्थात् ईश्वर के अनिवार्य गुण हैं ।

----

1. 'नारायण: परब्रह्म तत्वं नारायण: पर: ।'

स्वरूप लक्षण को भी कई भेदों से निरूपित किया गया है --

(1) सर्वेश्वरत्व (2) सर्वशेषित्व (3) सर्वकर्मसमाराधत्व (4) सर्वकर्मफलप्रदत्व (5) सर्वाधारत्व (6) सर्वकार्योत्पादकत्व (7) स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरकत्व ।[1]

1. सर्वेश्वरत्व : -- इस लक्षण में ईश्वर सबका नियामक है । ईश् धातु से वरट् प्रत्यय करके ईश्वर शब्द की सिद्धि होती है[2] तथा दूसरे रूप में अशु धातु से वरट् प्रत्यय तथा चाकारात् ईत्व करके भी ईश्वर शब्द सिद्ध होता है ।[3] अर्थात् सर्वेश्वर शब्द का अर्थ होता है -- जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है । उसको सर्वेश्वर कहते हैं । श्रुति सम्मति भी यही है कि यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का व्याप्य है और परमात्मा जगत् में व्यापक है ।[4] ईश्वर का दूसरा अर्थ जो विष्णु पुराणपरक है, यह सम्पूर्ण जगत् जिसका ऐश्वर्य हो उसे सर्वेश्वर कहते हैं । सम्पूर्ण जगत् भगवान् की ऐश्वर्य विभूति है ।[5]

----

1. 'सर्वेश्वरत्वं, सर्वशेषित्वम्, सर्वकर्मसमाराधत्वम्, सर्वकर्म फल प्रदत्वम्, सर्वधारत्वम्, सर्वकार्योत्पादकत्वम्, (सर्वशब्दवाच्यत्वम्), स्वज्ञानश्वेतर-समस्तद्रव्यशरीरित्व मित्यादीनीश्वर लक्षणानि ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका - पृ0 217.

2. 'ईश ऐश्वर्ये' --

3. 'अशुव्याप्तौ' --

4. 'ईशावास्य्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।।'

-- ईशावास्योपनिषद् - 1.1.

5. 'विष्णोरेता विभूतय: ।' -- विष्णु पुराण

2. सर्वशेषित्व : ईश्वर लक्षण के दूसरे क्रम में बताया गया कि सम्पूर्ण पदार्थ जिसका शेष हो उसे सर्वशेषी कहते हैं - अर्थात् स्वामी जिस प्रकार से विनियोग करना चाहे यानी अपने उपयोग लाना चाहे, उस तरह से विनियुक्त हो जाने की योग्यता जिसमें हो उसे शेष कहते हैं। श्रीभगवान् सम्पूर्णजगत् से लीलारस तथा भोगरस प्राप्त करते हैं। अतः भगवान् जगत् के शेषी हैं।[1]

3. सर्वकर्मसमाराधत्व : इस लक्षण में बताया गया है कि जितने भी तत्-तत् देवता हैं और उनकी आराधना, पूजन आदि कर्म किये जाते हैं, उन सभी कर्मों से तत्-तत् देव शरीरक श्रीभगवान की ही आराधना होती है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है। अर्थात् जिस प्रकार शरीर की पूजा के द्वारा शरीरधारी आत्मा की समाराधना होती है, उसी प्रकार परमात्मा के शरीर भूत तत्-तत् देवताओं की पूजा से उन सभी की आत्मभूत परमात्मा की ही समर्चा हो जाती है। अतः परमात्मा सर्वकर्म समाराध्य सिद्ध होते हैं।[2]

4. सर्वकर्मफलप्रदत्व : इस लक्षण में व्यक्त किया गया कि सभी देवताओं की पूजा से श्रीभगवान् की ही आराधना सम्पन्न होती है। अतः सभी कर्मों का फल श्रीभगवान् ही उन देवताओं के माध्यम से प्रदान करते हैं। अतएव वे सर्वकर्मफलप्रद हैं।

----

1. (अ) 'यथेष्टविनियोगार्हत्वं शेषत्वम्।'

-- यतीन्द्रमत दीपिका, पृ० 217.

(ब) 'स्वेतराखिल शेषित्वमीश्वरस्य तु लक्षणम्।'

-- वे० का० - का० सं० 1.

2. 'जगत् सर्व शरीरं ते।' -- वाल्मीकि रामायणम् - य० म० दी० - टी०, पृ० 218.

5. सर्वाधारत्व -- ईश्वर का यह पांचवां लक्षण है उसमें श्रीभगवान् सम्पूर्ण जगत् के आधार हैं, और जगत् श्री भगवान् का आधेय है ।

6. सर्वकार्योत्पादकत्वम् -- इस लक्षण में बताया गया है कि जितने भी कार्य हैं उन सबके प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उत्पन्न करने वाले श्री भगवान् ही हैं । ब्रह्मा पर्यन्त - श्रीभगवान् की अद्वारक सृष्टि होती है । ब्रह्मा के पश्चात् सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि सद्वारक सृष्टि है ।

7. स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरकत्व. -- ईश्वर के इस अन्तिम लक्षण में बताया गया है कि जो अपने धर्मभूतज्ञान तथा अपने स्वरूप को छोड़कर इतर सम्पूर्ण द्रव्य रूपी शरीरों में आत्मा रूप से विराजने वाला हो, उसे ईश्वर कहते हैं अर्थात् अपने धर्मभूत ज्ञान तथा अपने स्वरूप को छोड़ने की जो बात कही गयी है, उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि ईश्वर समस्त द्रव्यों को शरीर बनाकर उनकी आत्मा रूप से उनके भीतर विद्यमान है, तथापि उन द्रव्यों के अन्तर्गत ईश्वर के धर्मभूत ज्ञान तथा अपना स्वरूप नहीं आते हैं, क्योंकि ईश्वर के स्वरूप का ईश्वर आत्मा नहीं हो सकता है । क्योंकि आत्मा और शरीर में भेद होना चाहिये, किन्तु आत्मा और स्वरूप एक ही पदार्थ हैं । ईश्वर अपने धर्मभूत ज्ञान की भी आत्मा नहीं हो सकता है । चेतन अपने धर्मभूत ज्ञान के द्वारा जिसपर अधिष्ठित होता है, वह उसका शरीर होता है । ईश्वर अपने धर्मभूत ज्ञान के द्वारा अपने धर्मभूत ज्ञान को अधिष्ठित नहीं करता है, अतः धर्मभूत ज्ञान उसका शरीर नहीं हो सकता है । क्योंकि ईश्वर के दो धर्मभूत ज्ञान नहीं हैं । यदि दो धर्मभूत ज्ञान होते तभी वह उसको अधिष्ठित करता परन्तु ऐसा नहीं हो सकता इसी कारण ईश्वर का यह लक्षण किया गया है ।

ईश्वर उपादान निमित्तादि का निरीक्षण

वेदान्त की मुख्य समस्या यह है कि इसने उपनिषदों के एक मृत्पिण्ड के

ज्ञान से समस्त मृण्मय विज्ञान के दृष्टान्त के आधार पर नित्य, शुद्ध एवं निर्विकार ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण स्वीकार किया है।[1] अत: ब्रह्म का जगत् के रूप में उपादान कारणत्व उसके स्वरूप में विकार स्वीकार किये बिना ही सिद्ध करना सभी वेदान्त सम्प्रदायों का उद्देश्य है। इस विषय में तीन सिद्धान्त प्रमुख हैं --

1. ब्रह्म परिणामवाद -- इस वाद को यादवप्रकाश और भास्कराचार्य द्वारा स्वीकृत किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म स्वयं ही इस विश्व के रूप में परिणत होता है।

2. ब्रह्म विवर्तवाद -- अद्वैत प्रतिपादित इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म सत्य है, ब्रह्म जगत् के मिथ्या आभास का आश्रय है।

3. परिष्कृत ब्रह्म परिमाणवाद -- विशिष्टाद्वैत अनुमोदित इस सिद्धान्त के अनुसार प्रलयवस्था में ब्रह्म सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट रहता है और सृष्टि अवस्था में स्थूल चिदचिद्विशिष्ट। अत: सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है।[2]

आचार्य वेदान्त देशिक ने यादवप्रकाश एवं भास्कर के ब्रह्मपरिणामवाद का और अद्वैत के विवर्तवाद का युक्तिपूर्वक निरास करके विशिष्टाद्वैतवाद के

----

1. `यथासोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्।'
-- छान्दोग्योपनिषद् - 6.1.4.

2. `सूक्ष्मचिदचिद्वस्तु शरीरं ब्रह्मैव कारणम्।'
-- श्रीभाष्य - 1.1.1, पृ0 206.

सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टब्रह्म की शास्त्रमूलक प्रामाणिकता एवं तार्किक उपादेयता प्रदर्शित की है ।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में माना जाता है कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान-कारण, निमित्त कारण और सहकारी कारण इन तीनों प्रकार का कारण है ।[1] प्रश्न उठता है कि संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं देखा जाता कि जिसका उपादान, सहकारी और निमित्त यह तीनों कारण एक ही पदार्थ में प्राप्त होते हैं । ऐसी स्थिति में जगत् रूपी कार्य का तीनों प्रकार का कारण एक ही ब्रह्म कैसे हो सकता है ? इस तर्क का उत्तर देते हुये सिद्धान्ती कहता है कि संसार के किसी भी कारण में तीनों प्रकार का कारण बनने में सामर्थ्य नहीं है । परन्तु ब्रह्म तो ऐसा पदार्थ जिसमें तीनों प्रकार का कारण बनने का सामर्थ्य है ।

श्रुति की सम्मति भी यही है कि यह विभक्त नाम-रूप वाला बहुत्वाव-स्थावस्थित जगत् सृष्टि से पूर्व अविभक्त नाम रूप वाला होने के कारण एक-त्वावस्थापन्न ही था । वह अधिष्ठानान्तर शून्य सद्रूप ही था । इस श्रुति का सत् शब्द नामसम्बन्ध योगत्व रूप सत्व को प्रवृत्ति निमित्त बनाकर परमात्मा रूप अर्थ को बतलाता है । यह सत् शब्द यद्यपि विशेष्य भूत परमात्मा का वाचक है, फिर भी कारण विषयत्व के सामर्थ्य के कारण बनने के योग्य गुणविशिष्ट प्रकृति-पुरुष एवं कालशरीरक परमात्मा को ही बतलाता है ।[2]

----

1. 'ससूक्ष्मचिदचिन्मिश्रो विश्वोपादान कारणम् ।
 संकल्पयुक्त एवैष निमित्त कारणं मतम् ।।
 कालाद्यन्तर्यामितया सहकारि च कारणम् ।।'
 -- वेदान्त कारिकावली, ई० नि०, का० 1.2.

2. 'सदेव सोम्येदमग्रासीदेकमेवा द्वितीयम् ।'
 -- छा० उ० - 6.2.1.

नैयायिक विद्वान् असत्कार्यवादी हैं, उनका कथन है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् रहता है। कारण - कलाप के माध्यम से नूतन कार्य उत्पन्न होते हैं। परन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त सत्कार्यवादी है। इसमें यह माना जाता है कि उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य कारण में विद्यमान रहता है। किन्तु उस समय उसका नाम एवं रूप विभक्त नहीं रहता है। कारण - कलाप के द्वारा उस कार्य का नाम रूप विभक्त होता जाता है।[1] श्रुति सम्मति में भी यही है कि नैयायिकों के असत्कार्यवाद में स्थायित्व नहीं है, वह कहता है कि सृष्टि से पूर्व भी कार्य था ही। अत: ब्रह्म की जगत् के प्रति उपादान कारणता का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म-व्यतिरिक्त जगत् का कोई दूसरा निमित्त कारण भी नहीं है।

वस्तुत: ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण बतलाया गया है। सूक्ष्म चिदचिद्वस्तु शरीरक रूप से ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होता है। ब्रह्म की सूक्ष्म चिदचिद्वस्तु शरीरकता ही ब्रह्म की अविभक्त नाम रूपत्वावस्था है। वह सूक्ष्म चिदचिद्वस्तु शरीरक ब्रह्म संकल्प विशिष्ट रूप से जगत् का निमित्त-कारण होता है। वह ब्रह्म ही जब काल आदि का अन्तर्यामी बनकर जगत् रूपी कार्य के प्रति सहायक बनता है तो सहकारीकारण होता है।

<u>उपादान कारण</u> : कार्य रूप से परिणत होने योग्य जो वस्तु होती है वही उपादान कारण कहलाती है। इस लक्षण में एक दोष उत्पन्न होता है कि उपादान कारण माना जाता है, अत: उसको भी विकारी ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण माना जाता है, अत: उसको भी विकारी द्रव्य मानना होगा। सिद्धान्त में चिद्चिद्विशिष्ट रूप में ब्रह्म विकाराश्रय माना

----

1. 'उत्पत्ते: प्राक्अविभक्तनामरूपं कार्य कारण कलापेन द्वारा विभक्त-नामरूपतया उत्पद्यते।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 220

जाता है, विशिष्ट रूप से ब्रह्म में विकाराश्रयत्व होना सिद्धान्त में इष्ट ही है। केवल विशेष्य रूप में ही निर्विकारत्व माना जाता है। चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म में चेतनाचेतन विशेषण है। उनका अन्तर्यामी बना हुआ ईश्वर विशेष्य है। इस विशेष्यांश ईश्वर को ही निर्विकार बताया गया है।[1] जैसे जीवात्मा स्वरूपत: निर्विकार होता हुआ भी मनुष्यादि शरीर विशिष्ट रूप से बालत्व, युवत्व, वृद्धत्व और स्थूलत्व आदि विकारों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वरूपत: निर्विकार होता हुआ चेतना चेतन[2] शरीर विशिष्ट रूप से परिणाम-रूपी विकारों को प्राप्त करता है।

वस्तुत: विकारी ब्रह्म नहीं है। अत: उपादानत्व सिद्ध ही है। अर्थात् स्थूल चिद्चिद्विशिष्ट कार्यावस्थावस्थित श्रीभगवान् में सूक्ष्म चिदचिद् नियन्तृत्व विशिष्टत्व रूप पूर्वावस्था का योग होने से स्वरूपत: परिणाम[3] न होने पर भी ब्रह्म का जगत् के प्रति उपादान कारणत्व सिद्ध होता है।

<u>निमित्त कारण</u> -- उपादान को कार्य रूप से परिणत करने वाला ही कार्य का निमित्त कारण होता है। जैसे संकल्प विशिष्ट सूक्ष्म चिदचिद्वस्तु शरीरक ब्रह्म ही जगत् रूपी परिणाम का कर्ता है। अत: वह जगत् का निमित्त कारण है।

----

1. न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 420.

2. `कारणात्सूक्ष्मचिदचिद्युक्तास्थूलैतदाहितम्।
कार्यं नान्यदिति व्यक्तमारम्भणनयादिषु ।।`
-- वेदान्तकारिकावली, , क्र0 सं0 17.

3. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 229.

श्रीनिवासाचार्य जी ने इसकी परिभाषा करते हुये कहा है कि परिणत होने के लिये उन्मुख जो कारण हैं, उससे भिन्नाकार से जो कार्य की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित कारण होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं।[1] जैसे घट रूपी कार्य के रूप में परिणत होने के लिए उन्मुख जो पिण्डत्वावस्था विशिष्ट मृत्तिका द्रव्य है, उससे भिन्न आकार वाला तथा कार्य की उत्पत्ति के लिए तथा कार्य की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित कारण कुम्भकार, चक्र, चीवर आदि हैं, क्योंकि इनके बिना पिण्डत्वावस्थाविशिष्ट मृद्द्रव्य घट रूप में परिणत हो ही नहीं सकता है, अतः वे सभी घट के निमित्त कारण हैं। इस निमित्त कारण के अनुसार निमित्त कारण में ही सहकारी कारण का भी अन्तर्भाव हो जाता है[2]। अतएव इस लक्षण को मानने वाले कार्य के प्रति कारणद्वयवादी हैं। प्रकृत में कार्य रूपी जगत् के रूप में परिणत होने के लिए उन्मुख सूक्ष्मचिद्चिद्विशिष्ट ब्रह्म उपादान कारण से भिन्न आकार वाले तथा जगत् की उत्पत्ति के लिए कारण रूप से अपेक्षित कारण संकल्प विशिष्ट ब्रह्म तथा कालाद्यन्तर्यामी ब्रह्म हैं अतः दोनों रूप से ब्रह्म जगत् के निमित्त कारण हैं।

----

1. (क) परिणामोन्मुख्यातिरिक्ताकारेणापेक्षितं निमित्त कारणम्।
-- यतीन्द्रमतदीपिका, टीका, पृ० 221

(ख) कार्योत्पत्त्युपकार्येण सहकारि च तद्भवेत्।
एकविज्ञानसहित सर्वविज्ञानवादतः।
उपादानत्व मेवोक्तं मृदादाविव चेश्वरे।
तदैक्षतेति संकल्पान्निमित्तत्वं कुलालवत्॥
-- वेदान्तकारिकावली, का० सं० 4,5

2. सहकारित्वमप्यस्यान्तर्यामि ब्राह्मणोदितम्।
सद्ब्रह्मात्मादयः शब्दाः कारणत्वाववोधिनः॥
-- वेदान्तकारिकावली, का० सं० 6.

इसीलिए विशिष्टाद्वैत दर्शन में कहा जाता है कि ईश्वर या ब्रह्म जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं ।[1]

विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का कारण

शंकर, यादव प्रकाश एवं भास्कर मतानुयायियों का कहना है कि श्रुतियों के द्वारा केवल परमात्मा ही जगत् का कारण प्रतिपादित है, अत: चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को जगत् का कारण मानना उचित नहीं है । इस शंका का समाधान करते हुये आचार्य वेदान्त देशिक ने कहा है कि सभी वेदान्तियों के अनुसार विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का कारण है । अद्वैत में अविद्या विशिष्ट एवं यादवप्रकाश के सिद्धान्त में शक्ति विशिष्ट, भास्कर सिद्धान्त उपाधि विशिष्ट एवं विशिष्टाद्वैत में चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म जगत् का कारण है ।[2] सभी वेदान्त व्याख्याताओं ने छान्दोग्योपनिषद् के आधार पर एक अद्वितीय `सत्` को ही जगत् का कारण स्वीकार किया है ।[3] परन्तु कारण तत्व की निर्देशक उस श्रुति में `अग्रे` पद का सन्निवेश है अत: श्रुति कारण तत्व के साथ काल विशेष की भी सत्ता को स्वीकार करती है ।

----

1. सर्वं ब्रह्मेत्यैतदात्म्यनित्यादिव्यपदिष्टय: ।
   सामानाधिकरण्येन संयुज्यन्तेऽत एव हि ।
   स्वरूपभिदया भेद श्रुतयोऽस्मन्मते स्थिता: ।
   विशिष्टाभेदतोऽभेदश्रुतयोऽपि सुनिर्वहा: ।।
   -- वेदान्त कारिकावली - का० सं० 15, 16.

2. साविधं केऽपि सोपाधिकमपर कतिचित शक्तिमद्भिजुष्टमन्येस्वीकृत्यैकाद्वितीय-
   श्रुतमपिष्ठगदुस्तद्विशिष्टैक निष्ठाम् ।
   -- तत्वमुक्ताकलाप - 3.27.

3. `सदेव सौम्यदेमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम् ।`
   -- छान्दोग्य उपनिषद् - 6.2.1.

नित्य शुद्ध अद्वितीय ब्रह्म के साथ काल स्वरूप संसार का सामंजस्य स्थापित करने के लिए अद्वैत ने अविद्या विशिष्ट ब्रह्म को जगत् का कारण स्वीकार किया। अत: अद्वैत के प्रख्यात आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' के मंगलाचरण में लिखा है -- अनिर्वचनीय मूलाविद्या तथा तूलाविद्या इन दो सहकारियों से विशिष्ट जिस ब्रह्म के ये आकाश, वायु, जल और पृथ्वी विवर्त हैं।[1] अत: सिद्ध है कि अद्वैत में सृष्टि से पूर्व अविद्या की सत्ता को स्वीकार किया है। परन्तु अविद्या विशिष्ट ब्रह्म को जगत्कारण स्वीकार करने पर एक तो ब्रह्म सन्मात्रसिद्ध नहीं होता और दूसरे उसमें विसजातीय एवं स्वागत भेद सिद्ध होता है, क्योंकि अविद्या असत् है जबकि ब्रह्म निरवधिक सतस्वरूप है।

भास्कर मतावलम्बी मानते हैं कि ब्रह्म द्रव्य दो भागों में विभक्त है -- चिदंश और अचिदंश। ब्रह्म अपने अचिदंश के द्वारा तत्स्तत् रूपों में परिणत होता है और अचिदंश विकार से उपहित होकर चिदंश के द्वारा संसरण करता है।[2]

यादवप्रकाश मानते हैं कि ब्रह्म सर्वात्मक तथा सत्स्वरूप है। वह चित् अचित् तथा ईश्वर इन तीनों अंशों की शक्तियों से विशिष्ट है। शक्तित्रय विशिष्ट ब्रह्म अपने अवान्तर भेदों के साथ तीन प्रकार की व्यष्टियों में उसी

----

1. 'अनिर्वाच्याऽविद्यया - द्वितीयसचिवस्य प्रभवतो विवर्तायस्यैते
विषदनिल तेजोब्वनय:।'
-- भामती मंगलाचरण -

2. 'भास्करीयास्तु चिदचिदंशविभक्तं ब्रह्मद्रव्यमचिदंशेन विक्रियते
तद्विकारोपहितेन चिदंशेन संसरतीति।'
-- सर्वार्थसिद्धि - 3.27.

प्रकार परिणत होता है जैसे समुद्र - फेन बुद्बुद् और तरंग के रूप में परिणत होता है।[1]

इस प्रकार भास्कर के मत में चित् और अचित् ईश्वर के अंश हैं तथा यादव प्रकाश के मत में चित् अचित् एवं ईश्वर ब्रह्म की शक्ति से जन्य हैं। फिर भी ब्रह्म से उनकी अभिन्नता उसी तरह से होती है जिस तरह उपादेय उपादान की एकता होती है।

आचार्य वेदान्त देशिक का तर्क है कि चेतन एवं अचेतनों की उपादानता के लिए ब्रह्मैक, अविद्या, उपाधि तथा शक्ति रूप विशेषण यदि अद्वितीय श्रुति के अनुकूल समझकर स्वीकार किये जाते हैं तो अनेक श्रुति एवं स्मृति[2] से सिद्ध चिदाचिद् शरीर रूप विशेषण को स्वीकार करने में क्या द्वेष है?[3] शास्त्रों ने ब्रह्म की भांति सम्पूर्ण चेतनाचेतनपदार्थों की भी नित्यता उद्घोषित की है।[4] चिदचिद् परमात्मा के शरीर हैं।[5] अतः चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्मकारणवाद

----

1. 'यादवप्रकाशीयास्तु सर्वात्मकं सद्रूपं ब्रह्मचिदचिदी श्वररूपांस्त्रय शक्तिविशिष्टं समुद्र इव फेन बुदबुदतरङ्ग प्रभेदेन सावान्तरभेदं त्रिविध व्यष्टिभावेन परिणमते।'

-- सर्वार्थसिद्धि - 3.27

2. 'एकानेकस्वरूपाय स्थूल सूक्ष्मात्मनेनमः।'

-- विष्णु पुराण - 1.2.3

3. 'श्रुति स्मृति शतसिद्धस्वरूप विशेषणाभ्युपगमेक: प्रद्वेष:।'

-- सार्वार्थ सिद्धि - 3.27

4. 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ययनादि उभावपि।'

-- भगवद्गीता - 13.19.

5. यस्य पृथ्वी शरीरं यस्यापः शरीरं, यस्याग्निः शरीरं यस्य अन्तरिक्षं शरीरं, यस्य वायुः शरीरं, यस्य द्यौः शरीरं....

-- बृहदारण्यकोपनिषद्, पृ० 331-334

तथा 3.7.3-22

शास्त्रमूलक एवं युक्तियुक्त होने के कारण सम्माननीय है ।[1]

अद्वैत वेदान्त मत विचार

वेदान्त दर्शन में एकमात्र `ब्रह्म` की ही मान्यता है । यह समस्त सृष्टि कुछ भी नहीं है, केवल ब्रह्म ही है या उसका विवर्त है, किन्तु अज्ञान या अविद्या के कारण जीव को संसार की सत्ता की प्रतीति होती है । अद्वैत वेदान्त में एक मात्र ब्रह्म की सत्ता की अनिवार्य रूप से अवस्थिति ही है । ब्रह्म जीव से विशिष्ट है । इससे परे संसार में कोई भी वस्तु सत् नहीं है । यह स्वयं प्रकाश, कूटस्थ, नित्य, निष्क्रिय, नित्य तृप्त, चैतन्य और आनन्द मय है ।[2] ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है ।[3] ब्रह्म सजातीय तथा विजातीय भेद से रहित है ।[4] आत्मा ही ब्रह्म है । ब्रह्म सगुण तथा निर्गुण भेद से द्विविध है । सगुण ब्रह्म ही उपाधि युक्त होने से सोपाधि तथा सविशेष या अपरब्रह्म है । ईश्वर ही

----

1. नित्यत्वं विग्रहत्वं प्रकृति पुरुषयोर्हेतुता विश्वकर्तुः ।
   -- तत्वमुक्ताकलापः, 3.27

2. `इदं तु परमार्थिकं कूटस्थं, नित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वविक्रिया रहितं नित्य तृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिः स्वभावम् ।`
   -- ब्रह्मसूत्र - 1.1.4.
   -- भारतीय दर्शन, पृ0 56.

3. `सत्यंज्ञानअनन्तं ब्रह्म ।` -- तैत्तिरीयोपनिषद् - 2.2.1

4. `सजातीय विजातीयस्वपरगत भेद रहितम् ।`
   --

सविशेष ब्रह्म है, वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है - अर्थात् वही संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है। सगुण ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है।[1] पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण होने से ही निरुपाधि तथा निर्विशेष है। यह अनिर्वचनीय एवं अवाङ्गमनसगोचर है। ईश्वर की सिद्धि में श्रुतियां एवं शास्त्र प्रमाण हैं। जीव और ब्रह्म के एक हो जाने से तथा उस जीव के माया में विलीन हो जाने से भी उसकी प्रतीति होती है, तथा जीव आनन्दमय हो जाता है।[2]

वेदान्त मत में सोपाधि तथा निरुपाधि भेद से दो प्रकार के ब्रह्म माने गये हैं। वेदान्त ने ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या माना है।[3]

अद्वैत वेदान्त में अध्यारोप, अपवाद, विवर्त, आवरण एवं विक्षेप आदि अज्ञान शक्तियों द्वारा ब्रह्म की स्थिति की समीक्षा की गयी है।

अध्यारोप -- अर्थात् विक्षेप शक्ति के प्रभाव से वस्तु को भिन्न-भिन्न रूपों से समझना आरोप, अध्यारोप या अध्यास कहलाता है - अर्थात् तत्पदार्थ में अतद् `तद्भिन्न` पदार्थ के स्वरूप का आरोप करना `अध्यास` कहलाता है - अर्थात् किसी वस्तु में उसी के समान अन्य वस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं।[4] उदाहरणस्वरूप रस्सी में सर्प की प्रतीति होना और सीपी में चांदी

----

1. `एकमेवाद्वितीयं नेह नास्ति किञ्चन।`

-- छा० उ० - 6.2.2.

-- बृ० उ० - 4.4.93

2. `प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।`

-- ब्रह्मसूत्र - 1.4.23.

3. `ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।`

--

4. `अध्यारोपोनाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः।`

-- भारतीय दर्शन-टीका, पृ० 276.

की प्रतीति अध्यारोप है । अर्थात् जो सर्प नहीं है ऐसी रस्सी में सर्प की प्रतीति के समान वस्तु `ब्रह्म` में अवस्तु `जगत्` के आरोप को अध्यारोप कहते हैं । सत्, चित् और आनन्द रूप अनन्त ब्रह्म एवं अद्वैत ब्रह्म वस्तु है और अज्ञान आदि जड़ समूह अवस्तु है ।[1]

अभिप्राय यह हुआ कि वस्तु में अवस्तु की प्रतीति अध्यास है तथा रस्सी में सर्प की, सीपी में रजत की प्रतीति इसके उदाहरण हैं । इसी प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान वश सम्पूर्ण जगत् की अयथार्थ प्रतीति होना ही अध्यारोप है ।

<u>अपवाद</u> -- यह अध्यारोप के विपरीत होता है । वस्तु में अवस्तु का आरोप है क्योंकि आत्मा में अनात्मा का आरोप अध्यारोप है । इस अध्यारोप - अध्यास को दूर कर पुन: कूटस्थ, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, स्वयंप्रकाश, चिदानन्द स्वरूप आत्मा के ज्ञान का प्रतिष्ठित होना अध्यारोप का अपवाद है अर्थात् रस्सी के अध्यास - अज्ञानजन्य मिथ्या ज्ञान सर्प का निराकरण, सीपी से चांदी की प्रतीति का निराकरण कर रस्सी और सीपी का बोध ही अपवाद है । अत: मिथ्या ज्ञान का निराकरण कर वास्तविक ज्ञान का होना ही अपवाद है । अर्थात् रस्सी के विवर्त- रूपान्तर या अज्ञानजन्य मिथ्यारूप सर्प का निराकरण होने पर रस्सी मात्र के बोध के समान वस्तु `ब्रह्म` के विवर्त अवस्तु अज्ञान आदि समस्त जगत् का निराकरण होने पर वस्तु मात्र

----

1. असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोप: । वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म । अनादि सकल जड़ समूहो वस्तु ।
-- वेदान्तसार - खण्ड 11, पृ0 71.

`ब्रह्म` का बोध होना अपवाद है ।[1]

इस प्रकार यह मिथ्या प्रतीति दो प्रकार से होती है --

1. परिणाम -`विकार`
2. विवर्त भाव

परिणाम - `विकार` -- यह है कि जब कोई वस्तु अपने रूप को त्याग कर अन्य किसी दूसरे रूप को ग्रहण कर लेती है, उस रूप परिवर्तन को परिणाम या विकार कहते हैं -- जैसे दूध का दही में परिणत होना, यह परिणाम या विकार है ।

विवर्त -- वस्तु अपने यथार्थ स्वरूप को छोड़ती नहीं है, किन्तु अन्य रूप में `मिथ्या` प्रतीति होने लगती है । अत: मिथ्या प्रतीति होने वाली अवस्तु-वस्तु का विवर्त कहलाती है । उदाहरणार्थ सीपी की चांदी के रूप में प्रतीति । इसी प्रकार - सांसारिक भौतिक प्रपंच ब्रह्म का विवर्त है । जब अज्ञान या भ्रम का निराकरण हो जाता है, तब ब्रह्म मात्र शेष रह जाता है ।[2]

वस्तु में अवस्तु की प्रतीति अध्यास है । इस अध्यास का विपरीत अपवाद है अपवाद में मिथ्या प्रतीति का निराकरण किया जाता है । जैसे अन्धकार

----

1. `अपवादो नाम रज्जु विवर्तस्य सर्पस्य रज्जु मात्रत्ववद्वस्तु विवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादे: प्रपञ्चस्य वस्तु मात्रत्वम् ।`

-- वेदान्तसार

2. सतत्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरित: ।
अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरित: ।।

-- भारतीय दर्शन, पृ0 278.

में जो रस्सी में सर्प की मिथ्या प्रतीति हुई थी, उस प्रतीति का प्रकाश में निराकरण कर रस्सी का यथार्थ ज्ञान होना अपवाद है अर्थात् यही मिथ्या-प्रतीति दो रूपों में होती है -- परिणामभाव या विकार, विवर्त ।

प्रथम वस्तु में विकार होता है जैसे - दूध दही में परिणत हो जाता है । किन्तु दूसरे रूप विवर्त में परिवर्तन नहीं होता है फिर भी अन्य मिथ्या-रूप में प्रतीति होती है - अर्थात् मिथ्या प्रतीयमान अवस्तु वस्तु का विवर्त कहलाती है । दूसरे शब्दों में रूपान्तर यदि केवल प्रतीति में ही हो तो वह विवर्त कहा जाता है ।[1] अत: आचार्य सदानन्द जी ने भी कहा है कि तत्वत: न बदलने पर भी दूसरे रूप में प्रतीत होना विवर्त कहलाता है ।[2] यह संसार उस विशुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म का विवर्त है । दूसरे शब्दों में कारण के इस असत्य, काल्पनिक परिवर्तन को अद्वैत की भाषा में विवर्त कहा जाता है ।

अद्वैत वेदान्त में समष्टि और व्यष्टि भेद से अज्ञान के दो भागों को निरूपण किया जाता है । अध्यारोप की पूर्णता के लिए अज्ञान के कार्यो का विवरण इस प्रकार किया गया है कि - इस अज्ञान की दो शक्तियां हैं --[3]
1. आवरण शक्ति, 2. विक्षेप शक्ति ।

----

1. `उपादान विषम सत्ताको विवर्त: ।`
-- भारतीय दर्शन, पृ0 278.

2. `अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृत: ।`
-- वेदान्त सार

3. `अस्याज्ञानस्यावरण विक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम् ।।`
-- वही, पृ0 91

आवरण शक्ति :

आवरण का अर्थ है - आत्मा के सत् चित् और आनन्द स्वरूप को आवृत करने वाली शक्ति को आवरण शक्ति कहते हैं ।[1] अभिप्राय यह हुआ कि आवरण अर्थात् ढंकना या आच्छादन करना, वस्तुत: यह है कि किसी वस्तु के वास्तविक रूप को ढक लेना । जैसे - मेघ का एक छोटा सा खण्ड दर्शकों की दृष्टि के सामने आकर अनेक योजन विस्तीर्ण सूर्य मण्डल को ढक लेता है, उसी प्रकार आवरण शक्ति से युक्त माया साधक की बुद्धि को इस प्रकार आच्छादित कर लेती है कि साधक आत्मा को देख नहीं पाता ।[2] अर्थात् माया आवरण शक्ति के द्वारा आत्मा के सच्चिदानन्द रूप को आच्छादित सा कर देती है ।

विक्षेप शक्ति :

यह वह शक्ति है जिसके द्वारा ब्रह्म से लेकर स्थावर प्राणियों तक समस्त नाम रूपात्मक जगत् की जल में बुलबुलों की भांति सृष्टि कर देती है,

----

1. 'सच्चिदानन्दस्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्ति: ।'

-- सुबोधिनी - वे० सा० - खण्ड 16, पृ० 93

2. 'आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेक योजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव, तथा ज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नम संसारिणमवलोकयितृबुद्धिविधायकतयाच्छादयतीव, तादृशं सामर्थ्यम् ।' तदुक्तम् -

- 'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं, यथा मन्यते निष्प्रभंचातिमूढ: ।
तथावद्ववद्भाति यो मूढ दृष्टे:, स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ।।'

-- वेदान्तसार, खण्ड-16, पृ० 91.

इसलिए यह विक्षेप शक्ति कहलाती है।[1] आचार्य सदानन्द के अनुसार विक्षेप शक्ति वह है - जैसे रस्सी विषयक अज्ञान अपने से आच्छादित रस्सी में अपनी शक्ति से सर्प आदि की उद्भावना कराती है। उसी प्रकार 'आत्मा विषयक' अज्ञान भी अपने से आवृत आत्मा में विक्षेप शक्ति के द्वारा आकाश आदि प्रपंच की उद्भावना कराती है।[2] विक्षेप का अर्थ है -- मिथ्या आरोप करना, वास्तविक वस्तु पर अध्यवस्तु का आरोप करना। विक्षेप शक्ति से यथार्थ वस्तु के स्थान पर उस वस्तु के विषय में नाना प्रकार की विभिन्न वस्तुओं की कल्पना की जाती है। अज्ञान से आच्छादित होने के कारण रस्सी को न देखकर उसके स्थान में उस वस्तु के सम्बन्ध में 'सर्प की कल्पना करना' कि 'यह सर्प है' यह विक्षेप शक्ति का परिणाम है। इसी प्रकार माया भी आच्छादित आत्मा में विक्षेप शक्ति के सहयोग से आकाशादि प्रपंच की उद्भावना कर देती है। वाक्यसुधा के अनुसार भी -- विक्षेप शक्ति लिङ्ग-शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सम्पूर्ण संसार का सृजन करती है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में माया की इन दोनों शक्तियों को स्पष्ट करते

----

1. 'ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् जलवुद्बुदबलनाम रूपात्मकं विदिापति सृजती ति विक्षेपशक्तिः।'

-- सुबोधिनी, वे० सा०, पृ० 93

2. 'विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृत रज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादि प्रपञ्चमुद्भावयति, तादृशं सामर्थ्यम्।' तदुक्तम् --

'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेतिति।'

-- वेदान्तसार, खण्ड 16, पृ० 92

हुये श्री बलदेव उपाध्याय ने[1] लिखा है कि - जादूगर अपने जादू के बल पर कंकण के असली रूप को ढक देता है, परन्तु इतने से भी उसके अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती । वह उनको सिक्कों के रूप में जो दिखलाता है वही नवीन वस्तु की कल्पना है । अत: वस्तु के असली रूप को छिपा देना आवरण शक्ति का प्रभाव है और फिर उसी वस्तु में नवीन वस्तु को उत्पन्न कर देना विक्षेप शक्ति का प्रभाव है । अर्थात् आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानो ढक लेती है, और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपंच का सृजन कर देती है ।

निष्कर्षत: अभिप्राय यह हुआ कि आवरण शक्ति आत्मा के सत् स्वरूप का आच्छादन कर अज्ञान से आवृत करती है । तथा विक्षेप शक्ति सम्पूर्ण प्रपंच का सृजन करती है - अर्थात् असत् रूप में जगत् की प्रतीति कराती है ।

अद्वैत के अनुसार नित्य शुद्ध, बुद्ध, प्रकाशस्वरूप ब्रह्म अविद्या द्वारा आच्छादित होने पर भेदात्मक जगत रूप में विवर्तित होता है । अत: जगत् मिथ्या है । अविद्या ज्ञान का अभाव नहीं अपितु भाव रूप अनादि पदार्थ है ।[2] जिसका निराकरण ज्ञान द्वारा होता है । अविद्या न सत् है न असत् अपितु अनिर्वचनीय है ।[3]

----

1. 'जादू के खेल पर विचार कीजिये । जादूगर दर्शकों के सामने एक जादू का खेल दिखला रहा है । वह कंकणों को आकाश में ऊपर उछालता है और वे सफेद चमकते हुये सिक्कों के रूप में ज़मीन पर गिरते हैं ।'

-- भारतीय दर्शन का इतिहास : बलदेव उपाध्याय

2. अनादिभाव रूपं यद्विज्ञानेन विलीयते, तदज्ञानं इति प्राज्ञा: लक्षणं संप्रचक्षते ।

-- तत्वप्रकाशिका, 2.57.

3. 'अव्यक्त नाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।'

-- विवेक चूड़ामणि, पृ० 110.

प्रश्न बनता है आत्मा तो अपरिच्छिन्न, नित्य, प्रकाशस्वरूप, चैतन्य-स्वरूप, अखण्ड और परिपूर्ण है। परन्तु अज्ञान परिच्छिन्न, अनित्य, तमोरूप, जड़ और अव्यापक है। ऐसे अज्ञान की शक्ति विशेष से आत्मा का आवरण कैसे सम्भव हो सकता है क्या ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अज्ञान आत्मा का आवरण नहीं कर सकता है, वह केवल प्रमाता की बुद्धि को ढकता है, परन्तु लगता यह है, मानों उसने आत्मा को ही ढक लिया हो। अत: अज्ञान को आत्मा का आच्छादक उपचार से कहा जाता है। यह आवरणशक्ति ही आत्मा में भेद बुद्धि को उत्पन्न करके संसार का कारण बनती है।

यद्यपि अज्ञान मूर्त या अमूर्त रूप से अनिर्वचनीय होने के कारण वस्तुत: परिच्छिन्न नहीं है, तथापि परिच्छेद्य आत्मा की अपेक्षा से उसका अन्यत्वमात्र बताने की इच्छा से उसे परिच्छिन्न कहा गया है।[1] अर्थात् अज्ञान वस्तुत: प्रमाता की बुद्धि को ढक लेता है। यह बात ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि बुद्धि तो स्वयं अज्ञान का कार्य है। उसको ढकने से क्या लाभ ? इसका समाधान यह है कि यहां पर बुद्धि से 'बुद्धि में अनुरक्त चैतन्य' लक्षित होता है। बुद्धि को ढकने से वस्तुत: कोई लाभ नहीं है, परन्तु तदनुरक्त चैतन्य को ढकने से अज्ञान का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

क्या अद्वैत का अविद्या संवलित ब्रह्म विवर्तवाद का सिद्धान्त ब्रह्म और जगत् की समस्या को सुलझा पाया है ?

इसका उत्तर देते हुये विशिष्टाद्वैत के विद्वानों ने अद्वैत पर आक्षेप करते

----

1. 'अज्ञानं परिच्छिन्नमपि।'
-- वेदान्तसार, तत्वपारिजात टीका, पृ0 93

हुये कहा है कि यह ब्रह्म और जगत् की समस्या को समझाने के स्थान पर `जगत्` को मिथ्या कहकर उसका निराकरण कर देता है ।[1] जबकि जगत् वस्तुत: सत् स्वरूप है ।[2] अद्वैत के अविद्या सिद्धान्त या मायावाद के विरुद्ध आचार्य रामानुज ने अपने `श्रीभाष्य` में सप्तविध अनुपपत्तियां दर्शाई हैं । जो-निम्नलिखित हैं --

1. आश्रयानुपपत्ति, 2. स्वरूपानुपपत्ति, 3. विरोधानानुपपत्ति, 4. प्रमाणानुपपत्ति, 5. अनिर्वचनीयानुपपत्ति, 6. निर्वृत्यानुपपत्ति, 7. निवृत्तकानुपपत्ति ।

इन अनुपपत्तियों का सार तत्व यह है कि अविद्या किसके आश्रय पर भ्रम उत्पन्न करती है? जीव के आश्रय से तो कर नहीं सकती, क्योंकि जीव स्वयं अविद्या का कार्य है । ब्रह्म के आश्रित होकर भी अविद्या भ्रम नहीं उपजा सकती क्योंकि वह स्वयं प्रकाश ज्ञान-स्वरूप है । उसमें अविद्या वह भी ज्ञानबाध्या, कैसे रह सकती है ? अविद्या का स्वरूप भावात्मक नहीं क्योंकि भावात्मक मानने पर अविद्या का नाश ही नहीं होगा । अविद्या प्रकाश स्वरूप ब्रह्म को आच्छादित नहीं कर सकती क्योंकि उनमें प्रकाश और अन्धकार की भांति अन्तर है ।[3] अन्धकार प्रकाशका तिरोधान कैसे कर सकता है ? अविद्या के सिद्धान्त को किसी प्रमाण का समर्थन प्राप्त नहीं क्योंकि यह शास्त्र प्रतिपादित

----

1. `ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर: ।`

-- ब्रह्मज्ञान, वली माला -

2. `सन्मूला: सोम्येयया: सर्वा: प्रजा: सदायतना:सत्प्रतिष्ठा ।`

-- छान्दोग्योपनिषद्, 6.8.4.

3. `अनाद्यानिर्वचनीयाविद्यातिरोहित स्वरूपमनन्तभेद प्रप चात्मना विवर्तत इति मृषावादस्तावत् अपोह्यते नापीति ।`

-- सर्वार्थसिद्धि - 3.23.

नहीं है । विद्या का सत्, असत् विलक्षण अनिर्वचनीयवाद लोक विरुद्ध है, क्योंकि कोई भी पदार्थ या तो सत् होता है या असत् ।

शास्त्रज्ञान या वृत्ति ज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति असम्भव है क्योंकि जब वह ज्ञान स्वरूप ब्रह्म की आच्छादिका है तो ज्ञानबुद्धि द्वारा कैसे निवृत्त हो सकती है ? अविद्या का सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध मान्यताओं पर आधारित है । आचार्य रामानुज प्रतिपादित इस सप्तविध अनुपपत्ति का विस्तृत एवं पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन वेदान्त देशिक ने अपने `शतदूषणी` नामक वादग्रन्थ में किया है ।

यदि अद्वैती विद्वान ब्रह्मज्ञान को अविद्या का बाधक न मानकर शास्त्रज्ञान या वृत्तिज्ञान द्वारा अविद्या का बाध मानें तो उनका तत्वज्ञान द्वारा मोक्ष का सिद्धान्त बाधित हो जाता है ।[1] वृत्तिज्ञान तो जड़ अन्त:करण की वृत्ति का परिणाम है जो अद्वैत के अनुसार आभास मात्र है । जब अविद्या ब्रह्म के स्वरूप ज्ञान से बाधित नहीं होती तो आभास मात्र वृत्ति ज्ञान से उसका बाधित होना तो और भी कठिन हो जायेगा । यदि कहें कि वृत्ति ज्ञान से रज्जु सर्प का भ्रम विवर्तित होता है तो अद्वैती विद्वानों को यह समझना चाहिये कि सर्पादि भ्रम के अधिष्ठान रज्वादि स्वयं प्रकाश नहीं हैं, किन्तु प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश है । अत: जगत् का ब्रह्म में भ्रम या अध्यास सम्भव नहीं है ।

<u>विशिष्टाद्वैत मत में नारायण स्वरूप विचार :</u>

भगवान् श्रीमन्नारायण ही सम्पूर्ण जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान

----

1. `बाधोवृत्तिस्वरूपात् यदि, तदाज्ञानबाध्यत्वभङ्ग: ।`

-- तत्वमुक्ताकलाप, 3.33

कारण है ।[1] अन्य दार्शनिक विभिन्न तत्वों को जगत् का कारण सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, जैसे सांख्य प्रकृति को जगत् का कारण बताते हुये श्रुति के सत् शब्द से प्रकृति को ही जगत् का कारण मानते हैं । इसलिए मृतपिण्ड, लौह पिण्ड आदि प्राकृतिक पदार्थों का उदाहरण भी दिया गया है । इसी प्रकार वेदान्त वाक्यों में भी अनेक वाक्यों के माध्यम से आकाश, प्राण तथा शिव, ब्रह्मा, वरुण, कुबेर आदि को ही जगत् का कारण बतलाते हैं ।

अतएव इस सबकी प्रतीति होते रहने पर भी केवल नारायण को ही जगत् का कारण मानना कहां तक उचित है ?

इसका समाधान करते हुये आचार्य श्रीनिवास यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने भगवान् नारायण को ही जगत् का कारण न्यायसहकृत वेदान्त वाक्यों के विचार के आधार पर माना जाता है । सम्पूर्ण मीमांसा न्यायात्मिका है । पूर्वमीमांसा को न्यायसाहस्री शब्द से अभिहित किया जाता है । पूर्व-मीमांसा में वर्णित न्यायों के आधार पर वेदान्त वाक्यों का जब विचार किया जाता है तो निश्चित होता है कि भगवान् श्रीमन्नारायण ही जगत् के कारण हैं । उदाहरणार्थ पूर्वमीमांसा के ये वाक्य -- सर्वशाखाप्रत्ययन्याय, छागपशुन्याय आदि इसके प्रमाण स्वरूप हैं ।[2]

------

1. 'स्वयम्भुहिरण्यगर्भप्रजापतिशब्दानां नारायणे पर्यवसानं युक्तमिति नारायण एवाखिल जगत्कारणम् ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 223

2. 'छान्दोग्येतावत्, सदाकाशप्राणशब्दवाच्यानां जगत्कारणत्वं प्रतीयते । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्यानामेक विषयत्वे प्रतिपादयितव्ये छागपशुन्यायेन सामान्यवाचकानां सदादिशब्दानां विशेषे ब्रह्मणि पर्यवसानं वक्तव्यम् ।'

-- वही, पृ० 222

चित् अचित् विशिष्ट ब्रह्म ईश्वर ही इस सम्पूर्ण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।[1] ईश्वर की जगत् के प्रति अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता की विभिन्न श्रुति वाक्यों के माध्यम से सिद्धि इस प्रकार से की जाती है। सृष्टि से पूर्व सत् शब्द वाच्य ही अकेला और अद्वितीय रूप से था।[2] निश्चय ही सृष्टि से पहले आत्मा ही केवल था।[3] ब्रह्म ही सृष्टि से पहले था।[4] इस कारण बाद की श्रुतियों में सामान्य सत्, आत्मा आदि शब्दों के द्वारा कारण तत्व का निर्देश करके निश्चित रूप से नारायण ही सृष्टि से पूर्व थे। यह श्रुतियों का अभिप्राय है कि नारायण ही जगत् के कारण हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के 'सदेव' इस वाक्य में कारण रूप से कहा गया सत् शब्द वाच्य कारण तत्व, जीव, प्रकृति, तथा ईश्वर इन तीनों में से कोई हो सकता है। क्योंकि सत् शब्द सत्तावान् पदार्थ का वाचक है और सत्तावान् ये तीनों हैं। इसी तरह ब्रह्म शब्द भी बृहत्व एवं बृंहणत्व गुण युक्त अर्थ का वाचक है, अतएव ब्रह्म शब्द भी उक्त तीनों का वाचक है। इसी तरह 'आप्नोति प्राप्नोति व्याप्नोति वा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा शब्द भी तीनों का वाचक हो सकता है। कोश वाक्य के अनुसार भी आत्मा शब्द तीनों तत्वों का वाचक है।[5]

----

1. 'अयमेव सर्वस्य जगतः कारणम्, स्वरूपरूपविशिष्ट ईश्वर एवास्य जगतः कारणम्।' -- तत्वत्रय, 11, पृ० 239.

2. 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'
-- छान्दोग्य उपनिषद् - 6.2.1.

3. 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।'
-- ऐतरेय आत्म षट्कोपनिषद्, 1.1

4. 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्।'
-- बृहदारण्यकोपनिषद् - 1.4.1

5. 'आत्मादेहेधृतौजीवे स्वभावे परमात्मनि।'
-- अमरकोश - तत्वत्रय, टी० - पृ० 241.

इस तरह इन कारण वाची अनेकार्थक शब्दों के द्वारा कारण तत्व का निर्णय नहीं हो पाता है। किन्तु महोपनिषद् में नारायण जो कारण रूप से है उसका वर्णन इस प्रकार न होकर अर्थात् वह अनेकार्थक नहीं है अपितु वह जगत् का एक मात्र कारण नारायण ही है।[1] नारायण पद की उत्पत्ति में भी व्यक्त है, कि जिसका कभी नाश न हो उन नित्य पदार्थों को नर कहते हैं। नरों के समूह को नार कहते हैं, नारों के अयन 'आश्रय' तत्व को नारायण कहते हैं।[2] श्री पराशर भट्ट ने भी अष्टश्लोकी में कहा है कि नर अर्थात् नित्य पदार्थों के आश्रय को नारायण कहते हैं। भगवान के नामों में उनका नारायण नाम सर्वप्रसिद्ध है, वे नारायण ही जगत् के कारण हैं। उन्हें ही परब्रह्म शब्द से अभिहित किया जाता है। अतः सामान्य एवं विशेष न्याय से नारायण ही जगत् का कारण सिद्ध होते हैं। वे ही विष्णु परमात्मा, भगवान् आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। महाभारत आदि ग्रन्थों के अनुसार नारायण ब्रह्म तथा रुद्र के अन्तर्यामी हैं। अतएव श्री महाभारत में युधिष्ठिर जी ने भीष्माचार्य जी से यह प्रश्न किया कि हे पितामह भीष्माचार्य जी इस स्थावर जंगमात्मक सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि किसने की, प्रलय में यह जगत् किसमें लीन होता है।[3]

----

1. 'एको ह्वै नारायण: आसीत्।'

-- महोपनिषद्, 1.1.

2. (अ) 'पूर्वपदात् संज्ञायामग:।' -- अष्टाध्यायी सूत्र - 8.4.3.

(ब) नारायण शब्दश्च कथ्यते = रीयिते इति नर: = नित्यपदार्थ इत्यर्थ:। नराणां समूहो नार: नारायणामयनं नारायण: - इति व्युत्पत्या सिद्ध्यति।'

-- तत्वत्रय, टीका, पृ0 239-240

3. 'केन सृष्टमिदं सर्व जगत् स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह।।

-- महाभारत

श्री भीष्माचार्य जी ने उत्तर देते हुये बताया कि हे युधिष्ठिर अपरिच्छिन्न स्वरूप वाले नारायण ही विश्वरूप लेकर विराजमान हैं। ऋषिगण, पितृगण, आकाश आदि पंचमहाभूत उनसे होने वाले - रक्त, मांस, मज्जा आदि सात धातु, स्थावर जंगम आदि सम्पूर्ण जगत् नारायण से उत्पन्न हुये हैं।[1] महाभारत के इन वचनों से नारायण परम-तत्व एवं परब्रह्म सिद्ध होते हैं।

विष्णु पुराण सर्वमान्य पुराण है। उसकी प्रामाणिकता में किसी को संदेह नहीं है। उस विष्णु पुराण के उपक्रम और उपसंहार से सिद्ध होता है कि श्री विष्णु ही जगत् के कारण एवं परं तत्व हैं। प्रश्न करते हुये मैत्रेय जी ने आचार्य पराशर से कहा कि हे धर्मज्ञ मैं आपसे सुनना चाहता हूं कि यह चराचर जगत् पूर्वकाल में किससे उत्पन्न हुवा, इस जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण कौन था, क्या दोनों कारण एक ही था या भिन्नता थी, आगे यह जगत् किससे किस प्रकार उत्पन्न होने वाला है। हे ब्राह्मन् इस जगत् की स्थिति का कारण कौन है, यह जगत् पूर्वकाल में किसमें लीन था, उत्तर काल में किसमें लीन होगा और किस प्रकार लीन होगा, इन सब तथ्यों को मैं समझना चाहता हूं।[2] इन सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुये महर्षि पराशर

----

1. नारायणो जगन्मूर्तिरनन्तात्मा सनातनः।
ऋषयः पितरो देवाः महाभूतानि धातवः।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्।।
-- महाभारत

2. सो हमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुं तत्वतो यथाजगत्।
बभूव भूयश्च यथा महाभागभविष्यति।
यन्मयञ्च जगत् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम्।
लीन मासीधथा यत्र लय मेष्यति यत्र च।।
-- विष्णु पुराण

ने बताया कि यह जगत् श्री विष्णु भगवान् से उत्पन्न हुआ है । आज कल का जगत् ही नहीं बल्कि अतीत कल्पों में जितने जगत् उत्पन्न हुये हैं वे सभी श्री विष्णु भगवान् से ही उत्पन्न होंगे । सभी कालों में एक श्री भगवान विष्णु ही जगत् का आदि उपादान तथा निमित्त कारण हैं, अत: उन्हीं में स्थित है, वे ही इसकी स्थिति और लय के कर्ता हैं तथा जगत् भी वे ही हैं ।[1] अर्थात् यहां विष्णु शब्द व्यापक तत्व श्रीमन्नारायण को ही बतलाता है ।

इस प्रकार कारण के प्रति तीन प्रकार का कारण -- उपादान कारण, निमित्त कारण, सहकारी कारण माने जाते हैं । परन्तु जगत् के प्रति एक मात्र कारण भगवान् नारायण ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि जगत् रूपी कार्य के लिए अपेक्षित उनमें सभी प्रकार के उपादानादि कारणों के लक्षण मिलते हैं । श्रुति भी कहती है कि जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुये भूत जीवित रहते हैं, जिसमें प्रलय काल में सभी भूत लीन हो जाते हैं, तथा अन्त में जिससे मोक्ष को प्राप्त करते हैं, वही ब्रह्म है उसे ही जानो ।[2] यहां पर जगत्-कारण रूप से कथित ब्रह्म-नारायण ही हैं । महोपनिषद् की श्रुति भी यही कहती है कि सृष्टि से पूर्व न तो ब्रह्मा थे न ईशान 'रुद्र' ही बल्कि एकमात्र नारायण ही थे ।[3] अत: सभी कारण वाची शब्दों के द्वारा भगवान

----

1. विष्णो: सकाशादुद्भूतं जगन्तत्रैव च स्थितम् ।
स्थिति संयमकर्ता सौ जगतो स्य जगच्च स: ।।
-- विष्णु पुराण

2. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्य, तद्ब्रह्म ।

3. 'एको ह वै नारायणं आसीत्, न ब्रह्मा नेशान: ।'
-- महोपनिषद्, 1.1.4.

नारायण ही कहे जाते हैं ।

महोपनिषत्, नारायणोपनिषत्, सुबालोपनिषत्, मैत्रायणीयोपनिषद्, पुरुषसूक्त, नारायणानुवाक्, तथा अन्तर्यामि ब्राह्मण आदि में भगवान् नारायण को ही परम कारण बतलाया गया है ।

सगुण निर्गुण तत्व निरूपण

वेदान्त में ब्रह्म के दो स्वरूप स्वीकार किये गये हैं । आचार्य शंकर ने कहा है कि ब्रह्म का दो रूपों में अनुभव किया गया है -- 1. सगुण स्वरूप 2. निर्गुण निराकार ।[1]

सगुण स्वरूप -- नाम रूप आदि उपाधियों से युक्त सगुण रूप ईश्वर होता है । सगुण ब्रह्म माया की उपाधि से संयुक्त होने के कारण सोपाधिक, सविशेष ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है । अनन्त बल ज्ञानादि कल्याण गुणों से युक्त होने के कारण ब्रह्म की सगुण स्वरूपता सिद्ध होती है । सगुण स्वरूप को स्वीकार करने के लिए एक आचार्य ने व्यक्त किया कि हे हरे ! आप समस्त कल्याण गुणों से परिपूर्ण हैं, आपने अपनी माया शक्ति के लेश मात्र से ही सम्पूर्ण प्राणियों को व्याप्त कर रखा है, ऐसे आप सर्वेश्वर का दिव्य मंगल विग्रह भी अत्यन्त विलक्षण है । अपनी इच्छा से बड़े-बड़े अभीष्ट अप्राकृत एवं दिव्य मंगल विग्रहों को धारण करते रहते हैं, इन दिव्य मंगल विग्रहों से

----

1. 'द्विरूपं हि ब्रह्म भाव गम्यते, नाम रूप विकार-भेदोपाधिविशिष्टं, तत् विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम् ।'

-- ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 1.1.4.

सम्पूर्ण जगत् के हितों को साधते रहते हैं।[1] अत: जगत् के हितों का साधन करना ही दिव्य मंगल विग्रह का प्रयोजन है। ईश्वर ही जगत् का पालक, सृष्टा एवं संहारकर्ता है। वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति तथा लय का कारण और धर्माध्यक्ष है।[2] समस्त कल्याणकारी गुणात्मक भगवान् नारायण ही जगत् के कारण हैं। विचार दृष्टि से जो ब्रह्म निर्गुण है, भाव दृष्टि से वही ब्रह्म स्वगुण बन जाता है। जो अव्यंक्त है वही भक्तों के लिए व्यक्त की संज्ञा धारण कर लेता है। अव्यक्त के समस्त विशेषण मूर्तिमंत से होकर व्यक्तिवान् परमात्मा में प्रत्यक्ष विराजने लगते हैं। जिस प्रकार अग्नितत्व अलक्षित रूप से विश्व 'लकड़ियों' में भी व्याप्त है, और प्रज्वलित होकर लक्षित रूप से एक देशीय भी बन जाता है, ठीक वही बात निर्गुण और सगुण अथवा निराकार व साकार के सम्बन्ध में जानना चाहिये। जिस समय गजेन्द्र ने एक पुष्प सूंड़ में लेकर आर्तभाव से प्रभु को पुकारा, उसी समय निर्गुण-निराकार परमात्मा ने भाववश सगुण-साकार विग्रह में अवतरित होकर उसका उद्धार किया।[3] निर्गुण ब्रह्म अनन्य भक्त के

----

1. समस्त कल्याण गुणात्मको सौ, स्वशक्तिलेशोद्धृतभूत वर्ग: ।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेह: संसाधिताशेषजगद्धितो सौ ।।

2. 'जन्मस्थिति प्रलयानां क्रम दर्शनात् । वस्तुवृत्तमपि जन्मनालब्ध सत्ताकस्य धर्मिण: स्थितिप्रलय संभवात् ।'

-- ब्रह्मसूत्र - 1.1.2

3. तं वीक्ष्य पीडितमज: सहसाव तीर्य ।
सग्राहमाशु सरस: कृपयोज्जहार ।

(क्रमश:...)

भाववश अपना साकार विग्रह प्रकट करके उनके साथ अनेकों प्रकार की मानवी लीलाएं तो अवश्य करता है, परन्तु वे मानवी नहीं होतीं । उनके पीछे भी गुह्यतम रहस्य अन्तर्निहित है, जिसे उनका अनन्यभक्त ही समझ सकता है । किन्हीं परिस्थितियों में तो उनके महान् भक्तों को भी भगवान् की दिव्य लीलाओं के सम्बन्ध में भ्रम हो जाता है । सती, गरुड़, काकभुशुण्डि आदि भक्त प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । ऐसा वही निर्गुण ब्रह्म भक्त के भाव से विभोर होकर अनेक प्रकार की क्रीड़ायें करता है ।[1] जो सर्वव्यापक; निरंजन 'माया-रहित' निर्गुण विनोदरहित और अजन्माब्रह्म है, वही प्रेम और भक्ति से वशीभूत होकर कौशल्या की गोदी में नाना भांति की क्रीड़ायें कर रहा है ।[2] पुराणों के अतिरिक्त वेदों में भी निर्गुण निराकार ब्रह्म के सगुण - साकार रूप में अवतरित होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं । प्रसंगत: भगवान् ने तीन पैरों से सम्पूर्ण लोकों को नाप लिया और आकाश को स्थिर किया । विष्णु के तीन पदों में समस्त जगत् निवास करता है । अत: पर्वत पर रहने वाले असीम शक्तिशाली पशु के समान भगवान् के पराक्रम की प्रशंसा की गयी है । जिन विष्णु ने अकेले ही अपने तीन पैरों से तीनों लोकों को नाप लिया

ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं,
सम्पस्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम् ।।
-- श्रीमद्भागवत् पुराण - 8.3.31.

1. भये प्रगट कृपाला दीन दयाला कौशल्या हितकारी ।
हरषित महतारी मुनिमन हारी अद्भुत रूप विचारी ।
लोचन अभिरामा तनुघनश्यामा निज आयुध भुजधारी ।
भूषन बन माला नयन विशाला सोभा सिन्धु खरारी ।
-- श्रीरामचरितमानस, 1.191. छंद 1

2. व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौशल्या के गोद ।।
-- वही - 1.198

ऐसे प्रभु की सभी जीव प्रार्थना करते हैं ।[1] श्री भगवान विष्णु अनन्त गुण-वली से विभूषित हैं । उनके वे दिव्य गुण हैं, जो स्वाभाविक हैं । जिस प्रकार लवण में लवणता स्वाभाविक है, एवं सिता में माधुर्य, उसी प्रकार भगवान् के निरातिशय गुण भी स्वाभाविक हैं, स्वरूप-भूत हैं, आगन्तुक नहीं ।[2]

भगवान् दिव्य गुण, समस्त हेय गुणों से विरुद्ध हैं । अर्थात् हेय गुणों का तात्पर्य प्राकृत गुणों से है । सत्त्व, रज, तम प्राकृत गुण हैं ।[3] और यह तीनों गुण भगवान में नहीं हैं, अत: भगवान् परम दिव्य एवं सच्चिदानन्द घन हैं ।[4]

----

1. तदादितदिदस्य पौंस्यं गृणीमसीनस्य त्रातुरवृकस्य मीढ्हुष: ।
   य: पार्थिवानि त्रिभिरिद्विगामभिरुरुक्रमिष्टोरुगायाय जीवसे ।।
   द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति ।
   तृतीय मस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्त पतत्रिण: ।

   -- ऋग्वेद - 1.155.4-5.

2. 'गुणै: स्वरूप भूतैस्तु गुण्यसौ हरिरीश्वर: ।'

   -- ब्रह्म तर्क

3. 'सत्त्वं रजस्तम इतिप्रकृतेर्नात्मनो गुणा: ।'

   -- श्रीमद्भागवत्, 6.12.15.1

4. सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणा: ।
   स शुद्ध: सर्वशुद्धेभ्य: पुमानाद्य: प्रसीद तु ।।

   -- विष्णु पुराण, 1.9.44

भगवान् के पराक्रमों की गणना भला कौन कर सकता है ? परन्तु हे प्रभु जिन समर्थ पुरुषों ने अनेक जन्मों तक परिश्रम करके पृथ्वी का एक-एक रज: कण, आकाश के हिम-कण `ओस की बूंदें` तथा उसमें चमकने वाले नक्षत्र एवं तारों तक को गिन डाला है - उनमें भी भला ऐसा कौन हो सकता है, जो आपके सगुण - स्वरूप के अनन्त गुणों को गिन सके । हे प्रभो, आप केवल संसार के कल्याण के लिए ही अवतीर्ण हुये हैं ।[1] वे भगवान् सत्य, ज्ञान, आनन्द, सत्य कामना, सत्य संकल्पता आदि अनन्त गुणों के स्वामी हैं ।[2]

----

1. (अ) गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिता: सुकल्पै-
र्भूपांसव: स्वेमिहिका द्युभाष: ।।
-- श्रीमद्भागवत् 10.14.7

(ब) विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं य: पार्थिवानि विमे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्तं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय: ।।
प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्येण मृगो न भीम: कुचरो गिरिष्ठा: ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।।
-- ऋग्वेद - 1.154.1-3

2. (क) `सत्यंज्ञान अनन्तं ब्रह्म ।`
-- तैत्तरीयोपनिषद्, 2.1.

(ख) `विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।`
-- बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.9.28.

(क्रमश:...)

भगवान् के सौशील्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि अनन्त गुणों में से भक्त गण छः गुणों को मुख्य मानते हैं।[1] पंचरात्र के अनुसार ये छः गुण हैं -- ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, ओज।[2] विष्णु पुराण में भी इन्हीं षट् गुणों को भग के नाम से व्यक्त किया है।[3] प्रकारान्तर से षड् गुणों

(ग) 'य: सर्वज्ञ: सर्ववित् ।'

-- मुण्डकोपनिषद्, 1.1.9.

(घ) 'आनन्दब्रह्मणो विद्वान् ।'

-- तैत्तरीयोपनिषद्, 2.4.

(ङ) 'सत्यकाम: सत्य संकल्प:'

-- छान्दोग्योपनिषद्, 8.1.5.

(च) 'ह्लादिनी संधिनी संवित् ।'

-- विष्णु पुराण - 1.12.68.

1. (क) नमस्ते वासुदेवाय शान्तामन्त चिदात्मने ।
अजिताय नमस्तुभ्यं षाड्गुण्यनिधये नम: ।।

-- श्रीमद्भागवत

(ख) शान्ताय सुविशुद्धाय तेजसे परमात्मने ।
नम: सर्वगुणातीतषाड्गुण्यायाति वेधसे ।।

-- ब्रह्मतन्त्र

2. 'त्रिभिर्ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्त्योजसां युगै: ।'

-- वही

3. ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषत: ।
भगवच्छब्द वाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभि: ।।

-- विष्णु पुराण, 6.5.79

को ऐसा भी कहा गया है -- ऐश्वर्य, धर्म, कीर्ति, कान्ति, ज्ञान, वैराग्य इन गुणों को भी भग नाम से जाना गया है।[1] ये छ: गुण जिनमें पूर्ण होते हैं, वे ही वास्तव में भगवान् हैं।[2]

इस प्रकार सगुण साकार श्री भगवान् के दिव्य गुणों की ऐसी ही महिमा है। जब हम परमात्मा को जगत्कर्ता कहते हैं, तब परमात्मा का कर्तृत्व-गुण जगत्सापेक्ष है। अर्थात् जगत् है तभी तो हम जगत्कर्ता कहते हैं। इसी प्रकार जब हम प्रभु को पतित पावन कहते हैं, तब प्रभु का पावन नामक गुण पतित सापेक्ष है। अर्थात् कुछ जीव पतित हैं, प्रभु उनको पवित्र करते हैं, तभी हम प्रभु को पतितपावन कहते हैं। ऐसे गुण अनेकानेक हैं। श्री विष्णु-रहस्यनाम - स्तोत्र में भगवान् के एक सहस्र नाम हैं, ये सभी नाम गुणों के अनुसार हैं।[3]

आचार्य रामानुज ने भी श्री भगवान् के रूप का इस प्रकार से प्रतिपादन किया है कि जिस प्रकार ज्ञानानन्दादि गुण पर ब्रह्म के स्वरूपभूत गुण हैं,

----

1. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशस: श्रिय: ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।।
-- विष्णु पुराण - 6.5.74

2. तत्र पूज्य पदार्थोक्ति परिभाषा समन्वित: ।
शब्दो यं नोपचारेण त्वन्यत्र ह्युपचारत: ।।
-- वही - 6.5.77

3. यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मन: ।
ऋषिभि: परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ।।
-- विष्णु सहस्रनाम-स्तोत्र, 13.

उसी प्रकार यह रूप भी स्वरूप ही है, क्योंकि श्रुति ने इसे भी स्वरूप कहकर निर्देश किया है ।[1] श्रुतियों के वाक्य भी यही उद्घोषित करते हैं कि परब्रह्म के गुण प्रकृति-विकार नहीं हैं, हेय नहीं हैं, और न उनका वपु ही प्राकृत, हेय, अथवा कर्माधीन है । बल्कि इसके विपरीत परब्रह्म के गुण कल्याण-गुण हैं और उनका विग्रह कल्याण-विग्रह है । भगवान् का यह रूप स्वाभाविक है ।[2] आचार्य रामानुज के गीताभाष्य में श्रीकृष्ण ने व्यक्त किया है कि मैं श्री कृष्ण अपने ही रूप को देव, मनुष्य आदि के आकार का बनाता हुआ देवादि रूप में अवतीर्ण होता हूं ।[3]

----

1. 'यथा ज्ञानादय: परस्य ब्रह्मण: स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूप भूत गुणास्तथा इदमपि रूपं श्रुत्या स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूप भूतम् ।'
   -- वेदार्थ संग्रह,

2. 'परस्य ब्रह्मण: प्राकृत हेय गुणान्, प्राकृत हेय देह सम्बन्धं तन्मूलकर्म-वश्यतासम्बन्धं च प्रतिषिध्य कल्याण गुणान् कल्याणरूपं च वदन्ति । तदिदं स्वाभाविक मेव रूपम् ।'
   -- श्रीभाष्य,

3. 'स्वमेव रूपं देवमनुष्यादि सजातीय संस्थानंकुर्वन्नात्म संकल्पेन देवादि रूप: सम्भवामि ।'
   -- गीताभाष्य,

निर्गुण स्वरूप -- निर्गुण निर्विशेष और निरूपाधिक ब्रह्म `परब्रह्म` कहलाता है । ईश्वर वह जो समस्त उपाधियों से रहित हो उसे निर्गुण स्वरूप माना गया है ।[1] अद्वैत श्रुतियों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि एक मात्र निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है, उससे भिन्न प्रतीय-मान ज्ञाता ज्ञेय आदि समस्त भेद मिथ्या हैं तथा उस निर्गुण ब्रह्म में ही आरोपित हैं ।[2] ब्रह्म को निर्गुण सिद्ध करने वाली श्रुतियां कहती हैं कि ब्रह्म साक्षी हैं, चेता हैं, केवल हैं तथा निर्गुण है ।[3] दूसरी श्रुति भी यही कहती है कि ब्रह्म कला एवं क्रिया से रहित शान्त `षड्भिर्रहित` निरवय निर्दोष तथा निरंजन है ।[4] अत: ये श्रुतियां ब्रह्म में गुणों का निषेध करती हैं अर्थात् ब्रह्म निर्गुण है ।[5] श्रुति ने ब्रह्म में सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद का निरास करती हैं । यह

----

1. भारतीय दर्शन विमर्श, भारतीय दार्शनिक निबन्ध, पृ0 32.

2. `अद्वैतश्रुत्या ब्रह्मैकमेव सत्यं निर्गुणं च । तदन्यत् ज्ञातृ ज्ञेयादिकं तस्मिन्नेव परिकल्पितम् ।`
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 230.

3. `साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।`

4. `निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवयं निरंजनम् ।`

5. `सदेव सोम्येदमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम् ।`

श्रुति `सदैव` पद के द्वारा विजातीय भेदों का, `एकमेव` पद के द्वारा सजातीय भेद का तथा `अद्वितीयम्` पद के द्वारा स्वगत भेद के अभाव का प्रतिपादन करती है। ब्रह्म अद्रेश्य अर्थात् अदृश्य `ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अग्राह्य अर्थात् अनुमान के द्वारा दुर्ग्राह्य है, अगोत्र अर्थात् नामरहित है, सद्ब्रह्म आदि एक उसे लक्षण के द्वारा ही प्रदर्शित करते हैं। अवर्ण है - अर्थात् रूप तथा जाति से रहित हैं। वह अचक्षु: श्रोत्र अर्थात् देश एवं काल की सीमा से रहित है। वह सर्वगत है, अत: सभी वस्तुओं का अधिष्ठान होने के कारण वस्तु-परिच्छेद से रहित है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, अतएव वह अदृश्य कहा जाता है। न कि तुच्छ होने के कारण अदृश्य है। वह ब्रह्म अव्यय सदा एक समान रहने वाला है। उसे ही तत्ववेत्ता पुरुष सभी भूतों के कारण रूप से साक्षात्कार करते हैं, इस श्रुति ने ब्रह्म में सभी गुणों का अभाव बताते हुये ब्रह्म को निर्विशेष, निर्विकार एवं सत्य बतलाती हैं।[1] ब्रह्म सत्य स्वरूप है -- अलीक व्यावृत्त, ज्ञान स्वरूप - जड़ व्यावृत्त तथा अनन्त - परिच्छिन्न प्रत्यनीक है।[2] यह वाक्य भी ब्रह्म को निर्विशेष सिद्ध करता है। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में आरोपित है।[3] इस जगत् में दृश्यमान् नाना प्रकार के भेद ब्रह्म में आरोपित होने के कारण मिथ्याभूत हैं।[4] जो इन भेदों को - सत्यरूप से देखता है, उसको

----

1. `यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूत योनिं परिपश्यन्ति धीरा: ।`
-- मुण्डकोपनिषद् - 1.1.6
2. `सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।` -- तैत्तरीयोपनिषद्, आनन्दवल्ली - 1.1.
3. `इदं सर्व यदयमात्मा ।` -- बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.6
4. `नेह नानास्ति किञ्चन ।` -- वही, 6.4.19.

बार-बार संसार में आना-जाना पड़ता है ।[1] इन सभी श्रुति वचनों के द्वारा यही स्पष्ट होता है कि केवल ब्रह्म ही सत्य है, वह निर्गुण एवं निर्विकार है । अद्वैत सम्मत अपच्छेदन्याय के माध्यम से निर्गुण शास्त्र के द्वारा सगुणशास्त्र का बाध हो जाने पर ब्रह्म निर्गुण ही सिद्ध होता है ।

निर्गुण एवं सगुणतत्व की एकता

ब्रह्म या नारायण निर्गुण भी हैं, और सगुण भी, तथा निर्गुण सगुण दोनों से विलक्षण भी हैं । सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड जिनसे प्रकट होता है, जिनमें स्थित है तथा अन्त में जिनमें विलीन हो जाता है, वे भगवान् चराचर के पालक, पोषक, संहारक, षडैश्वर्यसम्पन्न, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थ होते हुये भी भक्तों के लिए अत्यन्त सुलभ हैं, निर्विकार, निराकार, निर्विशेष होते हुये भी भक्तों की पुकार सुनते आये हैं, व्यापक होकर भी एक देश में अवतरित होते हैं । इसी प्रकार सगुण और निर्गुण श्रुतियों में भी किसी प्रकार का प्राबल्य, दौर्बल्य का विचार नहीं है ।[2]

----

1. 'मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।'
   -- बृहदारण्यकोपनिषद्, 6.4.19.

2. 'दूरेगुणास्तवतु सत्वरजस्तमांसि
   तेन त्रयी प्रथयतित्वयि निर्गुणत्वम् ।
   नित्यं हरे सकल सद्गुण सागरं हि
   त्वामामनन्ति परमेश्वरमीश्वराणाम् ।।
   -- विशिष्टाद्वैत - तत्वदिग्दर्शन (ईश्वर तत्व निरूपण), पृ0 98.

वस्तुत: परब्रह्म के निर्गुण अथवा सगुण तत्व में से किसी एक में स्थित हो जाने पर साधक को परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है । साथ ही एक तत्व से दोनों का सुगमता से बोध हो जाता है ।दोनों तत्व एक ही सिक्के के दो पहलू हैं ।

आरण्यकों, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में निर्गुण और सगुण ब्रह्म की यह समन्वयात्मक व्याख्या और भी प्रखर हो उठती है । स्मृति काव्यों में भगवान् के निर्गुण-सगुण-तत्वों के पार्थक्य और अपार्थक्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं । अन्त में दोनों तत्वों के बीच अद्भुत एकता स्थापित की गयी है । भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है कि `धनंजय`मेरे सिवाय किंचित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में सूत्र के मणियों के समान मुझमें गुंथा हुआ है ।[1] वह ब्रह्म विभाग रहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में पृथकत्व के सदृश प्रतीत होता है, तथा वह जानने योग्य परमात्मा विष्णु रूप से भूतों का धारण-पोषण करने वाला, रुद्ररूप से संहार करने वाला, तथा ब्रह्मा रूप से सबकी उत्पत्ति करने वाला है ।[2] जिस प्रकार महाकाश अविभक्त अथवा विभाग रहित स्थित होता हुआ भी घड़ों में पृथक्-पृथक् के सदृश प्रतीत होता है, ठीक वैसे ही परमात्मा सब भूतों में एक रूप से स्थित होता हुआ भी पृथक्-पृथक् की भांति प्रतीत होता है । भगवान्

----

1. मत: परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ।।
-- गीता - 7.7

2. अविभक्तं च भूतेषु विभक्त मिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।
-- वही - 13.16

ने संकेत भी किया है कि मेरे जन्म कर्म सभी दिव्य हैं, वे लौकिक नहीं अलौकिक हैं।[1] भाषा ग्रन्थों में भी भगवान के सगुण-निर्गुण रूपों में एकता स्थापित की गयी है। भाषा-ग्रन्थों में तुलसीदास जी का 'रामचरितमानस' अप्रतिम है। इसमें संत गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रभु के अवतार के कारणों का वर्णन किया है कि ब्राह्मण, गौ, देवता और संतों के रक्षाहित वहां पर भगवान् ने मनुष्य का अवतार ग्रहण किया है।[2] ऐसे ये भगवान् माया - अज्ञान रूपी मलिनता और उसके तीनों गुणों - सत्व, रज, तम एवं बाह्य आभ्यन्तर इन्द्रियों से परे हैं। उन्होंने स्वेच्छा से दिव्यातिदिव्य शरीर धारण किया है।

अत: निर्गुण और सगुण तथा दोनों का एकत्व, अभेद तत्व भगवान् नारायण ही हैं। इस प्रकार यह दृश्य एवं अदृश्य जो कुछ भी कल्पना में आता है, और जो कल्पनातीत है, तथा जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान एवं - त्रिकालातीत है सब कुछ ब्रह्म ही है। नारायण से न कोई वस्तु परे है और न भिन्न ही है। यही भगवान् के निर्गुण और सगुण-तत्व का गुह्यतम रहस्य है।

0

----

1. 'जन्म कर्म च मे दिव्यम् ।'
-- गीता

2. विप्रधेनुसुर सन्त हित, लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ।।
-- श्रीरामचरितमानस, 1.192.1

अष्टम अध्याय

विशिष्टाद्वैतसम्मत अद्रव्य निरूपण

अद्रव्य लक्षण

द्रव्य और अद्रव्य का सिद्धान्त - विशिष्टाद्वैत का केन्द्रबिन्दु है।[1] द्रव्य और अद्रव्य परस्पर भिन्न होते हुये भी अपृथक् सिद्ध हैं। सामान्य भाषा में द्रव्य एक विशिष्ट वस्तु है और अद्रव्य उसका गुण या विशेषण है। प्रत्येक वस्तु गुण विशिष्ट ही प्रतीत होती है, अतः गुण द्रव्य का अनिवार्य अंग है।[2] द्रव्य अद्रव्य का आधार है आश्रय है। अद्रव्य स्वयं किसी का आधार नहीं। द्रव्य विशेष्य है और अद्रव्य उसका विशेषण, द्रव्य अंशी है अद्रव्य उसका अंश है। अद्रव्य का द्रव्य के विना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

द्रव्य और अद्रव्य का सिद्धान्त विशाल है, क्योंकि यह केवल भौतिक पदार्थों पर ही लागू न होकर, जीव, जगत् एवं ईश्वर पर भी घटित होता है। ईश्वर एक विशिष्ट द्रव्य है,[3] और जीव `चित्` एवं जगत् `अचित्` उसके अंश एवं विशेषण होने के कारण अद्रव्य हैं। अद्रव्य अपने अस्तित्व के लिये द्रव्य पर आश्रित रहता है, अतः जीव और जगत् अपने अस्तित्व के लिये ईश्वर पर

---

1. `तच्चद्रव्येषु दृष्टं नियतिमदपृथविशदमद्रव्यजातम्।`
-- तत्वमुक्ताकलाप, 5.1.

2. `सविशेषवस्तु विषयत्वाद् सर्वप्रमाणानाम्।`
-- श्रीभाष्य, 1.1.1., पृ० 50.

3. `श्रीमन्नारायण एव चिद्चिद्विशिष्टाद्वैततत्वम्।`
— यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 3.

आश्रित हैं।[1] ईश्वर जीव-जगत् का आधार, नियन्ता एवं संचालक है। ईश्वर प्रधान होने के कारण शेषी है तथा जीव एवं जगत् शेष एवं नियम्य हैं।[2]

अद्रव्य, सत्व, रजस् एवं तमोगुण के रूप में विश्व के प्रत्येक पदार्थ में अनुस्यूत है। अद्रव्य ज्ञान का विषय है, सर्वत्र सब द्रव्यों में विद्यमान है, विश्व रूप अद्रव्य - परमात्मा का विशेषण है। अद्रव्य गुण है एवं विकृत होता है, अत: अद्रव्य का आधार होने से ईश्वर को निर्गुण एवं निर्विकार बतलाने वाली श्रुति से विरोध होगा। यह शंका उचित नहीं क्योंकि ईश्वर अद्रव्य से प्रत्यक्षत: सम्बन्धित न होकर द्रव्य के व्यवधान से सम्बन्धित है।[3] `अलभ्यलाभकार` वीरराघवाचार्य के अनुसार ईश्वर समस्त कल्याण गुणों का आश्रय एवं अखिलहेय प्रत्यनीक है।[4] उसमें प्राकृत गुणों या अद्रव्यों की व्याप्ति का अभाव है, अत: अद्रव्य परमात्मा में कोई दोष उत्पन्न नहीं कर

----

1. तत्रतत्रापृथक्सिद्धम् अद्रव्य जातम्। तद्देव विश्वमभिपरस्यापृथक्सिद्धम्।

-- सर्वार्थसिद्धि - 5.1.

2. चेतना चेतना: सर्वभूता: स्थावरजंगमा:।
पूरिता: परमेशेन रसेनौषध्यो यथा।।

-- जयाख्य संहिता, 4.93.

3. `विशेषणगतानां विकारादीनां तत्तद्द्रव्यव्यवधानेन भगवद्विशेषणत्वात् न स्वरूपे भगवतो दोष: - न विकारादि सम्बन्ध:।।`

-- सर्वार्थ सिद्धि, 5.1.

4. `अखिल हेय प्रत्यनीक कल्याणैकताने द्रव्य धर्माश्चेमे व्याप्त्य-भावात् विपरीत साधको असमर्थो भवति।`

-- अ० ला०, 5.1.

सकता । ईश्वर के अप्राकृत नित्य, अप्रतिम दिव्य गुणों का सिद्धान्त शास्त्र अनुमोदित है ।[1]

वेदान्तदेशिक के अनुसार द्रव्य अवस्था से युक्त है अद्रव्य अवस्था से रहित है । आगन्तुक अपृथक् सिद्ध धर्म अवस्था है । द्रव्य, अद्रव्य का आश्रय या उपादान है, अद्रव्य द्रव्य में रहता है, परन्तु अद्रव्य किसी का उपादान नहीं । अनुपादानत्व अद्रव्य का लक्षण है ।[2] 'न्यायसिद्धाञ्जन' के अनुसार जो पदार्थ संयोग से रहित हो - अर्थात् जिसमें किसी दूसरे का संयोग नहीं होता तथा जो दूसरे में संयुक्त नहीं होता वह अद्रव्य है ।[3] विशिष्टाद्वैत के अनुसार द्रव्य और अद्रव्य अपृथक्सिद्ध होते हुये भी भिन्न हैं ।[4]

----

1. (क) सत्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।
स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ।
--विष्णु पुराण, 1.9.47.

(ख) 'यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।'
-- बृहदारण्यकोपनिषद्, 5.15.1

(ग) 'रागद्वेषादिविनिर्मुक्तसमस्त गुण मूर्तिमान् ।'
-- सात्वत संहिता, 7.25.

(घ) 'नारायणं गुणै सर्वैरुपेतं दोषवर्जितम् ।'
-- ब्रह्मसूत्र, माध्वभाष्य, 1.

2. 'अवस्थावत् द्रव्यम्। तद्व्यतिरिक्तमद्रव्यम् । आगन्तरपृथक् सिद्धर्मावस्था ।
अद्रव्यस्यानुपादनत्वं लक्षणं निजगदुः ।'
--सर्वार्थसिद्धि, 5.2.

3. 'संयोगरहितमद्रव्यम् ।' -- न्यायसिद्धाञ्जन, वाराणसी, पृ0 558.

4. 'इदं चाद्रव्यंद्रव्यादयत्यन्तभिन्नम् ।' -- सर्वार्थसिद्धि, 5.2

मीमांसकों के अनुसार द्रव्य और अद्रव्य भिन्न एवं अभिन्न दोनों हैं।[1] नैयायिकों के अनुसार द्रव्य और गुण में समवाय सम्बन्ध है।[2] नैयायिक विद्वानों ने दो अयुतसिद्ध पदार्थों में समवाय सम्बन्ध स्वीकार किया है। परन्तु आचार्य वेदान्तदेशिक के अनुसार इस सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है। अयुतसिद्धता स्वयमेव सम्बन्ध है, अत: सम्बन्ध के सम्बन्ध की धारणा कल्पना गौरव मात्र है और इसमें `आनन्त्यदोष` भी है। द्रव्य अद्रव्य में स्वाभाविक सम्बन्ध है और उनका विशिष्ट व्यवहार भी स्वाभाविक है।[3]

वेदान्त कारिकावली एवं यतीन्द्रमतदीपिका के अनुसार अद्रव्य का लक्षण इस प्रकार से किया गया है कि जो पदार्थ संयोग से रहित होता है, उसे अद्रव्य कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जो पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ से संयुक्त नहीं होता तथा जिससे किसी दूसरे पदार्थ का संयोग नहीं होता, वह अद्रव्य कहलाता है।[4]

----

1. `न पुन: कौमारिल जैनादिवत् भिन्नाभिन्नम्।`

-- सर्वार्थसिद्धि, 5.2

2. `तयो अयुतसिद्धयो: सम्बन्ध: समवाय:।`

-- तर्कभाषा, पृ0 26.

3. `भवतायययोरयुतसिद्ध्या समवाय: कल्पते, तमारेयुतसिद्धिरेव सम्बन्ध:, न पुनस्तत्कल्पनीय: समवाय: कल्पना गौरवात्। अत: स्वभाव देव द्रव्याद्रव्ययोरुपश्लेष:। एवमेव द्रव्याद्रव्ये स्वभावादेव विशिष्टव्यवहारमातन्वाते।`

-- सर्वार्थसिद्धि, 5.2

4. `संयोगरहितमद्रव्यम्।`

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 269.

प्रत्येक द्रव्य में अद्रव्य की सत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है , अत: अद्रव्य की सत्ता अनुभव गम्य है ।[1] अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता । विश्व-परमात्मा से अपृथक् सिद्ध है । यह तथ्य शास्त्र प्रमाणित है ।[2] यदि अद्रव्य का अपलाप करें तो विश्व का भी अपलाप करना पड़ेगा । विश्व दृष्टपदार्थ है, अत: दृष्ट का विरोध नहीं किया जा सकता । वेदान्त देशिक ने दृष्ट विरोध के उदाहरण रूप में `अतीत है`, `मेरी माता वन्ध्या है`, `मैं जन्म से मौनी हूं` आदि वाक्य प्रस्तुत किये हैं । अत: प्रत्यक्ष दृष्ट को अंगीकार न करने से सबका ही अपलाप हो जायेगा ।[3]

न्यायसिद्धाञ्जनकार ने महर्षि पराशर के वचनों को उद्धृत करके यह सिद्ध किया है कि एक ही पदार्थ विभिन्न पुरुषों में सुख-दु:ख ईर्ष्या एवं कोप का कारण होता है ।[4] अत: पदार्थ अद्रव्य या गुण युक्त है । आचार्य शंकर

----

1. `अस्ति अद्रव्यजातं अनुभवापलापयोगात् ।`

   -- अलभ्यलाभ, 5.1

2. (अ) `तस्मिन् हि तस्थु: भुवनानि विश्वा ।`

   -- शुक्ल यजुर्वेद, 30.19

   (ब) `जगत्सर्वं शरीरं ते ।` --वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 121.26.

   (स) `तत्सर्वं वै हरेस्तनु: ।` -- विष्णु पुराण - 1.22.38

3. `इतरथा विश्वतत्वापलाप:, अतो दर्शनानुरोधानङ्गीकारे सर्वापलापप्रसङ्ग: इति ।`

   -- सर्वार्थसिद्धि, 5.2

4. `वस्त्वेकमेव दु:खायसुखायेर्ष्यागमाय च ।
   कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुत: ।।`
   -- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 560

नें भी सूत्र के माध्यम से सत्वादि को द्रव्य धर्म मानकर अद्रव्य की सिद्धि की है।[1]

अद्रव्य का निरास करने के लिए पूर्वपक्ष ने तर्क प्रस्तुत किया है कि द्रव्य अवस्था युक्त है और अद्रव्य उसकी अवस्था है। द्रव्य और अद्रव्य अन्योन्य सापेक्ष है, अत: एक ही असिद्धि से दूसरे की असिद्धि स्वयमेव हो जायेगी।[2] परन्तु वेदान्त देशिक के अनुसार द्रव्य और अद्रव्य विशेष्य और विशेषण हैं, विशेषण और विशेष्य एक क्षण में एक साथ रहते हैं। द्रव्य अद्रव्य का आधार है और अद्रव्य आधेय।[3] अत: आधार और आधेय सम्बन्ध से द्रव्य और अद्रव्य दोनों ही सिद्ध हैं। द्रव्य और अद्रव्य अपने अस्तित्व के लिए अन्योन्य सापेक्ष नहीं अपितु एक साथ ही व्यवहृत होते हैं। लोक में प्राय: देखा जाता है कि विशेषण एवं विशेष्य का युगपत् व्यवहार होता है। अत: लोक व्यवहार के अनुसार द्रव्य एवं अद्रव्य विभाग की कल्पना भी युक्तियुक्त है। आचार्य वेदान्त देशिक ने कहा है कि लक्षण के आधार पर अद्रव्य का अपलाप करने वाले शून्यवाद प्रभृति मत शेषावतार आचार्य रामानुज के द्वारा समाप्त किये जा चुके हैं।[4]

----

1. (क) 'रचनानुपपत्तेश्च' -- ब्रह्मसूत्र, 2.2.1
   (ख) 'यत: सत्वादयो द्रव्य धर्मा:, न तु द्रव्यस्वरूपम्।'
   -- उद्धृत न्या० सि०, पृ० 561
2. 'तथा च अन्योन्या सापेक्षत्वात् द्रव्यमद्रव्यं च द्वयमपि न सिद्ध्यति।'
   -- सर्वार्थ सिद्धि, 5.2
3. 'द्रव्याद्रव्यशब्दयोर्विशेषण विशेष्य विषयोर्युगपदेव, उपलभ्यमानयो-राधाराधेय योरनयोरनुक्रमात् द्रव्याद्रव्यशब्दौवाचकाविति।'
   -- वही, 5.2
4. 'लोक दृष्टविशेषणविशेष्यादि विभागानुसारेण द्रव्याद्रव्यविभाग

(क्रमश:...)

शून्यवादी बौद्ध धर्म-धर्मीभाव स्वीकार नहीं करते, किन्तु वेदान्त देशिक का मत है कि धर्म-धर्मी भाव के बिना लोक व्यवहार से विरोध होगा, अतएव अद्रव्य की सत्ता निर्विवाद सिद्ध है।[1]

अद्रव्य विभाग

विशिष्टाद्वैत में अद्रव्यों की संख्या दस मानी गई है।[2] अर्थात् ये द्रव्य हैं -- सत्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शक्ति एवं संयोग।

परिकल्पनं न्यायम्। अतो लक्ष्यलक्षणादि खण्डनचण्डचण्डमारुतो व्याघातशेषफणिमुख सहस्रेण परिपीतो जाठरदहनेन भस्मीभवतीति सर्वमवादातम्।`

-- सर्वार्थ सिद्धि, 5.3

1. `धर्म-धर्मिभावानङ्गीकारे सकल लोक व्यवहारविरोध इत्यद्रव्य वर्गस्य सर्वैर्दुरपह्नवत्वं दृढ़यति।`

-- वही, 5.4

2. (क) `तस्मिन् अद्रव्य वर्गे सत्वं रजस्तम इति प्रधान भूता गुणा:, शब्दादय: संयोग: शक्तिरिति दशैव।`

-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 558.

(ख) `तदद्रव्यं च सत्वरजस्तमांसि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्संयोगश्शक्ति-रिति दशप्रकार मेव।`

वही, पृ0 259.

(ग) `अद्रव्याणि च दशधा - सत्वरजस्तमांसि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा:, संयोग:, शक्तिश्चेति।`

-- वेदान्तकारिकावली, पृ0 114.

न्यायवैशेषिक के अनुसार गुणों की संख्या चौबीस है।[1] जिसमें से - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं संयोग विशिष्टाद्वैत के अद्रव्यों में सम्मिलित हैं। `बुद्धि` गुण को विशिष्टाद्वैत में `द्रव्य` माना गया है। शेष सत्रह गुणों को वेदान्तदेशिक ने अतिरिक्त गुण नहीं माना क्योंकि उनका यथासंभव अन्तर्भाव विशिष्टाद्वैत के दश अद्रव्यों में सरलता पूर्वक किया जा सकता है।

आचार्य वेदान्तदेशिक के अनुसार वैशेषिक के स्नेह, गुरुत्व, द्रव्यत्व, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, विभाग, परत्व, अपरत्व एवं संस्कार नामक गुणों तथा कर्म, सामान्य विशेष, समवाय, अभाव आदि पांच पदार्थों का विशिष्टाद्वैत के अद्रव्यों में विलय कर देने पर, न्याय-वैशेषिक के केवल दो ही पदार्थ बचते हैं, वे हैं -- द्रव्य और गुण। अत: न्याय-वैशेषिक के वृहदाकार नौ द्रव्यों, चौबीस गुणों, पांच कर्मों, दो सामान्यों, अनन्त विशेषों, एक समवाय तथा चार अभावों को हम विशिष्टाद्वैत के छ: द्रव्यों और दश अद्रव्यों में सम्मिलित करके पदार्थ विभाग को अधिक उपयुक्त एवं प्रमाणिक बना सकते हैं।[2]

----

1. `रूपरसगन्धस्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वापरत्व गुरुत्व द्रव्यत्व, स्नेहशब्द बुद्धि सुख दु:खेच्छा द्वेष प्रयत्न धर्माधर्म-संस्कारश्चतुर्विंशति गुणा:।`

-- तर्कसंग्रह, न्यायबोधिनी, पृ0 3.

2. (क) `एवंविधेष्वेवाद्रव्येषु गुरुत्वद्रव्यत्वस्नेह संस्कार संख्या-परिमाण पृथक्त्व विभागपरत्वापरत्व कर्मसामान्य सादृश्य विशेष समवायाभाव वैशिष्ट्यादीनां यथा सम्भव अन्तर्भाव:।

-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 559.

(क्रमश:..)

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त द्वारा स्वीकृत दश गुणों में से सत्त्व, रजस् एवं तम विशेष महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि ये प्रकृति की सूक्ष्मावस्था 'प्रलय' एवं स्थूलावस्था 'सृष्टि' में सदैव विद्यमान रहते हैं।[1] प्रकृति गुणों का वर्णन करते हुये प्रथम सत्व का विचार करते हुये व्यक्त किया गया है कि - इन दश द्रव्यों में जो प्रकाश, सुख एवं लाघव का कारण हो, अतीन्द्रिय हो तथा शक्ति से भिन्न हो, उस अद्रव्य को सत्व कहते हैं।[2] ऐसा यह सत्व दो प्रकार का होता है -- (1) शुद्ध सत्व (2) मिश्र सत्व।[3]

(ख) 'प्रमाणगतिरेव पदार्थपरिकल्पनायां संख्यम्, न पुनर्वैशेषिकादीनां सांकेतिक व्यवहारः।'
-- सर्वार्थसिद्धि, 5.15.

(ग) 'वैशेषिकाद्यभिमतानां गुरुत्व द्रवत्वादीनां यथा संभवं क्लृप्तेषु पदार्थेष्वेवान्तर्भावः। सिद्धान्ति संमतः॥'
-- वेदान्तकारिकावली, पृ० 114

1. 'सत्वाद्याः स्थूलसूक्ष्मप्रकृतिगत गुणा हेतुभूतास्सुखादेः।'
-- तत्वमुक्ताकलाप, 5.16.

2. (क) प्रकाश सुख लाघवादि निदानमतीन्द्रियं शक्त्याद्यतिरिक्तमद्रव्यं सत्वम्। -- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 259.

(ख) अतीन्द्रियं प्रकाशादिनिदानं सत्वशब्दितम्।
-- वेदान्तकारिकावली, का० 3, पृ० 115

3. (क) 'तद्द्विविधम् -शुद्धसत्वं मिश्रसत्वं चेति।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 259

(ख) 'शुद्धसत्वं मिश्रसत्वमिति सत्वं द्विधा मतम्।'
-- वेदान्तकारिकावली, का० 1, पृ० 114

शुद्धसत्व : यह वह तत्व है जो रजोगुण एवं तमोगुण रहित द्रव्य में पाया जाता है। यह शुद्धसत्व नित्यविभूति में पाया जाता है, क्योंकि नित्यविभूति रजोगुण एवं तमोगुण रहित द्रव्य है। उस नित्य विभूति के प्रवर्तक ईश्वर हैं, अतएव ईश्वर में भी शुद्ध सत्व पाया जाता है।[1]

मिश्रसत्व : रजो गुण एवं तमोगुण का सहवर्ती होता है। प्रकृति एवं प्राकृतिक द्रव्य रजोगुण, तमोगुण एवं सत्व गुण इन तीनों गुणों से युक्त रहते हैं। यह सत्व प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले बद्ध जीवों में भी पाया जाता है। जीव का गुण सत्व नहीं है किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण मिश्र सत्व का सांसारिक जीवों से सम्बन्ध है। अतएव जीव के साथ मिश्र सत्व का सम्बन्ध औपचारिक है।[2]

----

1. (क) रजस्तमशून्यद्रव्यवृत्तिसत्वं शुद्धसत्वम्। तन्नित्यविभूतौ। उपचारात्तत्प्रवर्तकेश्वरे च।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 260

(ख) 'सत्वस्य रजस्तमोभ्यामस्पर्शीनाम सामानाधिकरण्य सम्बन्धेन तद्रहितत्वम्। रजस्तमः शून्य द्रव्यवृत्तिसत्वं शुद्धसत्वमित्यर्थः। तच्च नित्य विभूतौ ईश्वरादि देहे च।
-- वेदान्तकारिकावली, पृ0 114

2. (क) 'रजस्तमस्सहवर्तिसत्वं मिश्रसत्वम्। तत्त्रिगुणे तत्सम्बन्धिनि-जीवे चोपचारात्।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 260.

(ख) 'मिश्रसत्वमाह - रजस्तम इति। सामानाधिकरण्य संबन्धेन रजस्तमोविशिष्टं सत्वं मिश्रसत्वमित्यर्थः।'
-- वेदान्तकारिकावली, पृ0 114

गुणत्रय स्वरूप निरूपण

गुणत्रय स्वरूप -- गुण तीन हैं -- सत्व, रज, और तम -- ये उनके नाम हैं, तीनों परस्पर भिन्न हैं। ये तीनों गुण प्रकृति के कार्य हैं एवं समस्त जड़ पदार्थ इन्हीं तीनों का विस्तार है।[1] इनका प्रकृतिवश्य अर्थात् सांसारिक पुरुष से सम्बन्ध बना रहता है तथा ये तीनों अनित्य हैं, किन्तु इनका संतान-धारा के समान सदा प्रवाहित होता रहता है। संतान दो प्रकार से प्रवाहित होता है -- सदृश सन्तान तथा विदृश संतान। सदृश संतान का प्रवाह प्रलय दशा में होता है। विदृश संतान का प्रवाह सृष्टि रचना के समय होता है। इन तीनों - सत्व, रजस् एवं तमस् अद्रव्यों में सृष्टि के समय रजोगुण उपयुक्त होता है, स्थिति काल में सत्वगुण तथा संहार काल में तमो गुण उपयुक्त होता है।[2] ये गुण ईश्वर संकल्प आदि सहकारी कारणों को पाकर परस्पर में एक दूसरे को अभिभूत करने वाले, बढ़ाने वाले तथा उत्पन्न करने वाले बन जाते हैं, क्योंकि विभिन्न अदृष्टों से सम्पन्न, विभिन्न पुरुषों में किसी में किसी एक गुण का आविर्भाव तथा साम्यावस्था में अवस्था नहीं दिखती है।[3] इसी को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हुये महर्षि

----

1. 'सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।
   निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥' -- गीता, 14.5
2. 'त्रीण्यप्येतानि यावत्प्रकृति व्याप्तानि, प्रकृतिवश्य पुरुष सम्बद्धान्यनित्यानि, नित्यसन्तानानि, प्रलयदशायां समानि, सृष्ट्यादौ विषमाणि, सृष्टिस्थिति संहारोपयुक्तानि।'
   -- य० म० दी०, पृ० 260.
3. 'ईश्वरसंकल्पादि सहकारिभेदात्परस्पराभिभवोद्भवकराणीत्येतानि साधारणानि॥'
   -- वही, पृ० 260.

पराशर कहते हैं कि एक ही वस्तु अनेक पुरुषों में, सुख, दुःख एवं ईर्ष्या के उत्पन्न होने का कारण बन जाती है, अत: कैसे कहा जा सकता है कि अमुक वस्तु दुःखात्मक, सुखात्मक अथवा मोहात्मक है ।[1] यह भी देखा जाता है कि एक ही वस्तु किसी समय में सुख देती है और किसी समय में दुःख । उसी से कभी क्रोध होता है तो कभी प्रसन्नता होती है । अतएव कोई भी वस्तु न तो दुःखद है और न तो सुखद ।[2] भगवान् कृष्ण ने गीता के चौदहवें अध्याय में अर्जुन को उद्बोधित करते हुये स्पष्ट रूप से कहा है कि सत्व गुण सम्यक् ज्ञान-रूप सुख का कारण है तथा मोक्ष प्रद है । रजोगुण रागात्मक होता है तथा कर्मों में प्रवृत्त करके स्वाश्रय जीव में दुःखादि को उत्पन्न करता है । तमोगुण अज्ञानरूप आलस्य को उत्पन्न करता है तथा नरक प्रद होता है ।[3]

----

1. 'वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च ।
   कोपाय च यतस्तस्माद् वस्तु वस्त्वात्मकं कुत: ।।
   -- यतीन्द्रमत दीपिका, टीका, पृ० 262.

2. 'तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते ।
   तदेव कोपाय च यत: प्रसादाय च जायते ।
   तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम् ।।'
   -- वही

3. 'उर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा: ।
   जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसा: ।।'
   -- गीता, 14.18

अत: सत्व गुण में स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को प्राप्त करता है। रजोगुण में स्थित पुरुष मध्य अर्थात् मनुष्य लोक में रहता है। तमोगुण-स्थित पुरुष अधोगति अर्थात् नीच योनियों को तथा नरकों को प्राप्त करता है।

सतोगुण स्वरूप : सत्व गुण का स्वरूप सर्वथा निर्मल है, उसमें किसी भी प्रकार का कोई दोष नहीं है, इसी कारण वह प्रकाशक और अनामय है। उससे अन्त:करण और इन्द्रियों में प्रकाश की वृद्धि होती है, एवं दु:ख निर्दोष दुर्गुण और दुराचारों का नाश होकर शान्ति की प्राप्ति होती है। जब सत्वगुण बढ़ता है तब मनुष्य के मन की चंचलता अपने-आप ही नष्ट हो जाती है, और वह संसार से विरक्त और उपरत होकर सच्चिदानन्द घन परमात्मा के ध्यान में मग्न हो जाता है, साथ ही उसके चित्त और समस्त इन्द्रियों में दु:ख तथा आलस्य का अभाव होकर चेतन शक्ति की वृद्धि हो जाती है। सत्वगुण के द्वारा सुख की प्राप्ति के समय जो 'मैं सुखी हूं' इस प्रकार का अभिमान होकर जीवात्मा का उस सुख के साथ सम्बन्ध हो जाता है, उस समय जीव को साधन के मार्ग में अग्रसर होने से रोक देता है, और जीवन मुक्त अवस्था की प्राप्ति से वंचित रख देता है, अत: यह सत्वगुण के सुख की संगता से जीवात्मा बन्धन को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानबोध शक्ति का नाम है उसके प्रकट होने पर जो उसमें 'मैं ज्ञानी हूं' ऐसा अहंकार हो जाता है, वह उसे गुणातीत अवस्था से वंचित कर देता है, अत: यही सत्वगुण का सुख से जीवात्मा को बांधना है।[1]

----

1. तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुख सङ्गेन बध्नाति ज्ञान सङ्गेन चानघ ।।
श्रीमद्भगवत्गीता, 14.6

रजोगुण स्वरूप : रजोगुण स्वयं ही राग यानी आसक्ति के रूप में प्रकट होता है ।[1] राग रजो गुण का स्थूल स्वरूप है । कामना और आसक्ति से रजोगुण वृद्धि को प्राप्त होता है तथा रजोगुण से कामना एवं आसक्ति बढ़ती है । इनका परस्पर बीज और वृक्ष की भांति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । इनमें रजोगुण बीजस्थानीय और कामना आसक्ति आदि वृक्ष स्थानीय हैं । बीज वृक्ष से ही उत्पन्न होता है तथापि वृक्ष का कारण भी बीज ही है । इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कहीं रजोगुण से कामादि की उत्पत्ति और कहीं कामनादि से रजोगुण की उत्पत्ति बतलायी गयी है ।

तमोगुण स्वरूप : अन्तःकरण और इन्द्रियों में ज्ञान शक्ति का अभाव करके उनमें मोह उत्पन्न कर देना, तथा सभी देहाभिमानियों को मोहित करना ही तमोगुण है ।[2] जिनका अन्तःकरण और इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध है, एवं जिनकी शरीर में अहंता या ममता है - वे सभी प्राणी निद्रादि के समय अन्तःकरण और इन्द्रियों में मोह उत्पन्न होने से अपने को मोहित मानते हैं । तमोगुण से अज्ञान बढ़ता है और अज्ञान से तमोगुण बढ़ता है । इन दोनों में भी बीज और वृक्ष की तरह अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अज्ञान बीज स्थानीय

----

1. रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।
-- गीता, 14.7

2. तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।
-- वही - 14.8

है और तमोगुण वृक्ष स्थानीय है । इसलिए कहीं तमोगुण से अज्ञान की और कहीं अज्ञान से तमोगुण की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है ।

अन्त:करण और इन्द्रियों की व्यर्थ चेष्टा का एवं शास्त्र विहित कर्त्तव्य पालन में अवहेलना का नाम प्रमाद है । कर्त्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति रूप निरुद्यमता का नाम आलस्य है । तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति -- इन सबका नाम निद्रा है -- अर्थात् इन समस्त क्रियाओं - प्रक्रियाओं से जीवात्मा के मुक्ति साधन पथ पर व्यवधान उत्पन्न होता है, जिस कारण जीव जन्म-मृत्यु रूपी संसार में फंसा रहता है । यही उसका प्रमाद, आलस्य, निद्रा, आदि तमो गुण स्वरूप है ।

सत्व, रजस् एवं तमस् :

सत्व गुण के माध्यम से मनुष्य सांसारिक भोगों और चेष्टाओं से तथा प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदि से हटकर आत्मचिन्तन के द्वारा सात्विक सुख की प्राप्ति करता है ।[1] तथा जिस समय रजो गुण और तमोगुण की प्रवृत्ति को रोककर सत्व-गुण अपना कार्य आरम्भ करता है उस समय शरीर, इन्द्रिय और अन्त:करण में प्रकाश, विवेक और वैराग्य आदि के बढ़ जाने से जीव अत्यन्त शान्त एवं सुखमय हो जाते हैं । अत: उस समय रजोगुण के कार्य- लोभ, प्रवृत्ति, योग, वासनादि तथा तमो गुण के कार्य निद्रा, आलस्य, और प्रमाद आदि का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता । इस प्रकार दोनों गुणों को दबाकर जो सत्वगुण का ज्ञान, प्रकाश और सुखादि को उत्पन्न कर देता है, यही सत्व गुण

----

1. सत्वं सुखे संजयति रज: कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तम: प्रमादे संजयत्युत ।।
-- श्रीमद्भगवत्गीता, 14.9

की वृद्धि है । उस समय मनुष्य को सावधान होकर अपना मन भजन, ध्यान में लगाने की चेष्टा करनी चाहिये, तभी सत्व गुण की प्रवृत्ति अधिक समय तक ठहर सकती है । अन्यथा उसकी अवहेलना कर देने से शीघ्र ही तमोगुण या रजोगुण उसे दबाकर अपना कार्य आरम्भ कर सकते हैं । शरीर में चेतनता, हलकापन तथा इन्द्रिय और अन्त:करण में निर्मलता और चेतनता की अधिकता हो जाना ही प्रकाश का उत्पन्न होता है । एवं सत्य असत्य तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय करने वाली विवेक शक्ति जागृत हो जाना ज्ञान का उत्पन्न होना है । जिस समय प्रकाश और ज्ञान - इन दोनों का प्रादुर्भाव होता है, उस समय अपने आप ही संसार में वैराग्य होकर मन में उपरति और सुख-शान्ति की बाढ़ सी आ जाती है, तथा राग-द्वेष, दु:ख-शोक, चिन्ता, भय, चंचलता, निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदि का अभाव सा हो जाता है । अर्थात् जिस समय इस देह में तथा अन्त:करण व इन्द्रियों में चेतनता और विवेक शक्ति उत्पन्न होती है, उस समय जीव की प्रवृत्ति सतोगुणी प्रादुर्भूत होती है ।[1]

नाना प्रकार के भोगों की इच्छा उत्पन्न करके उनकी प्राप्ति के लिए उन कर्मों में मनुष्य को प्रवृत्त कर देना ही `रजोगुण` का कार्य है । जिस समय सत्वगुण और तमोगुण की प्रवृत्ति को रोककर रजोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर, इसन्द्रय और अन्त:करण में चंचलता, अशान्ति, लोभ, भोग-वासना और नाना प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है । इस कारण उस समय सत्वगुण के कार्य-प्रकाश, विवेक शक्ति, शान्ति आदि का भी अभाव सा हो जाता है, तथा तमोगुण के कार्य --

----

1. सर्वद्वारेषु देहे ऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ।।
-- गीता, 14.11

निद्रा, प्रमाद और आलस्य आदि भी दब जाते हैं। अत: जीव की तात्कालिक स्थिति मनस: रजोगुणी हो जाती है। तब उसके अन्त:करण में लोभ बढ़ जाता है, धन संग्रह की विशेष इच्छा उत्पन्न हो जाती है, नाना भांति कर्म करनें के लिए मन में नये नये भाव उठने लगते हैं, मन चंचल हो जाता है, फिर उन भावों के अनुसार क्रिया का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार लोभ आदि भावों का प्रादुर्भाव होना ही रजोगुण का प्रभाव है।[1] अत: लोभ प्रवृत्ति स्वार्थ बुद्धि से समस्त कार्यों का सकाम भाव से प्रारम्भ होना, अशान्ति और विषय भोगों की लालसा ये सभी रजोगुण के कारण उत्पन्न होते हैं।

जब 'तमोगुण' बढ़ता है, तब वह कभी तो मनुष्य की कर्तव्य-अकर्तव्य निर्णय करने वाली विवेक शक्ति को नष्ट कर देता है, और कभी अन्त:करण और इन्द्रियों की चेतना को नष्ट करके निद्रा की वृत्ति उत्पन्न करता है। अर्थात् जिस समय सत्वगुण और रजोगुण की प्रवृत्ति को रोक कर तमोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर इन्द्रियां और अन्त:करण में मोह आदि बढ़ जाते हैं, और प्रमाद में प्रवृत्ति हो जाती है। अत: सत्वगुण के कार्य - प्रकाश और ज्ञान एवं रजोगुण के कार्य-कार्यों की प्रवृत्ति तथा भोग भोगने की इच्छा आदि का अभाव - सा हो जाता है। ये सब प्रकट नहीं हो पाते, यही तमोगुण के वृद्धि का रहस्य है।[2] अतएव जिस समय तमोगुण बढ़ता है, उस

----

1. लोभ: प्रवृत्तिरारम्भ: कर्मणामशम: स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।
-- गीता, 14.12

2. रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रज: सत्वं तमश्चैव तम: सत्वं रजस्तथा ।।
-- श्रीमद्गीता, 14.10.

समय मनुष्य के इन्द्रिय और अन्त:करण में दीप्ति का अभाव हो जाता है, यही अप्रकाश का उत्पन्न होना है, कोई भी कर्म अच्छा नहीं लगता केवल पड़े रहकर ही समय बिताने की इच्छा होती है, यह अप्रवृत्ति का उत्पन्न होना है। शरीर और इन्द्रियों द्वारा व्यर्थ चेष्टा करते रहना तथा कर्तव्य कर्म में अवहेलना करना यह प्रमाद का उत्पन्न होना है। मन का मोहित हो जाना किसी बात की स्मृति न रहना, तन्द्रा, स्वप्न, या सुषुप्ति - अवस्था का प्राप्त हो जाना, विवेकशक्ति का अभाव हो जाना, किसी विषय को समझने की शक्ति का न रहना -- यही सब मोह का उत्पन्न होना है। ये समस्त लक्षण तमोगुणी प्रवृत्ति उत्पन्न होने से अन्त:करण, इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति प्रमाद-अर्थात् व्यर्थ चेष्टा निद्रादि अन्त:करण की मोहिनी वृत्तियों की बाढ़ सी आ जाती है।[1] अत: यही 'तमोगुण' का स्वाभाविक लक्षण है।

सांख्य ने इन तीन गुणों को प्रकृति के द्रव्यत्व के रूप में स्वीकार किया है।[2] विशिष्टाद्वैत ने शास्त्र के प्रमाण के आधार पर सत्व, रजस्, तम को प्रकृति के गुण माना है।[3] यदि इन तीन गुणों को गुण न मानकर

----

1. अप्रकाशो प्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।
-- श्रीमद्भगवत्गीता - 14.13

2. सांख्या: पुनरेषां द्रव्याभेदेन द्रव्यत्व माहु:।
-- सर्वार्थसिद्धि , 5.16.

3. (क) सत्वं रजस्तम इति गुणा: प्रकृति सम्भवा:।
-- भगवद्गीता, 14.5.

(ख) प्रकृते: स्वरूपानुबन्धिन: स्वभाव विशेष:।
-- गीता भाष्य, 14.5

द्रव्य माना जाय तो प्रकृति एक न होकर तीन होगी और तत्वों की संख्या भी चौबीस से अधिक हो जायेगी । ये गुण प्रलय काल में अत्यन्त साम्यावस्था में पहुंच जाते हैं, सृष्टि और स्थिति काल में वैषम्यावस्था में आ जाते हैं ।[1] वस्तुत: प्रलय गुणों की शान्तावस्था है और सृष्टि क्षोभावस्था ।[2]

ये गुण ईश्वर के अधिष्ठान एवं संकल्प के अनुसार परस्पर में एक दूसरे को दबाने वाले, वर्धक एवं सहायक होते हैं ।[3] प्रकृति ईश्वर से अधिष्ठित होकर गुणों की सहायता से संसार की रचना करती है । इस विषय में शास्त्र प्रमाण हैं ।[4]

----

1. 'प्रधाने बुद्धित्वादयोधर्मा: सृष्ट्यवस्थायां विषम रूपा, प्रलया वस्थायां सम परिणतय: ।'

-- सर्वार्थसिद्धि, 5.17.

2. तेषां च साम्ये प्रलयावस्थायां सदृश परिणति, वैषम्ये सृष्ट्यवस्थायां विसदृश परिणतिश्च ।

-- वही, 5.16.

3. (क) ईश्वर संकल्पादिसहकारि भेदात् परस्पराभिभवोद्भव सहकारित्वादि मन्त्येतानि ।

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 560

(ख) स्थित्युत्पत्यन्तलीलाविधि भगवता धिष्ठता: शास्त्रवेद्या: ।'

-- तत्वमुक्ताकलाप, 5.16

4. चिद्रूपं आत्म तत्वं यद् अभिन्नं ब्रह्मणि स्थितम् ।
तेनैं तच्छुरितं भाति अचित् चिन्मय वद्द्विज ।

-- जयाख्य संहिता, 3.14.

शव्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध सामान्य परिचय

भारतीय दर्शन में पंचमहाभूतों की सत्ता स्वीकार की गई है, इनमें आकाश - शव्द गुणक, वायु - स्पर्शयुक्त, अग्नि - रूपगुणक, जल - स्पर्श युक्त, पृथ्वी गन्धवती मानी जाती है । यद्यपि आकाश शव्द गुणक के रूप में प्रख्यात है फिर भी शास्त्र और प्रत्यक्ष अनुभव दोनों से यह सिद्ध है कि उत्तरोत्तर महाभूत में अपने गुण के अतिरिक्त पूर्वोत्तर महाभूतों के गुण भी विद्यमान हैं। जैसे वायु में स्पर्श के अतिरिक्त शव्द है, अग्नि में रूप के अतिरिक्त शव्द एवं स्पर्श है, जल में रस के अतिरिक्त शव्द स्पर्श एवं रूप है, तथा पृथिवी में गन्ध के अतिरिक्त शव्द स्पर्श, रूप एवं रस हैं ।[1] यह सिद्धान्त पञ्चीकरण प्रक्रिया से भी अनुमोदित है, क्योंकि पञ्चीकरण के अनुसार प्रत्येक महाभूत में स्वयं का आधा भाग तथा अन्य चार महाभूतों का आठवां भाग विद्यमान रहता है । यही कारण है कि आकाश में जो नीला रंग दिखाई देता है, वह आकाश में पृथिवी के अंश का अवबोधक है । वायु में गन्ध भी पृथिवी के अंश का ही द्योतक है ।[2]

नित्यविभूति में शव्दादि गुण

ईश्वर की दो विभूतियां हैं -- लीला विभूति और नित्य विभूति । लीला विभूति यह समस्त जड़ चेतनात्मक संसार है, और नित्य विभूति भगवान् का निज धाम है ।[3] लीला विभूति में त्रिगुणात्मक प्रकृति व्याप्त है परन्तु

----

1. 'शव्दादीनामाकाशादिशु उत्तरोत्तरगुणाधिक्यं शास्त्रप्रसिद्धमुपलम्भ सिद्धं च ।'
-- सर्वार्थसिद्धि, 5.18.

2. गुणविनिमयस्तु पञ्चीकरणादिभिरेवं स्यात् । गगन तले नैल्यादि प्रतिभासः पञ्चीकृतपृथिव्यादिसम्बन्धेनैव स्यात् ।
-- वही

3. 'पादो स्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।'
-- ऋग्वेद, 10.90.3

नित्य विभूति शुद्ध सत्व मय है । जहां तक पंचमहाभूतों के शव्दादि गुणों का प्रश्न है, वेदान्त देशिक के अनुसार नित्य विभूति में शव्दादि गुण हैं तो सही किन्तु ये प्राकृतिक लीला विभूति से अधिक सौम्य एवं उत्कृष्ट हैं ।[1] उदाहरणार्थ कस्तूरी और चमेली दोनों गन्धसाम्य होते हुये भी सौरभ विशिष्ट हैं ।[2] इसी प्रकार नित्यविभूति के शव्दादि भी विशिष्ट एवं अतिशायी हैं ।

क्या शव्द केवल आकाश का गुण है ?

नैयायिकों के अनुसार शव्द केवल आकाश का गुण है ।[3] अपने सिद्धान्त के समर्थन में वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि शव्द अन्य चार महाभूतों का गुण नहीं है, क्योंकि शव्द मात्र कानों द्वारा सुना जाता है । कानों के अन्दर आकाश है, जो शव्द को ग्रहण करता है, यदि शव्द पृथिवी का गुण होता तो वह केवल कानों द्वारा न सुना जाता ।

आचार्य वेदान्तदेशिक को यह सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं है । हम अनुमान द्वारा यह सिद्ध नहीं कर सकते कि शव्द अन्य महाभूतों का गुण नहीं । क्योंकि

----

1. तदशव्दादयोऽपी त्रिगुण तदधिकद्रव्यनिष्ठा गुणाः स्युः ।
-- तत्वमुक्ताकलाप, 5.19.

2. 'यथा कस्तूरीचम्पकप्रभृतिषु गन्ध साम्ये सत्यपि सौरभ विशेषः तत्र तत्रोपलभ्यते, एवं त्रिगुणे शव्दमत्वे च शव्दादि सद्भावेऽप्ति धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धं वैषम्यमनति लंघनीयमेव ।'
-- सर्वार्थ सिद्धि - 5.19

3. 'शव्दगुणकमाकाशम् ।' -- तर्कसंग्रह, न्यायबोधिनी, पृ० 7

यह सिद्धान्त श्रुति विरुद्ध है । श्रुति ने वायु को शब्द कहा है । हम अपने आम अनुभव से भी जल के शब्द, शंख के शब्द को सुनते हैं ।[1] अत: शब्द की अन्य महाभूतों में सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध है । शब्द, गन्धाश्रय द्रव्य और आलोकाश्रय द्रव्यों की भांति अपने आश्रय आकाश के अतिरिक्त अन्य देशों में भी व्याप्त रहता है ।

श्री यामुनाचार्य ने भी शब्द के गन्ध एवं आलोक की भांति आश्रय अनुवर्ती अशेष देश व्याप्तित्व को प्रामाणिक स्वीकार किया है ।[2]

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के आचार्यों ने शब्द को जिसका ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम से ग्रहण होता है, वह शब्द नामक अद्रव्य है । यह शब्द पांच

----

1. (अ) 'पृथिवीजलदावपि शब्दान्वय व्यतिरेकोपलम्भोहि दृश्यते ।'

-- सवार्थसिद्धि, 5.20

(ब) 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं, ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ।'

-- तैत्तरीयोपनिषद्, 1.1.1

(स) 'मेघो गर्जति , शङ्खो नदति, भेरी ध्वनति इत्यादि लोकोपलम्भात् ।'

सवर्थिसिद्धि, 5.20

2. 'गन्धाधाश्रयद्रव्यप्रसरणवत् शब्दाश्रयद्रव्यस्यापि सर्वत:प्रसरणात् । शब्दस्यापि गन्धवदालोकवश्च स्वाश्रयानुवर्तित्वम शेषदेशव्यापित्व च लोक दृष्ट्या श्रीयामुनाचार्यादिभिरुपपादितम् ।'

-- सवर्थिसिद्धि, 5.20.

महाभूतों में पाया जाता है । शब्द भी दो प्रकार का होता है[1] -- वर्णात्मक और अवर्णात्मक या ध्वन्यात्मक ।

वर्णात्मक शब्द वह होता है, जिसमें अ, क, च, ट, त, प, य आदि वर्णों का समुदाय पाया जाये - अर्थात् कुछ वर्णों के समुदाय रूप को शब्द कहते हैं । यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने वर्णों की संख्या पचास ही मानते हैं । यद्यपि वर्णों की संख्या में मतभेद भी है । वर्णात्मक शब्द देवता एवं मनुष्यों आदि के तालु आदि उच्चारण स्थानों से अभिव्यक्त होते हैं ।[2] अवर्णात्मक या ध्वन्यात्मक शब्द भेरी निनाद एवं गंगाप्रवाह आदि से उत्पन्न होते हैं ।

----

1. (क) अस्मादादिश्रोत्रग्राह्यः पञ्चभूतवर्तीशब्दः । स च द्विविधः वर्णात्मकोऽवर्णात्मकश्चेति ।
-- यतीन्द्रमतदीपिका, दशमो वतारः, पृ० 263

(ख) श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दो वर्णावर्णात्मना द्विधा ।
तालुभेर्यादिजत्वेन भूतपञ्चकवर्त्यसौ ।।
-- वेदान्तकारिकावली, का० सं० 5, पृ० 117

(ग) 'शब्दो स्मदादि श्रोत्रग्राह्यः पञ्चभूतवर्ती । स द्विधावर्णात्मकोऽवर्णात्मकश्चेति ।'
-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ० 562

2. (अ) 'अकचटतपयादिपञ्चाशदक्षरात्मको वर्णात्मकः । स देव मनुष्यादि ताल्वादिव्यङ्ग्यः ।'
यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 263

(क्रमशः....).

विचारकों का मन्तव्य है कि वाद्य इत्यादि में विद्यमान शब्द वहां रहते समय, वहां पहुंची हुई श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत होते हैं ।पंचमहाभूतों में विद्यमान होने पर भी शब्द श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है । दूरस्थ शब्द के ग्रहण में श्रोत्रेन्द्रिय का उस शब्द के सन्निकट में पहुंचना कारण है । इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द का ग्रहण विशिष्टाद्वैतवादियों को अभिप्रेत है । तथा अवर्णात्मक शब्द वह है, जिसमें अ क च ट त प य आदि सभी प्रकार के अभावों का समूह विद्यमान हो, क्योंकि अवर्णात्मक शब्द में इन प्रकारों में कोई भी प्रकार नहीं रहता है वह अवर्णात्मक शब्द, वाद्य, मेघ, वायु और अवयवों के विभाग से अभिव्यक्त होता है ।[1]

(ब) 'मानुषताल्वादिस्थानजन्योवर्णात्मकः । तत्र वर्णात्मकोऽकारादिक्षकारान्त एक पञ्चाशत्प्रकारः । मातृका पाठे लल - योरभेदात् क्वचित्पञ्चाशत्प्रकार तया व्यपदेशः ।'

-- वे0 का0, टीका, पृ0 117

(स) 'अकचटतपयादिप्रकाराभाव समुदायशून्यो वर्णात्मकः । स एव देव मनुष्यादिताल्वादिव्यङ्ग्यः ।'

-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 562

1. (क) 'भेर्यादिजन्यो वर्णात्मकः । एवम्भूतशब्दः श्रोत्रेन्द्रियेणगृह्यते ।

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 263

(ख) भेरीमृदङ्गादिजन्यो ध्वन्यात्मकः । भेर्यां शब्दः गङ्गाप्रवाहे शब्द इत्यादिप्रतीतेः ।

वेदान्तकारिकावली, पृ0 117

(ग) 'अ क च ट त प यादि समस्त प्रकाराभावसमुदायरूपोऽवर्णात्मकः । स च वादित्र वारिधर मारुत विभागादिव्यङ्ग्यः ।'

-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 563

शव्द के अद्रव्यत्व का प्रतिपादन

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में शव्द को ताल्वादिव्यंग्य तथा अद्रव्य मानते हैं। परन्तु पूर्व पक्ष इसका विरोध करते हुये प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करते हुये कहते हैं कि वेद के प्रारम्भ में जो प्रणव-रूप स्वर कहा गया है, जो प्रणव वेदान्तों में भी प्रतिष्ठित है, वह वेद कारण प्रणव अपनी प्रकृति अकार में लीन हो जाता है। अर्थात् उस प्रणव की प्रकृति भूत अकार का वाच्य जो अर्थ है, वही महेश्वर है।[1] इस श्रुति से स्पष्ट है कि एक वर्ण दूसरे वर्ण का उपादान कारण होता है। शव्द को यदि अद्रव्य माना जाय तो फिर वह उपादान कारण नहीं बन सकता। या यदि श्रुति का तात्पर्य यह माना जाय कि एक वर्ण दूसरे वर्ण का निमित्त कारण होता है, उपादान कारण नहीं तो फिर श्रुति के उपादान का वाचक प्रकृति शव्द तथा लय के प्रतिपादक लीन शव्द में अस्वारस्य होगा, क्योंकि निमित्त कारण को न तो प्रकृति कहा जा सकता है और न तो कार्य का निमित्त कारण में लय ही संभव है। वेदार्थ-संग्रह में श्री भाष्यकार भी कहते हैं कि सम्पूर्ण वेद का उपादान कारण प्रणव है। प्रणव का उपादान कारण अकार है। प्रणव का विकार वेद अपनी प्रकृति अर्थात् उपादान कारण अकार में लीन हो जाता है। प्रणव के प्रकृतिभूत उस अकार का जो वाच्य अर्थ है, वह महेश्वर है। अर्थात् सम्पूर्ण वाचक शव्दों के समूह का कारण बनने वाले अकार का वाच्य अर्थ वही नारायण है। यह नारायण ही महेश्वर है।[2] इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि शव्द को

----

1. यद्वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।
   तस्य प्रकृति लीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥
   -- न्याय सिद्धाञ्जन, टीका, पृ० 570.

2. 'सर्वस्य वेद जातस्य प्रकृतिः प्रणवः। प्रणवस्य च प्रकृतिरकारः ।

(क्रमशः...)

अद्रव्य तथा व्यङ्ग्य मानना ठीक नहीं है ।

इसका समाधान करते हुये सिद्धान्त पक्ष विशिष्टाद्वैत का कहना है कि एक अद्रव्य तथा आगन्तुक धर्म है । वह काल विशेष में उत्पन्न होने वाला धर्म है । आगन्तुक होने के कारण शब्द को परिणाम कहा गया है । आगन्तुक परिणामत्व को दृष्टिपथ में रखकर शब्द परिणाम कहा जा सकता है । परिणाम कहने मात्र से शब्द का द्रव्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है ।

पराशर भट्ट ने वाक्य निरूपण प्रसंग में शब्द को आकाश का गुण कहा है ।[1] अर्थात् आकाश का गुण जो शब्द है, उसके स्वरूप एवं स्थिति को प्रवृत्त कराने वाले भगवान् ने शब्द-प्रवाह के विषय में यही संकल्प किया है कि प्रत्यक्ष से अबाधित अर्थों के प्रतिपादन शब्दों का सामर्थ्य स्वाभाविक है । इस भगवत् संकल्प के अनुसार शब्द स्वभावत: सामर्थ्य से युक्त रहते हैं ।

श्रुति में वेद शब्द से वेदाभिमानी देवता को ईश्वर का शरीर कहा गया

प्रणव विकारो वेद: स्वप्रकृति भूते प्रणवे लीन: । प्रणवो प्यकार विकार: स्वप्रकृतावकारेलीन: । तस्य प्रणवप्रकृतिभूताकारस्य य: परोवाच्य:, स एव महेश्वर इति । सर्ववाचक जात प्रकृतिभूताकार-वाच्य: सर्ववाच्य जातक प्रकृतिभूतोनारायणो य: स महेश्वर इत्यर्थ: ।'

-- वेदार्थ संग्रह, न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 571

1. 'भट्टपराशर पादैर्वाक्यनिरूपणे शब्दस्य गगन गुणत्वमेवाभिहितम् - गगनगुणशब्दादिस्वरूपस्थिती: प्रवर्तयता भगवतैव योग्यार्थैदमर्थेन वाक्य प्रवाहस्य पूर्वमेवोपात्तत्वात्' इति ।'

-- न्या0 सि0, पृ0 582.

है और देवता द्रव्य ही है ।[1] श्रुति में अकार को प्रणव का उपादान कारण बतलाने का अभिप्राय यह है कि अकाराभिमानी देवता प्रणव का उपादान कारण है ।[2] इस प्रकार शब्द को अद्रव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।

स्पर्श : इस अद्रव्य का लक्षण करते हुये कहा गया है कि त्वक् इन्द्रियों से ग्राह्य होने वाले जो पदार्थ उन सबसे विसजातीय जितने पदार्थ हैं, उन सबसे भिन्न जो अद्रव्य है स्पर्श अद्रव्य है ।[3] वह स्पर्श तीन प्रकार का है --[4] 1. शीत-स्पर्श, 2. उष्ण स्पर्श, 3. समशीतोष्ण स्पर्श । स्पर्श वायु का गुण है जो त्वगिन्द्रिय द्वारा अनुभव किया जाता है । यह अन्य तीन तत्वों जैसे - अग्नि, जल एवं पृथिवी में भी विद्यमान है । वैशेषिक दर्शन ने वायु एवं पृथिवी के लिए `अनुष्ण` नामक एक गुण की कल्पना की है । इसी गुण के द्वारा पृथिवी एवं वायु का स्पर्श किया जा सकता है । `अनुष्ठा` शीतलता एवं उष्णता का अभाव नहीं अपितु गुण विशेष है, यदि यह गुण न होता तो शीतलता एवं उष्णता के अभाव से युक्त आकाश का भी

----

1. `तस्य प्रकृति लीनस्य य: पर: स महेश्वर: ।`
-- न्यायसिद्धाञ्जन, टीका, पृ0 570.

2. (अ) `अस्मदादि स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य विजातीयव्यावृत्तो द्रव्यं स्पर्श: ।`
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 267.

(ब) `अस्मदीयस्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्यविजातीय व्यावृत्तादव्यं स्पर्श: ।`
-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 586.

3. (क) `स त्रिविध: - शीतोष्णानुभयात्मक भेदात् ।`
-- वही

(ख) `स च त्रिविध: - शीतोष्णानुभयात्मक भेदात् ।`
-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 267.

स्पर्श किया जा सकता है । आचार्य वेदान्त देशिक ने 'अनुष्ण ' नामक किसी गुण को स्वीकार नहीं किया क्योंकि शीतलता जल का गुण है और उष्णता अग्नि का । पृथिवी एवं वायु की शीतलता उनमें जल तत्व की विद्यमानता की परिचायक है, और उष्णता अग्नि तत्व की ।[1]

स्पर्श तीन प्रकार के होते हैं -- जल में शीत-स्पर्श रहता है । तेज में उष्ण स्पर्श रहता है, तथा पृथिवी और वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है । जल का सम्बन्ध होने पर पृथिवी तथा वायु में शीत स्पर्श प्रतीत होता है । वस्तुत: वह शीत-स्पर्श जल का होता है, वायु अथवा पृथिवी का नहीं । इसी प्रकार तेज का सम्बन्ध होनेपर पृथिवी, जल एवं वायु उष्ण प्रतीत होते हैं । इस प्रकार जल और वायु में उष्णता का अनुभव होते समय वायु के स्वाभाविक अनुष्णाशीत स्पर्श एवं जल के स्वाभाविक शीत स्पर्श का जो अनुभव नहीं होता, उसका कारण जल और वायु में तेज का अनुप्रवेश ही है । सिद्धान्त में यह भी माना गया है कि वायु तथा पृथिवी न उष्ण है न शीत, अपितु ये दोनों भूत अनुष्णाशीत हैं ।[2] अर्थात् समशीतोष्ण स्पर्श है ।

----

1. 'यथोपलम्भमनुष्ण शीत स्पर्शोपृथिवी वायु । तत्र तोयादियोगात् शीत्वादिप्रतीति: शीतस्थलं शीतो वायु रित्यादि: ।'

-- सर्वार्थसिद्धि, 5.27.

2. (क) 'अप्सु शीत:, तेजस्युष्ण:, क्षितिपवनयोरनुष्णाशीत: । यथा शीतं न कदाचिदप्युष्णम् । वायुवौष्ण्यं तु तत्स्थाग्ने:, न तु तत्वाकारात् ।'

-- न्यायसिद्धाञ्जन, पृ0 586-587.

(क्रमश:...)

रूप : हमारे द्वारा चक्षुरिन्द्रियमात्र से जिन पदार्थों का ग्रहण होता है, उन पदार्थों से जो भिन्न पदार्थ होते हैं, उनसे भिन्न बना हुआ जो अद्रव्य वह रूप अद्रव्य कहलाता है[1]। यह रूप अद्रव्य चार प्रकार का है - श्वेत, रक्त, कृष्ण और पीत। इन चारों रूपों के भी कई-कई अवान्तर भेद होते हैं। कुछ लोग रूप अद्रव्य के तीन ही प्रकार स्वीकार करते हैं - श्वेत, रक्त, और कृष्ण[2]। पीत भी रक्त का ही अवान्तर भेद है। श्रुतियां इन तीन रूपों का ही वर्णन करती हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में पृथिवी, जल एवं तेज इन तीनों भूतों का ही तीन रूप वर्णित है। किन्तु आचार्य श्रीनिवास ने यतीन्द्रमतदीपिका में चार रूपों को ही व्यक्त किया है।

(ख) 'अप्सुशीतस्पर्शः। तेजस्युष्णस्पर्शः। क्षितिपवनयोरनुष्णाशीतस्पर्शः।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 267.

(ग) स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्यादिचतुष्टये।
शीतोष्णादिप्रभेदस्तु शास्त्रान्तर निरूपितः ।।

-- वेदान्तकारिकावली, 10.6 कारिका

1. (क) 'अस्मादादिचक्षुरिन्द्रियैक ग्राह्य विजातीय व्यावृत्तमद्रव्यं रूपम्।
तच्चतुर्धा सितरक्तपीतकृष्णभेदात्।

--यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 268.

(ख) चक्षुरिन्द्रियनिर्ग्राह्यं रूपमेतच्चतुर्विधम्।
श्वेतरक्ते पीतकृष्णे इति - ।।

-- वेदान्तकारिकावली, 10.7

(ग) अस्मदादिचक्षुरिन्द्रियैकग्राह्यविजातीयव्यावृत्तमद्रव्यं रूपम्।
तच्च सितरक्तकृष्णपीतभेदम्।

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ० 592

2. (क) 'पीतरूपमपि रक्तावान्तरभेदं केचिदिच्छन्ति, रोहितशुक्लकृष्णानामेव तेजोऽबन्नेषु श्रवणात्।' -- वही, पृ० 592.

(क्रमशः...)

विशिष्टाद्वैत के अनुसार 'रूप' अग्नि, जल एवं पृथिवी का गुण है, परन्तु आकाश एवं वायु में इसका अभाव है । यहां पूर्व पक्ष की ओर से शंका की गई है कि 'मंत्रशास्त्र' में पृथिवी को पीत वर्ण, जल को श्वेत वर्ण, अग्नि को रक्तवर्ण, वायु को धूम्रवर्ण, एवं आकाश को नील वर्ण कहा गया है ।[1] अत: प्रत्येक महाभूत वर्ण विशेष युक्त हैं । परन्तु आचार्य वेदान्तदेशिक का मत है कि उपासना की सुविधा के लिए मंत्रशास्त्र में वर्णों एवं रंगों की चर्चा की गयी है ।[2] शास्त्रों ने आकाश एवं वायु को वर्ण रहित स्वीकार किया है । श्रुति में पृथिवी को 'कृष्णावर्णा' माना है । जल एवं अग्नि पृथिवी के संयोग से विभिन्न वर्णों को प्राप्त करते हैं । पृथिवी के संयोग से जल कलुष हो जाता है परन्तु अग्नि के संयोग से वर्ण रहित रहता है । जल अरूप है, क्योंकि अग्नि पृथिवी के रूप को परिवर्तित कर सकती है परन्तु जल के वर्ण को नहीं ।[3] श्वेत रूपों के दूसरे प्रकार से भी दो भेद होते हैं -- भास्वर तथा अभास्वर ।

(ब) एवं च रूपं पृथिव्यादित्रिकवृत्तीत्युक्तंभवति ।

-- वे० का०, पृ० 118

1. पीताभू: श्वेतमम्भो, हुतवहपवनौ रक्त धूम्रौ, तथा द्यौ: नीलेति-क्वापिशिष्टं तदिह न नियतां वर्णमतां ब्रवीति ।'

-- तत्वमुक्ताकलाप, 5.29

2. 'ध्यानार्थं मन्त्रवर्णेष्विव कथितमिदं, व्योमवातौ ह्यरूपौ ।'

-- वही, 5.29.

3. 'यत् कृष्णं तत् अन्नस्य । अम्भसि पुन: पाके सत्यपि गुणविपरिणतिर्न काप्युपलभ्यत इति युक्तमरूप्यमेव तत्राभिधातुमिति ।'

-- सर्वार्थसिद्धि, 5.30

भास्वर रूप चमकदार होता है, तेज में विद्यमान रूप भी भास्वर होता है। तेज में रक्त भास्वर रूप होता है। अभास्वर रूप चमकदार नहीं होता, जल में अभास्वर शुक्ल रहता है तथा पृथिवी में अनेक प्रकार के अभास्वर रूप होते हैं। यद्यपि जल में अभास्वर शुक्ल रहता है तथा पृथिवी और जल में रहने वाला तेज भी अभास्वर होता है।[1] पृथिवी के संसर्ग के ही कारण यमुना का जल नीला प्रतीत होता है।

रस : एक मात्र जिह्वा से अर्थात् रसनेन्द्रिय से गृहीत होने वाले जितने पदार्थ हैं, उनसे विसजातीय जो पदार्थ, उनसे जो भिन्न द्रव्य हैं, वे रस हैं। वह रस छः प्रकार का होता है -- (1) मधुर (2) अम्ल (3) लवण (4) तिक्त (5) उष्ण (6) कषाय।[2]

----

1. (क) भास्वराभास्वरत्वाभ्यां भास्वरं तेजसि स्थितम्।
पृथिवीजलयोश्चैतदभास्वरमुदाहृतम्॥
-- वेदान्तकारिकावली, 10.8, का0 सं0

(ख) 'प्रकारान्तरेण रूपं द्विधा-भास्वरमभास्वरं चेति। तेजोगतंभास्वरम्, क्षितिसलिलगतमभास्वरम्। तेजसिरूपं रक्तमास्वरम्, सलिले तु शुक्लमभास्वरम्, पृथिव्यां बहुविधमभास्वरम्। अत्रापि संसर्गादि-नियत भासादि।' -- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 593

2. (क) 'अस्मदादि जिह्वैकग्राह्य विसजातीयेतरो रसः। स षोढा-मधुराम्ललवणतिक्तोष्ठा कषायभेदात्।'
--न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 594.

(ख) रसनेन्द्रियनिर्ग्राह्यो रसः षोढा स कीर्तितः॥
-- वेदान्तकारिकावली, पृ0 118

मधुर रस के अवान्तर भेदों में ईख, दूध, और गुड़ के रस सम्मिलित हैं। आम, इमली, तथा आम्लक आदि का रस अम्ल रस का अवान्तर भेद है। लवण रस में सैन्धव - लवण, समुद्र जल के विकार आदि रस अवान्तर भेद हैं। किंपाक अर्थात् विष वृक्ष और निम्ब आदि का रस तिक्त रस का अवान्तर भेद है। कषाय रस के अवान्तर भेदों में हरीतिकी, विभीतक और आम के अंकुर आदि के रस परिगणित किये गये हैं। शुण्ठी, मरीचि तथा सर्षप के जो रस हैं वह उष्ण रस के अवान्तर भेद हैं[1]।

गन्ध :

जिन पदार्थों का ग्रहण घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य जो गन्ध है उससे विजातीय जितने पदार्थ हैं, एवं उनसे जो भिन्न वस्तु है वह गन्ध है यही गन्ध अद्रव्य का लक्षण है।

वह गन्ध भी दो प्रकार का होता है -- (1) सुरभि गन्ध (2) असुरभि गन्ध।[2]

----

1. (अ) 'मधुराम्ललवणातिक्तरूक्षकषाय भेदात्।'

-- वेदान्त कारिकावली, पृ0 118

(ब) 'तत्रेक्षुक्षीरगुडादिरसामधुरभेदाः। चूतचिञ्चामलकादिरसा अम्लभेदाः। सैन्धवलवणाब्विकारादि रसा लवण भेदाः। किम्पाकनिम्बादिरसास्तिक्तभेदाः। शुण्ठीमरीचि सर्षपादिरसा उष्णभेदाः। हरीतिकी विभीतकचूताङ्कुरादिरसाः कषाय भेदाः।'

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 595

2. (क) 'घ्राणग्राह्यो गुणोगन्धो द्विधा शास्त्रान्तरेष्विव।'

-- वेदान्तकारिकावली, पृ0 118

`यह सुगन्ध है` इस प्रकार की प्रतीति और व्यवहार का जो विषय बनता है उसे सुगन्ध अर्थात् सुरभि कहते हैं । `यह दुर्गन्ध` है इस प्रकार की प्रतीति तथा व्यवहार का भी जो विषय बनता है उसे दुर्गन्ध या असुरभि कहते हैं ।

गन्ध केवल पृथिवी में रहता है । यह सुगन्धित जल है, यह सुगन्धित वायु है, इस प्रकार वायु, जल आदि के सुगन्धित अथवा दुर्गन्धित होने की जो प्रतीति होती है, उसका कारण है - उन वायुओं अथवा जलों से सुगन्धित अथवा दुर्गन्धित पार्थिव पदार्थ का संसर्ग हो जाता है ।[1]

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में माना जाता है कि -- प चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार सभी भूतों में सभी भूतों के गुण विद्यमान रहते हैं ।[2] अत: कैसे कहा जा सकता है कि गन्ध केवल पृथिवी में ही रहता है ? इस शंका का निवारण करते हुये, यतीन्द्रमतदीपिकाकार आचार्य श्रीनिवास ने कहा है कि यद्यपि प चीकरण प्रक्रिया के अनुसार सभी भूतों में सभी भूत विद्यमान रहते हैं, फिर भी प्रधान रूप से पृथिवी में गन्ध नामक गुण ही विद्यमान रहता है ।

(ख) `अस्मदादिघ्राणग्राह्यविसजातीयेतरो गन्ध:। स च द्विविध: - सुरभिरसुरभिश्चेति ।`

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 595.

1. पृथिव्यामेव गन्ध: स्यात्पृथिवी जलयो रस: ।
पृथिवीजलतेज: सु रूपं स्पर्श: स वायुषु ।।

-- वे0 का0, 10.10 का0सं0

2. शब्दपञ्चसु भूतेषु प्राधान्ये नैव मुच्यते ।
पञ्चीकरणरीत्या तु सर्वे सर्वत्र संगता: ।

-- वेदान्तकारिकावली, 10.11

अत: इस कथन से पञ्चीकरण प्रक्रिया का कोई भी विरोध नहीं होता ।[1] वस्तुत: रस जल का गुण है और गन्ध पृथिवी का । यद्यपि रस पृथिवी में भी होता है परन्तु प्रधानत: पृथिवी गन्धवती मानी जाती है । रस एवं गन्ध सम्बन्धी सिद्धान्तों में न्याय वैशेषिक एवं विशिष्टाद्वैत में पूर्ण साम्यता है, कहीं पर कोई भी विरोध नहीं है ।

संयोग संज्ञक अद्रव्य निरूपण

संयोग : इस अद्रव्य का लक्षण करते हुये बताया गया है कि जिस अद्रव्य के कारण ये दोनों पदार्थ संयुक्त हैं, इस प्रकार की प्रतीति होती है, उस अद्रव्य 'गुण' को संयोग कहते हैं ।

संयोग के दो भेदों का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि यह संयोग दो प्रकार का होता है -- कार्य संयोग, तथा अकार्य संयोग ।[2]

----

1. 'पञ्चीकरणप्रक्रियया सर्वभूतेषु सर्वगुणानां विद्यमानत्वे पिप्राधान्याभिप्रायेणोक्तमिति न विरोध: ।'

-- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ0 272

2. (क) संयुक्त प्रत्यय निमित्तं संयोग: ।

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ0 601.

(ख) संयुक्तप्रत्यये हेतु: संयोग इति कथ्यते ।
कार्याकार्यप्रभेदेन स संयोगो द्विधा मत: ।

-- वेदान्तकारिकावली, 10.12, का0 सं0.

कार्य संयोग : परिमित मूर्त पदार्थों का संयोग कार्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। परिमित मूर्त पदार्थ एवं अपरमित विभु पदार्थों में भी होने वाला संयोग कार्य होता है। यह कार्य रूप संयोग तब होता है, जब कि उन दोनों पदार्थों में क्रिया हो - जैसे दो भेड़ों का संयोग अथवा दो पहलवानों का संयोग किन्तु इन दोनों में क्रिया का होना आवश्यक है। कहीं पर संयुक्त होने वाले पदार्थों में से एक पदार्थ में भी होने वाली क्रिया से संयोग होता है - जैसे बाजपक्षी तथा स्थाणु `ठूंठा पेड़` का संयोग। इस संयोग में केवल बाज़ में क्रिया होती है।[1]

अकार्य-संयोग : उन दो वस्तुओं में होता है, जो निश्चल रहते हुये अन्तराल रहित होते हैं। काल तथा विभु द्रव्य निश्चल हैं। इनमें क्रिया नहीं होती, ये सभी मूर्त द्रव्यों से संयुक्त होकर रहते हैं। दोनों विभु द्रव्यों के बीच में कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है, जो उनसे संयुक्त न हो। अत: वे अन्तराल रहित हैं। अन्तराल वही पदार्थ होता है, जो उनसे असंयुक्त रहता है। दोनों विभु द्रव्यों में क्रिया न होने के कारण उनका संयोग अकार्य है। इस प्रकार यह अकार्य संयोग है।[2]

----

1. (अ) मेष हस्तादि संयोग: कार्यो कार्यो विभोर्विभो: ।
विभुद्वयस्य संयोग: श्रुत्या युक्त्या च मन्यते ।।
-- वे० का०, का० सं० 10.13

(ब) तत्राद्यो: मेषयो: हस्तयोर्वा संयोग: । द्वितीय: स्थाणु-श्येनयो: संयोग इति ज्ञेयम् ।।
-- वे० का०, टीका, पृ० 120.

2. (क) अकार्यसंयोगस्तु विभु द्रव्ययो: । -- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 275

(ख) अकार्यसंयोगमाह - विभोरिति । विभोर्विभोश्च संयोगो कार्य इत्यर्थ: । -- वेदान्त कारिकावली, टीका, पृ० 120.

न्याय दर्शन के अनुसार यह दो पदार्थों में जैसे दो घटों में य घट और भूतल में एक प्रकार का सम्बन्ध है। यह महत्वपूर्ण संबन्ध है, क्योंकि प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से ही सृष्टि का सृजन होता है। ब्रम्हा से लेकर तृण पर्यन्त सभी का सृजन शरीर और आत्मा के संयोग से होता है। बुद्धि एवं बाह्य तत्वों के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। बीज जल और पृथिवी के संयोग से उगता है। अत: संयोग को अद्रव्यों के अन्तर्गत एक मौलिक गुण स्वीकार किया गया है।

वेदान्त देशिक के अनुसार दो विभु पदार्थों में भी निरन्तर संयोग होता है, अर्थात् दो विभु द्रव्य निरन्तर एक साथ रहते हैं। यदि उनमें अन्तराल हो तो वे विभु नहीं हो सकते।[1]

वैशेषिकों के अनुसार संयोग किसी क्रिया द्वारा लाया जाता है क्योंकि विभु द्रव्यों में क्रिया का आभास है।[2] अत: उनमें संयोग सम्बन्ध सम्भव नहीं।

न्यायसिद्धाञ्जनकार के अनुसार यह वैशेषिकों का आक्षेप उचित नहीं, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान के विषय में माना जाता है कि वह नित्य है और वह इन्द्रियों की सहायता के बिना कार्य- करता है। इसी तर्क के आधार पर यह माना जा सकता है कि दो विभु पदार्थ क्रिया के विना नित्य संयुक्त रहते हैं।[3] ईश्वर और काल दो विभु पदार्थों में नित्य संयोग रहता है।

----

1. नैरन्तर्यं विभूनामपि भवति ततोऽन्योन्ययोगोऽपियोग्य: ।

-- तत्वमुक्ताकलाप, 5.54

2. 'अथापि विभूनां परस्पर संयोगो नास्तीति काणादादय: ।'

-- सर्वार्थसिद्धि, 5.54

3. (क) 'तथैव कालादिगत विकार सिद्ध्यर्थमपीश्वर संयोगो वश्याभ्युपेत्य: । अन्यथेश्वर शरीरत्वमपि कालादेर्न स्यादिति ।'

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ० 612

(क्रमश:...)

इस प्रकार ईश्वर की सभी वस्तुओं से संयुक्त होकर रहने की सिद्धि होती है । श्रुति भी कहती है कि भगवान् नारायण संसार की सभी वस्तुओं के बाहर-भीतर व्याप्त होकर रहते हैं ।[1] अतः यह श्रुति भी परमात्मा का सभी वस्तुओं से संयोग बतलाती है ।

शक्ति निरूपण

शक्ति : विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार यह अद्रव्यों में दसवां अद्रव्य है । इस शक्ति नामक अद्रव्य का लक्षण करते हुये कहा गया है कि -- शक्ति वह अद्रव्य विशेष है, जो सभी कारणों के कारणत्व का निर्वाहक होती है । कार्योत्पादन में शक्त होने से पदार्थ कारण बनता है । यह शक्ति तर्क और शास्त्र से सिद्ध होती है । शक्ति की सिद्धि में यह तर्क दिया जाता है कि स्वरूप एवं सहकारी कारणों के रहने पर भी अग्निप्रतिबंधक चन्द्रकान्तमणि के रहने पर जलाने का कार्य नहीं करती है । उसका कारण यह है कि अग्नि के जलाने की शक्ति उस मणि के द्वारा अवरुद्ध हो जाती है और मणि के हटा देने के बाद अग्नि जला देने का कार्य करने लगती है । यह शक्ति अतीन्द्रिय है ।[2] उसका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता,

----

(ख) तस्मात्कालस्येश्वरेण संयोगोऽपि सुसंमतः ।
संयोगाभाव रूपो हि विभागो न गुणान्तरम् ।।
-- वेदान्तकारिकावली, 10.14 का० सं०

1. 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः ।'
-- यतीन्द्रमतदीपिका, टीका, पृ० 277.

2. (क) सर्वकारणानां कारणत्व निर्वाहकः कश्चिद् द्रव्य विशेषः शक्तिः । तर्कागमाभ्यां तत्सिद्धिः । प्रतिबन्धक मणि मन्त्रादि-

(क्रमशः...)

बल्कि अग्नि में जलाने की शक्ति तथा जल में आर्द्र करने की शक्ति का अनुमान किया जा सकता है। श्री भगवान् पराशर ने भी कहा है कि सभी वस्तुओं में रहने वाली शक्तियां, जो अचिन्त्य ज्ञान का विषय बनती हैं, अतएव वे ही उसी ज्ञान से सिद्ध होती हैं।

अतएव परब्रह्म में भी ऐसी स्वाभाविक शक्तियां विद्यमान हैं, जो सृष्टि के अनुकूल हैं। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता प्रमाणसिद्ध है, उसी प्रकार परब्रह्म की शक्तियां भी प्रमाण सिद्ध हैं।[1] पदार्थों में प्रमाण से सिद्ध होने

सन्निधौ स्वरूप सहकारिवैकल्याभावे पि यदुपरोधाद्दहनो न
दहति सा ह्यतीन्द्रिया: शक्ति:।

--यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 277

(ख) सर्वहेतुषु हेतुत्वनिर्वोढ्री शक्तिरिष्यते।
मणिमन्त्रादिकेष्वेषा प्रसिद्धा सात्वतीन्द्रिया ।।

-- वेदान्तकारिकावली, 10.15. का० सं०

(ग) अथ शक्ति: सर्वकारणानां कारणत्व निर्वाहक: कश्चिदद्रव्य-
विशेष: शक्ति: तर्कागमाभ्यां तत्सिद्धे:। प्रतिबन्धकमणिमन्त्रादि
सन्निधौ स्वरूप सहकारि वैकल्याभावेऽपि यदुपुरोधाद् दहनो न
दहति, सा ह्यतीन्द्रिया शक्ति:।

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ० 612-13.

1. उक्तं चैतद्भगवता पराशरेण-
शक्तय: सर्वभावानामचिन्त्यज्ञान गोचरा:।
यतो तो ब्रह्मणस्तातु सर्गाद्याभावशक्तय:।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णाता ।।

-- न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ० 615

वाले स्वभाव किसी प्रकार भी अमान्य नहीं किये जा सकते हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी व्यक्त किया गया है कि सभी पदार्थों में शक्तियां विद्यमान रहती हैं, वे अचिन्त्य तथा अपृथक् सिद्धि हैं। अयस्कान्तमणि की भी शक्ति प्रसिद्ध है कि वह लोहे का आकर्षण करने का कार्य करती है। अत: अयस्कान्त आदि में शक्ति की विशद रूप से प्रतीति होती है। शक्ति छहों द्रव्यों में रहती है। ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है जिसमें शक्ति न हो। विष्णु पुराण में भी बताया गया है कि श्रीभगवान् में जगत् की सृष्टि आदि करने की शक्ति विद्यमान है तथा प्रमाण सिद्ध है। श्रुतियों के माध्यम से भी श्री भगवान में अनेक प्रकार की पराशक्तियां सुनी जाती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी वस्तुओं में शक्ति नामक धर्म रहता है।[1]

वस्तुत: शक्ति कारण तत्व का वह गुण है जिससे वह कार्य उत्पन्न करता है।[2] यह कारण का धर्म विशेष है। परतत्व का विशेष गुण जिससे विश्व की सृष्टि होती है, भी शक्ति कहलाता है। ईश्वरीय शक्ति, ईश्वर का स्वरूप नहीं और न ही यह कल्पित है।[3] यह ईश्वर के स्वरूप से अतिरिक्त है और वास्तविक है।

----

1. (क) 'एवमहिर्बुध्न्यसंहितायामपि --'शक्तय: सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक्स्थिता:।' -- न्या० सि०, पृ० 615.

   (ख) अयस्कान्तादिषु तत्प्रसिद्धि। सा शक्ति: षड्द्रव्यवर्तिनी। भगवन्निष्ठत्वं पुराण रत्नादिषु प्रसिद्धम्। एवं सर्वत्रापि शक्तिनामक धर्म विशेष सिद्धि:।'

   -- यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 277.

2. 'हेतो: कार्योपयुक्तं यदिह भवति तच्छक्तिशब्दाभिलप्यम्।'
   -- तत्वमुक्ताकलाप, 5.98.

3. 'तच्चामुष्य स्वधर्मस्तादितरदपि वा पिंछितत्वां विशेषात्।'
   -- वही, 5.18

नैयायिक शक्ति को पृथक् गुण नहीं मानते, उनके अनुसार यह कार्य उत्पन्न करने में होने वाली बाधा का अभाव है । जैसे अग्नि में जलाने की प्राकृतिक शक्ति है, परन्तु कुछ मन्त्रों एवं एक विशेष प्रकार की मणि इस शक्ति में व्यवधान उत्पन्न करते हैं, इन व्यवधानों का अभाव ही अग्नि की शक्ति है ।[1] क्यों कि इनकी उपस्थिति अग्नि नहीं जलाती और अनुपस्थिति में अग्नि जला डालती है । यदि शक्ति को पृथक् स्वीकार करें तो वह शक्ति जो मणि और मन्त्र से नष्ट हो गई थी, पुन: कैसे उत्पन्न होगी । अत: शक्ति को व्यवधान का अभाव मानना अधिक उपयुक्त है ।

वेदान्त देशिक को यह सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं क्योंकि श्रुति परमेश्वर की विविध शक्ति का वर्णन करती है ।[2] भौतिक तत्वों के सन्दर्भ में हम अपने अनुभव से देखते हैं, कि उनमें एक आन्तरिक शक्ति होती है, उदाहरणार्थ अग्नि की जलाने की शक्ति, चुम्बक की आकर्षक शक्ति । अत: जब कोई वस्तु शास्त्र और अनुभव के द्वारा सिद्ध हो तो उसके निरास के लिए शास्त्र विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करना व्यर्थ है ।

0

----

1. 'तथा मणिमन्त्रादिषु दाहादिप्रतिबन्धजनन साधनभूतो गुण विशेष: शक्तिरित्युच्यते ।'

-- वेदान्त कारिकावली, टीका - पृ0 121

2. 'परास्य शक्तिविविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बलक्रिया च ।'

-- श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.8.

उपसंहार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में विशिष्टाद्वैत के अनुसार प्रमेय तत्व का स्वरूप दिया गया है। प्रमा के विषयों के ज्ञान से निःश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति होती है। विशिष्टाद्वैत दर्शन में प्रमेय को दो भागों में विभक्त किया जाता है -- द्रव्य एवं अद्रव्य। द्रव्य वह है जो दशा या आस्था युक्त हो अर्थात् विकारशील हो। दूसरे शब्दों में उपादान या अवस्था के आश्रय को ही द्रव्य कहते हैं। द्रव्य से व्यतिरिक्त को अद्रव्य कहते हैं। इसकी दो विशेषतायें हैं --
(1) अनुपादानत्व -- किसी अन्य का उपादान या आधार न होना,
(2) द्रव्यनिर्भरत्व -- अनिवार्य रूप से द्रव्य पर आधारित होना।
इन सबका निरूपण विगत अध्यायों में किया गया है।

वेदान्तदेशिक ने द्रव्य को प्रथमतः दो भागों में विभाजित किया है -- 1. जड़ एवं 2. अजड़। प्रकृति और काल जड़ द्रव्य हैं। जीव, ईश्वर, धर्मभूत ज्ञान, और नित्य विभूति अजड़ द्रव्य हैं। अजड़ द्रव्य को पुनः दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है -- प्रत्यक् एवं पराक् भेद से। प्रत्यक् वह है जो अपने लिए प्रकाशित होता है। पराक् वह है जो दूसरे के लिए प्रकाशित होता है। जीव और ईश्वर प्रत्यक् वर्ग के द्रव्य हैं, जबकि धर्मभूत ज्ञान और नित्य विभूति पराक् वर्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं।

अद्रव्य पदार्थ दस प्रकार के हैं -- सत्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति।

द्वितीय अध्याय में जड़ द्रव्य के अन्तर्गत प्रकृति तत्व के स्वरूप एवं भेदों की प्रस्तुति की गयी है । जिसमें सांख्य, वैशेषिक, अद्वैत वेदान्त के पदार्थों को ध्यान में रखते हुये विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को उद्धृत किया गया है ।

सांख्य और विशिष्टाद्वैत की प्रकृति में मुख्य अन्तर यह है कि सांख्य की प्रकृति स्वतन्त्र है । वह पुरुष के बन्ध एवं मोक्ष के लिए क्रियाशील रहती है, परन्तु वह अपने अस्तित्व या संचालन के लिए ईश्वर पर निर्भर नहीं है । इसके विपरीत, विशिष्टाद्वैत की प्रकृति ईश्वर द्वारा संचालित जड़ द्रव्य है । यह अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं करती और न ही अपने संचालन के नियम स्वयं निर्धारित करती है । यह ईश्वर की इच्छानुसार कार्य करती है और ईश्वर द्वारा बनाये गये नियमों का पालन करती है । विशिष्टाद्वैत की प्रकृति एक रंगमंच के समान है, जिसपर ईश्वर द्वारा विश्व की उत्पत्ति रूपी नाटक का निर्माण किया जाता है ।

न्याय वैशेषिक की प्रकृति - अणुओं का संघात मात्र है । अणु अचेतन है । यद्यपि प्रकृति के परमाणुओं में गतिशीलता है परन्तु वे यन्त्र या इंजन के तुल्य हैं, जिन्हें चेतन संचालक की आवश्यकता है । ब्रह्मसूत्रकार बादरायण व्यास और श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य ने परमाणुवाद को मान्यता प्रदान नहीं की क्योंकि यह सिद्धान्त वेद सम्मत नहीं है । वेद में प्रकृति को ——— विश्व का कारण माना गया है न कि परमाणु को । पूज्यपाद शंकराचार्य ने भी परमाणुवाद को शिष्टजन अपरिगृहीत होने के कारण अनादरणीय माना है ।

आचार्य वेदान्तदेशिक ने युक्ति और अनुभव के आधार पर परमाणुवाद का खण्डन किया है।

अद्वैत की प्रकृति अवास्तविक और मिथ्या है क्योंकि उनके यहां केवल ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म के अतिरिक्त प्रकृति आदि सभी तत्व असत्य हैं। परन्तु विशिष्टाद्वैत की प्रकृति एक सत्य तत्व है। इसकी सत्ता वास्तविक है। यह अनादि है, प्रलय में भी इसका नाश नहीं होता। यह मृगमरीचिकावत् अलीक नहीं है। प्रकृति से उत्पन्न जगत् भ्रम नहीं है और न ही स्वप्न है। प्रकृति का विकार मिथ्या या भ्रम की रचना नहीं, अपितु वास्तविक भौतिक तत्व का विकार है, जो सभीपरिवर्तनों में भी स्थिर रहता है। प्रकृति ईश्वर का कार्य और कारण की भांति नित्य एवं अजा है। जब प्रकृति के सत्व, रजस् एवं तमस् नामक तीन गुण विषमावस्था में होते हैं तो उनमें विकार उत्पन्न होता है। इस विकार के परिणामस्वरूप त्रिगुणात्मक महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। त्रिगुणात्मक महत्तत्व से सात्विक, राजस् एवं तामस् तीन प्रकार के अहंकार की उत्पत्ति होती है। सात्विक अहंकार से 5 - ज्ञानेन्द्रियां, 5 कर्मेन्द्रियां एवं 1 मन, समेत ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं और तामसिक अहंकार से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश से स्पर्श तन्मात्रा की, स्पर्श तन्मात्रा से वायु, वायु से रूपतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा से अग्नि, अग्नि से रसतन्मात्रा, रसतन्मात्रा से जल, जल से गन्ध तन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। राजस् - अहंकार सहायक का काम करता है।

प्रकृति का विविध परिणामों द्वारा पंचमहाभूतों में परिवर्तन

`समष्टि सृष्टि` अर्थात् सम्पूर्ण विश्व की रचना के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके उपरान्त विश्व की विविध भौतिक वस्तुओं का सृजन होता है, जिसे व्यष्टि `सृष्टि` कहा जाता है। नामरूपात्मक इस व्यष्टि सृष्टि का सृजन `पञ्चमहाभूतों` के एक निश्चित अनुपात में `मिश्रण` द्वारा होता है। तत्वों के मिश्रण की इस प्रक्रिया को `पञ्चीकरण` कहते हैं। प्रकृति संसार की भौतिक उत्पत्ति का मूलभूत तत्व है। प्रकृति का सिद्धान्त विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त है। प्रकृति अनादि, अनन्त और नित्य है। प्रकृति अजा है, प्रलयकाल में रूपों को निगलती है और सृष्टिकाल में कार्यरूपों को प्रकट करती है। प्रकृति जड़ चेतना शून्य एवं ज्ञान रहित है। विशिष्टाद्वैत में प्रकृति का विस्तृत एवं सर्वाङ्गपूर्ण अनुशीलन किया गया है। प्रकृति और पुरुष दोनों को श्रुति के आधार पर अनादि स्वीकार करते हैं।

तृतीय अध्याय में हमने विशिष्टाद्वैत सम्मत काल स्वरूप विवेचन विशद रूप में प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष यह निकलता है कि विशिष्टाद्वैत ने सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण, इन तीनों गुणों से रहित जड़ द्रव्य विशेष को काल का लक्षण माना है। वह काल नित्य तथा व्यापक द्रव्य है। काल भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान भेद से तीन प्रकार का होता है।

काल को खण्ड काल एवं अखण्डकाल भेद से भी दो रूपों में माना जाता है। काल के ही द्वारा निमेष, काष्ठा, कला, घरी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन एवं वर्ष आदि रूपों में भी जाना जाता है। मनुष्यों का एक माह का पितरों का एक दिन होता है। अमावस्या

के दिन ही पितरों का मध्याह्न होता है। मनुष्यों के एक वर्ष का देवताओं का एक दिन होता है। उत्तरायण ही देवताओं का दिन होता है, दक्षिणायन देवताओं की रात्रि होती है। इस प्रकार देवताओं के प्रमाण से बारह हज़ार वर्षों का एक चतुर्युग होता है। उसमें चार हज़ार वर्षों का सतयुग होता है, इस युग में धर्मपूर्ण रूप से रहता है। तीन हज़ार वर्षों का त्रेतायुग होता है, इस युग में धर्म के तीन पाद होते हैं। दो हज़ार वर्षों का द्वापर युग होता है इस युग में धर्म के दो पाद रहते हैं। एक हज़ार वर्षों का कलियुग होता है, इस युग धर्म एक पाद वाला रहता है। इन युगों की संधियां दो हज़ार वर्षों की होती हैं। इस तरह के एक हज़ार चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है, इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि भी होती है।

अखण्ड काल नित्य है, एवं खण्ड काल अनित्य है। इस प्रकार काल ईश्वर की क्रीड़ा का साधन बनता है। काल लीलाविभूति में स्वतन्त्र रहता है, किन्तु नित्य विभूति में वह श्रीभगवान् की इच्छा के परतन्त्र रहता है।

काल ईश्वर की लीला विभूति का अंग है। ईश्वर अव्यक्त प्रकृति की भांति काल में भी अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है, और भौतिक सृष्टि के उपादान कारण में सहायक का काम करता है। नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत रूप से प्रलय के भेदों का भी निरूपण किया गया है। अन्त में प्रलय के समय में भी काल भगवान् का सहकारी कारण होता है, यह भी प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में नित्यविभूति का वर्णन करते हुये हमने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि विशिष्टाद्वैत में परमात्मा की दो विभूतियों को स्वीकार किया गया है -- श्रीविभूति, नित्यविभूति ।

नित्यविभूति श्री भगवान् के दिव्य वैकुण्ठ धाम को कहते हैं, नित्यविभूति को शुद्धसत्व तथा त्रिपाद्विभूति भी कहा जाता है । स्वयंप्रकाश होते हुये दूसरे के लिए प्रकाशित होना, त्रिगुण द्रव्य से भिन्न होते हुये सत्वगुणवान् होना, तथा सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति जहां हो जाती है अर्थात् उस प्रदेश से विसजातीय जो प्राकृतिक प्रदेश उससे भिन्न होना इन लक्षणों से युक्त को नित्यविभूति कहते हैं । यह नित्य विभूति ऊपर की ओर अनन्त है तथा नीचे की ओर यह सीमित है । यह ज्ञान रहित तथा स्वयंप्रकाश है । आनन्दप्रद होने के कारण इसका एक नाम आनन्द भी है । नित्यविभूति में ईश्वर, नित्यजीव, एवं मुक्त जीवों का निवास है । यह नित्य विभूति परमात्मा के सत्य-संकल्प से तीनों का भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थान होती है । श्रीभगवान् के व्यूह तथा विभव अवतारों का भी वर्णन किया गया है । व्यूह रूप से भगवान् चार शरीरों को धारण करते हैं -- वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध । विभव रूप में भगवान् के दशावतारों की चर्चा की गयी है -- श्रीराम, कृष्ण आदि श्री भगवान् के विभव रूप हैं । भगवान् का पररूप का श्री विग्रह तो दिव्य है ही, श्री भगवान् का जो अर्चावतार रूप है उस रूप में भी श्री भगवान् का दिव्य विग्रह ही रहता है -- इसी प्रकरण में वैकुण्ठधाम का वर्णन किया है ।

पञ्चम अध्याय में विशिष्टाद्वैत के प्रसिद्ध आचार्यों के अनुसार धर्मभूत ज्ञान का प्रमाणसहित व्याख्यान प्रस्तुत किया है। धर्मभूत ज्ञान विशिष्टाद्वैत का एक मौलिक तत्व है, जिससे जीवात्मा की नित्यता एवं अपरिवर्तनशीलता सिद्ध की गयी है। यह आत्मा का गुण है जिसमें जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था एवं मृत्यु के समय विकार उत्पन्न होता है। आत्मा का चैतन्य अंश वृद्धि या क्षय को प्राप्त नहीं होता।

धर्मभूत ज्ञान रूपी बुद्धि ही जीव को सद् असद् का निर्देश देती है और इसी के निर्देशन में वह जीवनयापन करता है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में ज्ञान को धर्मभूत ज्ञान शब्द से अभिहित किया जाता है। क्योंकि आत्मा ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान स्वरूप आत्मा स्वयं ज्ञान का आश्रय है। जो ज्ञान आत्मा का धर्म होता है, उसे 'धर्मभूतज्ञान' कहते हैं। ज्ञान स्वरूप आत्मा ज्ञानाश्रयत्व गोबलिवर्दन्याय से उत्पन्न होता है। इस धर्मभूत ज्ञान को ही बुद्धि संवित् ज्ञान तथा मति आदि शब्दों से जाना जाता है।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ज्ञान के तीन लक्षण करते हुए व्यक्त करते हैं -- प्रथम लक्षण में बताया गया कि जो स्वयंप्रकाश तथा अचेतन होते हुये सविषय हो उसे धर्मभूत ज्ञान कहते हैं। द्वितीय लक्षण में विभु होते हुये प्रभावान् द्रव्य का गुण होना है। तृतीय लक्षण में विषयों के प्रकाशक को ज्ञान कहते हैं।

ज्ञान विषयक अवधारणाओं के विषय में ज्ञान के संकोच और विकास के अभिप्राय को व्यक्त करते हुये बताया गया है कि धर्मभूत ज्ञान

प्रत्येक पुरुष में रहता है तथा प्रत्येक पुरुष का ज्ञान पृथक्-पृथक् होता है। प्रत्येक पुरुष के ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह सभी पदार्थों का ग्रहण करता है। इस प्रकार ज्ञान का स्वभाव होने पर भी ज्ञान संसारावस्था में संकुचित रहता है।

अत: यह ज्ञान का संकोच है। ज्ञान का प्रसरण इन्द्रियों के अधीन होता है। इन्द्रियाधीन प्रसार होने के कारण ही ज्ञान तत्-तत् इन्द्रियों के व्यवस्थित विषयों को अपना विषय बनाता है। प्रसरण उत्पन्न होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है ऐसा माना जाता है। ज्ञान का संकोच ही नाश है उत्पत्ति ही विकास है इस तथ्य को उदाहरणों सहित स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान के संकोच तथा विकास की अवस्थाओं को ही क्रमश: ज्ञान का नाश तथा ज्ञान की उत्पत्ति कहा जाता है। जैसे दृति एवं वहि कुण्डल का उदाहरण देते हुये ज्ञान के संकोच एवं विकास की अभिव्यक्ति की गयी है।

ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व का भी विभिन्न मतावलम्बियों के मत की स्थापना करते हुये उनका अपने सिद्धान्त पक्ष को उपस्थित करके खण्डन किया गया है -- ज्ञान स्वयं प्रकाश है क्योंकि बुद्धि विषय प्रकाशन के समय अपने आश्रय आत्मा के लिए स्वयं प्रकाशित होती है। स्वयं प्रकाशता ज्ञान का स्वरूप है।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने ज्ञान को स्वत: प्रमाण तथा स्वयंप्रकाश माना है। श्रीभाष्य में माना गया है कि चेतन, अचेतन सभी पदार्थ ज्ञान से ही प्रकाशित होते हैं। वेदान्त देशिक ने भी बुद्धि को प्रकाशानुमेय

न मानकर स्वयं प्रकाश सिद्ध किया है । विशिष्टाद्वैत के ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त की मुख्य विशेषता यह है कि ज्ञान जीवात्मा का स्वरूप एवं गुण दोनों है ।

नैयायिक, वैशेषिक तथा भाट्ट मीमांसक आदि ज्ञान को पर प्रकाश मानते हैं । मानस प्रत्यक्ष का उदाहरण देते हुये सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । परन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में मानस प्रत्यक्ष का खण्डन करते हुये आचार्य श्री पाराशर भट्ट कहते हैं कि ज्ञान स्वयं ही अपने को प्रकाशित कर सकता है, मानस प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं है ।

प्रपत्ति रहस्य के चिन्तन को स्पष्ट करते हुये यह प्रयास किया गया है कि ज्ञान के ही प्रकार विशेषों में भक्ति एवं प्रपत्ति की गणना की गयी है । महनीय विषयिणी प्रीति को ही भक्ति कहते हैं । भगवान् को ही एक मात्र शरण रूप से स्वीकार करके उनकी शरणागति में चले जाना ही प्रपत्ति कहलाती है । शरणागति, मानस जीवन के परम पुरुषार्थ, मोक्ष प्राप्ति का अत्यन्त सरल एवं सर्वजन सुलभ साधन है ।

<u>षष्ठ अध्याय में</u> ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व के प्रमाण निरूपण के अनन्तर अजड़ के अन्तर्गत जीव का विचार करते हुये जिन तथ्यों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है उनसे प्राप्त निष्कर्षों को इस तरह अभिव्यक्त किया जा सकता है कि --

दार्शनिक दृष्टि से 'जीव' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व है । भारतीय दर्शन के आस्तिक एवं नास्तिक सभी सम्प्रदायों ने किसी न

किसी रूप में `आत्मा` के अस्तित्व को स्वीकार किया है ।

विशिष्टाद्वैत ने जीव को दो प्रकार के लक्षणों से लक्षित किया है -- सामान्य लक्षण, विशेष लक्षण । सामान्य लक्षणों में प्रत्यकत्व, चेतनत्व, आत्मत्व एवं कर्तृत्व हैं । विशेष लक्षणों में आधेयत्व विधेयत्व एवं शेषत्व का निरूपण है । आत्म विषयक विभिन्न मतवाद परीक्षण का भी निरूपण किया गया है जिसमें `देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मन-आत्मवाद, प्राण-आत्मवाद, ज्ञानात्मवाद की स्थापना एवं सिद्धान्त पक्ष का समर्थन किया गया है । जीवात्म विषयक विभिन्न अवधारणायें विशिष्टाद्वैत के आलोक में - जीवात्म स्वयं प्रकाशत्व है -- आत्मा स्वयं प्रकाशवान् है, क्योंकि उसे प्रकाशित होने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं, आत्मा नित्य है, अत: वह प्रत्येक अवस्था में प्रकाशित होती है । जीव की नित्यता का सिद्धान्त भी उपनिषद् प्रतिपादित है । विशिष्टाद्वैत ने आत्मा में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व स्वीकार किया है । क्योंकि यह सिद्धान्त प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध एवं शास्त्रानुमोदित है । आत्मा इन्द्रियों और मन को कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है । अत: वह कर्ता है और किये हुये कर्म का फल मृत्युलोक में भोगता है ।

विशिष्टाद्वैतसम्मत जीव ब्रह्मैक्यवाद - परमतखण्डन पुरस्सर सिद्धान्त पक्ष की स्थापना करते हुये व्यक्त किया है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार अविद्योपच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है । वह सब शरीरों में एक है । परन्तु इस मत का खण्डन करते हुये विशिष्टाद्वैत में निराकरण किया गया

है कि जीव स्वत: वास्तविक तत्व है । जीव की सत्ता उसके चेतनत्व, ज्ञान, स्मरण शक्ति एवं इच्छा शक्ति से प्रत्यक्ष सिद्ध है । जीव अनादि है क्योंकि वह पूर्वजन्म - कृत कर्मों के अनुसार जन्म लेता है, एवं सुख-दु:ख भोगता है । इस पक्ष का समर्थन उपनिषदों में भी किया गया है । बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म को जीव का अन्तर्यामी एवं नियन्ता कहा गया है । अत: ब्रह्म और जीव एक नहीं हो सकते ।

प्रमुख प्रस्थान सम्मत आत्मवाद निरूपण में हमने मुख्य रूप से - न्याय दर्शन में आत्मा, वैशेषिक दर्शन में आत्मा, सांख्य दर्शन में आत्मा, अद्वैत वेदान्त में आत्मा - को उद्धृत किया है । आचार्य शंकर ने अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया है । ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और आत्मा ब्रह्म का ही रूप है । आत्मा और ब्रह्म द्वैत नहीं हैं । अद्वैत दर्शन के आत्मा या ब्रह्म सम्बन्धी विचार उपनिषदों पर आधारित हैं । आत्मा और ब्रह्म में अभेद है । परन्तु इस अद्वैत मत का खण्डन करते हुये विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की गयी है । जिसके प्रमुख आचार्य श्री रामानुज ने ब्रह्म को चित् और अचित् से विशिष्ट माना है । अत: इसी सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है ।

आचार्य रामानुज जीवों की अनेकता के समर्थक हैं । मुक्तावस्था में भी जीवों में भिन्नता बनी रहती है । मुक्त जीवों में गुणात्मक भेद तो नहीं पर संख्यात्मक भेद अवश्य है । जीवात्मा अनन्त हैं ।

इन जीवों की गणना तीन प्रकारों में की गयी है -- बद्धजीव, मुक्त जीव, नित्य जीव । बद्ध जीव वे चेतन विशेष हैं जिनका संसार

अनुवर्तित होता रहता है । ये जीव चौदह भुवनात्मक अण्डकटाह के अन्तर्गत निवास करते हैं । ऐसे जीवों में ब्रह्म से लेकर कीट पर्यन्त तक सभी आते हैं । बद्धजीवों की स्थिति इस प्रकार है कि जिनका प्रकृति से संसर्ग बना हुआ है, प्रकृति से सम्बन्ध होने पर ही जीव संसार में संसरण करते हैं ।

मुक्त जीव वे हैं जो प्रपत्ति नामक उपाय अर्थात् शरणागति को स्वीकार करने के पश्चात् नित्य नैमित्तिक कर्मों को भगवान् की आज्ञा एवं अनुज्ञा का कैंकर्यरूप कर्मों का स्वयंप्रयोजन रूप से अनुष्ठान करते हुये तथा भगवदापचार, भागवतापचार का परित्याग करते हुये देहपात के समय अपने पाप एवं पुण्यों को क्रमश: शत्रुओं तथा मित्रों को प्रदान कर देते हैं । तथा परमात्मा में लीन होकर मुक्ति के द्वारभूत सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके, उसके द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से निकलकर जीव हृदयस्थ परमात्मा के साथ सूर्य किरणों के द्वारा अग्नि लोक में जाते हैं,यह मुक्त जीवों की स्थिति है ।

नित्य जीव वे हैं जो कभी भी भागवान् के विरुद्ध आचरण करते ही नहीं - अर्थात् वे सदा ऐसा आचरण करते हैं कि जो भगवान् के मनोनुकूल होते हैं । नित्य जीवों के ज्ञान का संकोच और विकास होता ही नहीं है । ऐसे जीव अनन्त, गरुड़ एवं विश्वक्सेन आदि हैं ।

आचार्य वेदान्त देशिक ने `तत्व मुक्ता कलाप` के `जीवसर` में इन जीवों को दो प्रकार से विश्लेषित किया है -- निषेधात्मक एवं सकारात्मक ।

सप्तम अध्याय में भारतीय दर्शन के बहु आयामी एवं महत्वपूर्ण वाद ईश्वर के सम्बन्ध में विचार करते हुये हमने उसके लक्षण तथा उपादान निमित्तादि का सप्रमाण निरूपण किया है। प्रसंगत: अद्वैत वेदान्त के महनीय एवं विशिष्ट मत का भी प्रमाण पुरस्सर उल्लेख किया है। वस्तुत: विशिष्टाद्वैत के चिन्तकों ने नारायण के स्वरूप पर विचार करके भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भक्ति दर्शन की एक अभंग तरंग उत्पन्न की है, उसको सप्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। उसमें प्राप्त निष्कर्षों को एवं अन्य विचारणीय बिंदुओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

विशिष्टाद्वैत ने सविशेष ब्रह्म का सिद्धान्त स्वीकार किया है, जिसके अनुसार ईश्वर अप्राकृत विग्रहवान् है एवं अपने दिव्य गुणों और नित्य विभूतियों से सम्पन्न हैं। ईश्वर का विग्रह शुद्ध सात्विक एवं निज इच्छा निर्मित है।

वेदान्त देशिक ने ईश्वर का लक्षण करते हुये कहा है कि जो सब पर शासन करते हुये चेतन् सबसे अतिशय अर्थात् लीला रस और भोग रस आदि का लाभ प्राप्त करने वाले तथा सबका यथा इच्छित विनियोग करते हुये समस्त कर्मों से समाराध्य एवं सर्वफल प्रदाता सबके आधार स्वरूप एवं सभी कार्यों के उत्पादक हों, ऐसे जो अपना धर्म भूत ज्ञान तथा स्वरूप को छोड़कर, अन्य सम्पूर्ण द्रव्य रूपी शरीरों में आत्मा के रूप में स्थित रहने वाले तत्व को ईश्वर कहते हैं।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने ईश्वर को दो प्रकार के लक्षणों को उद्धृत करते हुये, स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण के रूप में किया है।

तत्वत्रय सम्मत ईश्वर के लक्षण को निरूपित करते हुये बताया गया है कि परमात्मा में सभी त्याज्य प्राकृत गुणों का अभाव होने के कारण

ईश्वर अखिल हेय प्रत्यनीक कहे जाते हैं । ईश्वर असीम करुणामय, भक्तवत्सल तथा कोटि काम कमनीय हैं । आचार्य रामानुज से मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि वेदान्तियों के ईश्वर सिद्धान्त सम्बन्धी तुलनात्मक विचार भी प्रस्तुत किया गया है ।

विशिष्टाद्वैत का सगुण साकार ब्रह्म ऐसा सर्वोत्कृष्ट परतत्व है, जिसके प्रति मानव सहज ही आकृष्ट हो जाताहै और उसकी श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक उपासना कर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है । अत: जहां शंकराचार्य का निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म तर्क पर आधारित है वहां आचार्य रामानुज का सविशेषब्रह्म परमसत्ता के गहन अन्तर्मन का परिणाम है । ईश्वर उपादान एवं निमित्त कारण दोनों है, वेदान्त की मुख्य समस्या यह है कि इसने उपनिषदों के एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से समस्त मृण्मय विज्ञान के दृष्टान्त के आधार पर नित्य, शुद्ध एवं निर्विकार ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण स्वीकार किया है । अत: ब्रह्म का जगत् के रूप में उपादान कारणत्व उसके स्वरूप में विकार स्वीकार किये बिना ही सिद्ध करना सभी वेदान्त सम्प्रदायों का उद्देश्य है । इस विषय में तीन सिद्धान्त प्रमुख हैं --

ब्रह्म परिणामवाद, ब्रह्म विवर्तवाद, परिष्कृत ब्रह्म परिमाणवाद ।

आचार्य वेदान्तदेशिक ने यादव प्रकाश एवं भास्कर के ब्रह्म परिणामवाद का और अद्वैत के विवर्तवाद का युक्तिपूर्वक निरास करके विशिष्टाद्वैतवाद के सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म की शास्त्रमूलक प्रामाणिकता एवं तार्किक उपादेयता प्रदर्शित की है ।

वस्तुत: ब्रह्म को ही जगत् का - अभिन्ननिमित्तोपादानकारण बतलाया गया है । सूक्ष्म चिद्‌चिद्वस्तु शरीरक रूप से ब्रह्म जगत् का उपादानकारण

होता है । ब्रह्म की सूक्ष्म चिद्चिद् वस्तु शरीरकता ही ब्रह्म की अविभक्त नामरूपत्वावस्था है । वह सूक्ष्म चिद्चिद्वस्तु शरीरक ब्रह्म संकल्प विशिष्टरूप से जगत् का निमित्तकारण होता है । वह ब्रह्म ही जब काल आदि का अन्तर्यामी बनकर जगत् रूपी कार्य के प्रति सहायक बनता है तो सहकारी कारण होता है ।

अद्वैतवेदान्त में एक मात्र ब्रह्म को ही मान्यता है । आत्मा ही ब्रह्म है । ब्रह्म सगुण तथा निर्गुण भेद से द्विविध है । अद्वैत वेदान्त में अध्यारोप, अपवाद, विवर्त, आवरण एवं विक्षेप आदि अज्ञान शक्तियों के द्वारा ब्रह्म की स्थिति की समीक्षा की गयी है ।

विशिष्टाद्वैत मत में नारायण स्वरूप का विशेष महत्व बताते हुये निरूपित किया गया है कि भगवान् श्रीमन्नारायण ही सम्पूर्ण जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं । अपरिच्छिन्न स्वरूप वाले नारायण ही विश्वरूप लेकर विराजमान् हैं । ऋषिगण, पितृगण, आकाश-आदि पञ्चमहाभूत उनसे होने वाले रक्त, मांस, मज्जा, आदि सप्त धातु, स्थावर, जंगम आदि सम्पूर्ण जगत् नारायण से उत्पन्न हुये हैं । महाभारत के इन वचनों से नारायण परमतत्व एवं परब्रह्म सिद्ध होते हैं । विष्णु पुराण सर्वमान्य पुराण है । उसकी प्रामाणिकता में किसी को संदेह नहीं है । उस विष्णु पुराण के उपक्रम और उपसंहार से सिद्ध होता है कि श्री विष्णु ही जाति के कारण एवं परं तत्व हैं ।

अष्टम अध्याय में अद्रव्य का निरूपण करते हुये विशिष्टाद्वैत सम्मत मत का प्रमाणपुरस्सर विवेचन किया गया है ।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में द्रव्य एवं अद्रव्य केन्द्रबिन्दु हैं । द्रव्य और अद्रव्य परस्पर भिन्न होते हुये अपृथक् सिद्ध हैं । द्रव्य और अद्रव्य

का सिद्धान्त विशाल है, क्योंकि यह केवल भौतिक पदार्थों पर ही लागू न होकर, जीव, जगत् एवं ईश्वर पर भी घटित होता है। ईश्वर एक विशिष्ट द्रव्य है। जीव चित् एवं जगत् अचित् उसके अंश एवं विशेषण होनेके कारण अद्रव्य हैं।

अद्रव्य सत्व, रजस् एवं तमो गुण के रूप में विश्व के प्रत्येक पदार्थ में अनुस्यूत है। अद्रव्य ज्ञान का विषय है, सर्वत्र सब द्रव्यों में विद्यमान है। विश्व रूप अद्रव्य परमात्मा का विशेषण है। वेदान्त देशिक के अनुसार द्रव्य अवस्था से युक्त है अद्रव्य अवस्था से रहित है अनुपादानत्व अद्रव्य का लक्षण है।

न्याय सिद्धाञ्जन के अनुसार जो पदार्थ संयोग से रहित हो - अर्थात् जिसमें किसी दूसरे का संयोग नहीं होता तथा जो दूसरे में संयुक्त नहीं होता वह अद्रव्य है।

विशिष्टाद्वैत में द्रव्य और अद्रव्य अपृथक् सिद्ध होते हुये भी भिन्न हैं।

वेदान्तकारिकावली एवं यतीन्द्रमतदीपिका के अनुसार अद्रव्य का लक्षण इस प्रकार से किया गया है कि जो पदार्थ संयोग से रहित होता है उसे अद्रव्य कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में अद्रव्य की सत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, अत: अद्रव्य की सत्ता अनुभवगम्य है।

शून्यवादी बौद्ध आदि मतों का खण्डन करते हुये वेदान्त देशिक ने उद्धृत किया है कि धर्म-धर्मी भाव के विना लोक व्यवहार से विरोध होगा, अतएव अद्रव्य की सत्ता निर्विवाद सिद्ध है।

विशिष्टाद्वैत में अद्रव्यों की संख्या दस मानी गयी है --

सत्व, रजस्, तमस्, शव्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शक्ति एवं संयोग ।

न्याय वैशेषिक के द्रव्यों, गुणों, कर्मो, सामान्यों एवं समवाय, अभाव को विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में छ: द्रव्यों तथा दस अद्रव्यों में सम्मिलित करके परार्थ विभाग को अधिक उपयुक्त एवं प्रामाणिक बना दिया है ।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त द्वारा स्वीकृत दस गुणों मेंसे सत्व, रजस् एवं तम विशेष महत्व पूर्ण हैं। इसमें सत्व गुण को दो भेदों में विभाजित किया गया है -- शुद्ध सत्व, मिश्र सत्व ।

सत्व, रजस्, तमस् सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त हैं, इन सबों का प्रकृतिवश्य अर्थात् सांसारिक पुरुष से सम्बन्ध क्या रहता है, तथा ये तीनों अनित्य हैं, किन्तु इनका सन्तान धारा के समान सदा प्रवाहित होता रहता है । इन तीनों अद्रव्यों में से सृष्टि में रजोगुण उपयुक्त होता है, स्थितकाल में सत्वगुण, तथा तमोगुण संहार काल में उपयुक्त होता है । सत्व, रजस्, तमस् के अद्रव्यत्व का स्पष्टीकरण श्रीभाष्य के माध्यम से किया गया है ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का भी परिचयात्मक विवरण दिया गया है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में - `विशिष्टाद्वैतसम्मत प्रमेय मीमांसा` -- एक विनम्र प्रयास है । अल्पज्ञान एवं मतिभ्रमजन्य दोष के लिए क्षमा-याचना करता हुवा इसका समापन करता हूं ।

0

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

आधार-ग्रन्थ

रामानुजाचार्य -- श्रीभाष्य - 2 खण्ड, नई दिल्ली, शिक्षा मंत्रालय, 1972.

लोकाचार्य -- तत्वत्रय, नई दिल्ली, मुंशीराम मनोहरलाल, 1973.

वेदान्त देशिक -- तत्वमुक्ताकलाप, कलकत्ता, गोविंद बाबू, 1973.

,, ,, -- न्यायपरिशुद्धि, वाराणसी, चौखम्बा, 1948.

,, ,, -- न्यायसिद्धाञ्जनम्, वाराणसी, संस्कृत विश्वविद्यालय, 1966.

वुच्चिवेंकटाचार्य -- वेदान्तकारिकावली, अड्यार लाईब्रेरी, 1950.

श्रीनिवासाचार्य -- यतीन्द्रमतदीपिका, पूना, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 1977.

शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य) -- यतीन्द्रमतदीपिका (भाग प्रकाशिका -टीका), वाराणसी, चौखम्बा, सुरभारती प्रकाशन, 1989.

सहायक ग्रन्थ

संस्कृत ग्रन्थ --

अनन्त श्री त्रिदण्डी - वेदान्त रामानुजाचार्य जी महाराज -- रहस्यत्रयसार संग्रह, वेदान्तदेशिक सेवा संघ त्रिदण्डी मठ, दारागंज, प्रयाग-इलाहाबाद, सं० 2005.

अनन्ताचार्य -- प्रपन्नामृत, राजस्थान, सोमानी परिषद्, 1966.

अन्नम्भट्ट -- तर्कसंग्रह, पूना, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, 1974.

,, -- ईशादिविंशोत्तर शतोपनिषद् -- बम्बई, निर्णय सागर प्रेस, 1948.

आचार्य आनन्द झा -- तर्कसंग्रह, कामेश्वर, दरभंगा, कामेश्वर सिंह विश्वविद्यालय, 1984.

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि -- तर्कभाषा (तर्करहस्यदीपिका), वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, सं0 1982.

आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य) -- तत्वमुक्ताकलाप (बुद्धिसर, नायकसर, सर्वार्थसिद्धिवृत्ति) -- अयोध्या, तत्वमुक्ताकलाप प्रकाशन, सं0 2040.

आचार्य श्री वेदान्तदेशिक -- श्रीमद्रहस्यत्रयसार (न्यास विंशति, न्यासतिलक न्यास दशक) - प्रयाग, वेदान्त देशिक सेवा संघ, सं0 2024.

ईश्वर कृष्ण -- सांख्यकारिका, दिल्ली, इन्डोलोजिकल, 1978.

कणाद -- वैशेषिकसूत्र, दिल्ली, एम0 एन0 पब्लिकेशन्स, 1986.

केशव मिश्र -- तर्कभाषा - वाराणसी, चौखम्बा, 1979.

गजानन शास्त्री मुसलगांवकर -- न्यायसिद्धान्त मुक्तावली (बाल प्रिया हिन्दी व्याख्योपेता), वाराणसी, चौखम्बा, सुरभारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1984.

गजानन शास्त्री मुसलगांवकर -- सांख्यतत्वकौमुदी - तत्वप्रकाशिका हिन्दी (व्याख्या) - वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, द्वितीय सं0 1979.

गोपालदास -- वैष्णव धर्म रत्नाकर, बम्बई, गंगा विष्णु, श्रीकृष्णदास लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, 1867.

चन्द्रधारी सिंह -- कारिकावली (सिद्धान्त मुक्तावली) सम्वलिता, दिल्ली, भारतीय बुक कार्पोरेशन, 1990.

जयदेव -- गीत गोविंद, हैदराबाद, संस्कृत अकादमी, 1969.

निम्बार्काचार्य (ललित कृष्ण गोस्वामी) हिन्दी व्याख्या, खण्ड 1,2 -- श्रीभाष्य, प्रयाग, निम्बार्क पीठ, 12 महाजनी टोला, वि0 सं0 2030.

पतञ्जलि -- योगसूत्र, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1914.

,, -- पद्मपुराण, कलकत्ता, मनसुखराय मोर, 1956.

बृजमोहन चतुर्वेदी -- सांख्यकारिका (अनुराधा - वसुमती व्याख्या), दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1969.

बादरायण व्यास -- ब्रह्मसूत्र, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1977.

,, ,, -- भगवद्गीता, गोरखपुर, गीता प्रेस, 1956.

,, ,, -- भागवतपुराणम्, गोरखपुर, गीता प्रेस, 1951.

,, ,, -- विष्णुपुराणम् -- गोरखपुर, गीता प्रेस, 1950.

बादरायण व्यास (सम्पादक - आनन्दस्वरूप गुप्त) -- कूर्म पुराणम् (पाठ समीक्षात्मक संस्करणम्) -- वाराणसी, सर्वभारती काशीराज न्यास, वि० सं० 2028.

भारद्वाज -- विष्णुवैभवम्, नई दिल्ली, पीताम्बर बुक डिपो, 1977.

मनु -- मनुस्मृति, वाराणसी, चौखम्बा, 1970.

माधवाचार्य -- सर्वदर्शनसंग्रह, वाराणसी, चौखम्बा, 1984.

माधवाचार्य -- मुण्डकोपनिषद् -- मद्रास, रामकृष्ण मठ, 1960.

महर्षि पतञ्जलि -- पातञ्जलयोगदर्शनम् (वाचस्पति मिश्र विरचित - तत्वकौमुदी (विज्ञान भिक्षुकृत योगवार्तिक) विभूषित व्यासभाष्यसमेतम् -- दिल्ली, भारतीय विद्या प्रकाशन, वि०सं० 1987.

महामण्डलेश्वर स्वामी शुकदेवानन्द सरस्वती -- परमार्थ पथ, हरिद्वार, देवीसम्पद० मंडल परमार्थ निकेतन, सं० 2006.

यामुनाचार्य -- वरदवल्लभस्तोत्रम् आलवन्दारस्तोत्रञ्च , वाराणसी, चौखम्बा, 1975.

रंगरामानुजाचार्य -- तैत्तरीयोपनिषद् - छान्दोग्योपनिषद् भाष्य-टीका, मद्रास, सुन्दरम् चैरिटीय, 1973.

राज सरदाना -- नारायण भट्ट कृत मानमेयोदयम् में निरूपित प्रमेय प्रकरण का विवेचन, दिल्ली, 1977.

रमाशंकर भट्टाचार्य -- सांख्यसूत्रम् (टीका) -- दिल्ली, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, 1977.

रामानुजाचार्य -- गद्यत्रय, बम्बई, वेंकटेशदेवस्थान, 1960.

,, -- वेदान्ततत्वसार - वाराणसी, चौखम्बा, 1948.

,, -- वेदार्थसंग्रह - मैसूर, रामकृष्ण आश्रम, 1978.

,, -- श्रीभाष्य, चतुःसूत्री -- अयोध्या, तत्वमुक्ताकलाप संघ, 1980.

,, -- श्रीभाष्य (श्रुतिप्रकाशिकायुतम्), दिल्ली, भारतीय विद्या प्रकाशन, 1983.

रामानुजाचार्य (एम० डी०) -- अहिर्बुध्न्यसंहिता - मद्रास, आड्यार लाईब्रेरी रिसर्च सेन्टर, 1966.

लोकाचार्य -- अर्थपञ्चक -- इन्दौर, भारती पब्लिकेशनस, 1972.

वाल्मीकि -- रामायण (खण्ड 2) -- गोरखपुर, गीता प्रेस, 1976.

व्यास -- महाभारत (खण्ड 4) - गोरखपुर, गीता प्रेस, 1942.

वेदान्तदेशिक -- अधिकरण सारावली, मद्रास, श्रीनिलयम्, 1974.

,, -- ईशावास्योपनिषद् भाष्य - मद्रास, वेदान्तदेशिक रिसर्च सोसायटी, 1973.

,, -- तत्वमुक्ताकलाप, 2 खण्ड, अयोध्या, तत्वमुक्ताकलाप संघ, 1983.

वेदान्तदेशिक -- न्यायपरिशुद्धि -- वाराणसी, चौखम्बा, 1948.

,, -- संकल्पसूर्योदय, मद्रास, वेदान्तदेशिक रिसर्च सोसायटी, 1975.

,, -- सेश्वरमीमांसा - दिल्ली, एस0 एन0 पब्लिकेशन, 1981.

सत्यनारायण श्रीवास्तव्य -- वेदान्तसार (तत्वपारिजातस्य) हिन्दी व्याख्या, इलाहाबाद, पीयूष प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 1983.

सातवलेकर - सम्पादक - यजुर्वेद संहिता, पारडी, स्वाध्याय मण्डल, 1983.

सायण -- ऋग्वेदभाष्यभूमिका -- पांडिचेरी, अरविंद आश्रम, 1952.

सायण भाष्य -- अथर्ववेदसंहिता (4 खण्ड) -- होशियारपुर, विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान, 1960.

,, ,, -- ऋग्वेदसंहिता - पूना, वैदिक संशोधन मंडल, 1933.

हिन्दी ग्रन्थ

वरुण (सरनामसिंह शर्मा) -- विशिष्टाद्वैत भक्ति दर्शन, दिल्ली, कृष्ण ब्रदर्स, 1954.

उपाध्याय (बलदेव) -- भागवत सम्प्रदाय - काशी, हिन्दी विश्वविद्यालय, 1953.

,, -- भारतीय दर्शन, वाराणसी, शारदा मन्दिर, 1957.

,, -- वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त, वाराणसी, चौखम्बा, 1958.

दासगुप्ता (एस0 एन0) -- भारतीय दर्शन का इतिहास - जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972.

भण्डारकर (आर0 जी0) -- वैष्णव शैव और अन्य धार्मिक मत, दिल्ली, भारतीय विद्या प्रकाशन, 1983.

रमाशंकर शर्मा -- भारतीय दार्शनिक निबन्ध, भोपाल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1983.

राज किशोर सिंह -- भारतीय दर्शन, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, 1984.

राजबीर शास्त्री -- दयानन्द दर्शन में जीव, जीवात्म ज्योति विशेषांक, 1981.

राम प्रकाश दास -- कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र के अनुसार प्रमेयों का तुलनात्मक अध्ययन, दिल्ली, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1985.

विशाल प्रसाद त्रिपाठी, प्रत्यभिज्ञा दर्शन और माया, दिल्ली, पेनमेन पब्लिशर्स, 1990, प्र0 संस्करण.

सर्वानन्द पाठक -- चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, वि0 सं0 1990.

हिरियन्ना (एम0) -- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, दिल्ली, राजकमल, 1969

,, -- भारतीय दर्शन के मूलतत्व, इलाहाबाद, सेंट्रल बुक डिपो, 1969.

ENGLISH BOOKS :

Bharadwaj, K.D. -- The Philosophy of Ramanuja, Sir Shankar Lal Charitable Trust, New Delhi, Ist Ed., 1958.

Devraja, N.K. -- An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge, Varanasi, 1972.

Singh, Dr. Satyavrat -- Vedantadesika - A Study, Chowkhambha Vidya Bhavan, Varanasi, 1958.

Vara, K.C. -- Ramanuja's Theory of Knowledge.

Vidyarthi, B.P. -- Knowledge, Self and Good in Ramanuja.

. . .